RNI-UPBIL/2011/38102

ISSN-2231-5837
DOI - REF. No. IIJIF241001

Indian Journal of Social Concerns

इण्डियन जर्नल ऑफ सोशल कन्सर्न्स

Volume -15 Issue -74 Sep. - Oct. 2026 Ghaziabad

(कला–मानविकी–समाजविज्ञान–जनसंचार–विधि–वाणिज्य–विज्ञान, वैचारिकी की अंतरराष्ट्रीय द्विमासिक शोध पत्रिका)

A RESEARCH JOURNAL OF HUMANITIES AND SOCIAL SCIENCES

(An International Peer-Reviewed & Refereed Journal)

Journal Impact Factor No. : 8.01

Editor
Dr. RAJ NARAYAN SHUKHLA

Asstt. Editor
Dr. MUKTA SONI

Art Editor
Dr. MANISHA VERMA

Legal Advisor
Dr. JASWANT SAINI
SHRI BHAGWAN VERMA

Office Assistant
JITENDER GIRDHAR

Editor in Chief
Dr. HARI SHARAN VERMA

Sub Editor
Dr. PUSHPA
Dr. BEENA PANDEY (SHUKLA)

Managing Editor
Dr. SANGEETA VERMA

Joint Editor
Dr. PRIYANKA SINGH
Dr. SUBHASH SAINI

Computer Operator
MS. NEHA VERMA

- The responsibility of the originality of the articles/papers shall be of the author.
- The editor does not owe any kind of responsibility in this regard



Dr. Hari Sharan Verma
D.Litt
Editor in Chief



Dr. Raj Narayan Shukhla
Editor



Dr. Sangeeta Verma
Managing Editor

नोटः 1. प्रकाशित आलेखों के विचारों से सम्पादक मण्डल का सहमत होना आवश्यक नहीं है।
2. सभी पद मानद एवं अवैतनिक हैं।
3. शोध–पत्रिका से सम्बन्धित सभी विवाद केवल गाजियाबाद/फरीदाबाद न्यायालय के अधीन होंगे।

**मानविकी शोध पीठ प्रारम्भ सोसायटी,
गाज़ियाबाद द्वारा संचालित**

प्रकाशक : डॉ० राजनारायण शुक्ला, सम्पादक
SH, A-5, कविनगर, गाजियाबाद (उ० प्र०)
दूरभाष : 9910777969
E-mail : *harisharanverma1@gmail.com*
WWW.IJSCJOURNAL.COM
सहयोग राशि (भारत में)
(व्यक्तिगत) (आजीवन 5100 रुपये)
(संस्थागत) (आजीवन 7100 रुपये)

कृपया सहयोग राशि बैंक ड्राफ्ट से ही भेजें।
बैंक ड्राफ्ट, संपादक "इण्डियन जर्नल ऑफ सोशन कन्सर्न्स" के पक्ष में देय होगा। आजीवन सदस्यता केवल दस वर्षों के लिए मान्य होगी। यदि किसी कारणवश पत्रिका का प्रकाशन बन्द हो जाता है तो आजीवन सदस्यता स्वतः ही समाप्त हो जायेगी।

संपादकीय कार्यालय :

1. **डॉ० हरिशरण वर्मा, प्रधान सम्पादक**
F-120, सेक्टर–10, DLF, फरीदाबाद (हरियाणा)121006
harisharanverma1@gmail.com 09355676460
WWW.IJSCJOURNAL.COM
2. **डॉ० राजनारायण शुक्ला, सम्पादक**
SH, A-5, कविनगर, गाजियाबाद (उ०प्र०)

क्षेत्रीय सम्पादक

1. डॉ० वाई.आर. शर्मा, A-24, रेजिडेंसल कैम्पस, न्यू कैम्पस, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू–180001, फोन : 09419145967
2. डॉ0 आरती लोकेश P. o. Box 99846, Dubai, UAE 97150-4270752
3. डॉ0 ऊषा रानी, हिन्दी–विभाग हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला
4. श्री मोहनलाल, 11 अशोक विहार, संजय नगर, पो. इज्जत नगर बरेली (उ०प्र०) फोन : 09456045552
5. श्री जितेन्द्र गिरधर, कार्यालय सहायक 105/26 जवाहर नगर,कॉपरेटिव बैंक के पीछे, रोहतक 09896126686
6. **Dr. Vimla Devi,** Asst. Professor (History) M.B.G.P.G College Haldwani Nainital (Uttrakhand) G-mail address. drvimla2015@gmail
7. डॉ0 प्रिया कपूर, सहायक प्रोफेसर, डी0 ए0 वी शताब्दी कालेज, फरीदाबाद मौ0 9711196954
8. डॉ0 राजपाल, सहायक प्रो0 राजकिय स्नातकोत्रर महाविद्यालय,हिसार
9. डॉ0 प्रवेश कुमारी, सहायक प्रो0 (हिन्दी –विभाग), बाबा मस्तराथ, विश्वविद्यालय, रोहतक, (हरियाणा)

संरक्षक मण्डल :

1. **प्रो0 डॉ0 चक्रधार त्रिपाठी** पूर्व **कुलपति,** उड़ीसा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, कोरापुट, 763004, चलभाषाः 9437568809
2. **डॉ0 दिनेश मणी त्रिपाठी**, प्रधानाचार्य एन0 पी0 के0 आई कालेज, सरदार नगर बसडीला (गोरखपुर) उ0प्र0
3. **डॉ० नरेश मिश्रा** (पूर्व आचार्य, हिन्दी विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय. रोहतक)
4. **डॉ० वाई.आर.शर्मा,** (राजनीति शास्त्र विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू)
5. **डॉ0 सुंधांशु कुमार शुक्ल** पूर्व चेयर हिन्दी, आई. सी. सी. वार्सा विश्वविद्यालय, वार्सा (पोलैन्ड) मौ0 48579125129
6. **डॉ0 तपन कुमार शण्डिल्य,**पूर्व **कुलपति,** डॉ0 श्यामा प्रसाद मुखर्जी विश्वविद्यालय राँची, (झारखण्ड) 9431049871
7. **डॉ0 जंगबहादुर पाण्डेय** (पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग) रांची विश्वविद्यालय, रांची – 834008
फोन : 09431595318
8. Sh. Butta Singh gill, PPS, Dy Superintendent of Police. No 409 ,Street no 7 Ghuman Nagar , Sarhind Road, Patiala Punjab -147001.

परामर्शदात्री समिति :

1. **डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल** (पूर्व रीडर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, वर्धमान कॉलेज, बिजनौर)
2. **डॉ० राजकुमारी सिंह,** प्रोफेसर एफ.टी.एम. विश्वविद्यालय लोधीपुर राजपूत मुरादाबाद, उत्तर प्रदेश 9760187147
3. **डॉ० माया मलिक,**पूर्वप्रोफेसर हिन्दी विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक
4. **डॉ० ममता सिहल,** (प्रोफेसर एवं अध्यक्षा अंग्रेजी विभाग) जे०वी० जैन कॉलेज सहारनपुर

संपादकीय विशेषज्ञ समिति :
हिन्दी विभाग:

1. **डॉ० राजेश पाण्डे** (डी.वी. कॉलेज, उरई, जिला जालौन, उ०प्र०)
2. **डॉ0 के0डी0 शर्मा,** पूर्व एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, गोस्वामी गणेशदत्त, सनातन धर्म स्नातकोत्तर महाविद्यालय, पलवल
3. **डॉ० सुशील कुमार शर्मा** (अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय शिलांग, मेघालय)
4. **डॉ० शशि मंगला,** पूर्व एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्षा, हिन्दी विभाग, गोस्वामी गणेशदत्त सनातन धर्म स्नातकोत्तर महाविद्यालय, पलवल
7. **मुकेश चन्द्र गुप्ता** (हिन्दी विभाग, एम.एच.पी.जी. कॉलेज, मुरादाबाद)
8. **डॉ० गीता पाण्डेय** (रीडर एवं अध्यक्षा, हिन्दी विभाग, एस.डी.

9. **डॉ0 प्रवीण कुमार वर्मा**(पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग) गोस्वामी गणेशदत्त सनातन धर्म महाविद्यालय, पलवल

10. **प्रो. प्रणव शास्त्री,** प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष–हिन्दी विभाग, उपाधि महाविद्यालय, पीलीभीत – 262 001 उ. प्र. मो.98379 60530 drpranav&pbt23@rediffmail-com

11. **डॉ० रूबी,** (सीनियर सहायक प्रोफेसर हिन्दी विभाग कश्मीर

12. **डॉ0 सुमन राठी,** सहायक प्रो0 हिन्दी विभाग, मस्तनाथ विश्वविद्यालय, अस्थल बोहर रोहतक

13. **डॉ0 सुमन रानी**, सहायक प्रोफेसर, अस्थाई, हिन्दी विभाग, गोस्वामी गणेषदत्त सनातन धर्म महाविद्यालय पलवल हरियाणा मौ0 9050289680

14. **डॉ० एम. के. कलशेट्टी,** हिन्दी विभाग, श्री माधवराव पाटिल महाविद्यालय, मुरूम तह० अमरगा, जिला उस्मानाबाद (महाराष्ट्र)–413605

15. **डॉ० मनोज पंड्या,** व्याख्याता हिन्दी विभाग, श्री गोविन्द गुरु, राजस्थान महाविद्यालय, बांसवाड़ा–327001, मो० 09414308404

16. **डॉ. कृष्णा जून,** प्रो० हिन्दी विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक

17. **डॉ. विपिन गुप्ता,** सहायक प्रोफेसर, वैश्य कॉलेज भिवानी

18. **डॉ0 सुनीता जसवाल,** अ सिस्टेंट प्राफेसेर – हन्दि विभाग, हमचिल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला (हिमाचल प्रदेश) मो. 7018621542

19. **डॉ० जाहिदा जबीन,** (प्रो0 एवं अध्यक्षा, हिन्दी विभाग कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर–६)

20. **डॉ० टी०डी० दिनकर,** पूर्व प्रो0 एवं अध्यक्षा, हिन्दी विभाग अग्रवाल कॉलेज, बल्लभगढ़)

21. **डॉ० सुभाष सैनी,** (सहायक प्रोफेसर हिन्दी विभाग दयालसिंह कॉलेज, करनाल, हरियाणा

22. **डॉ० उर्विजा शर्मा,** (सहायक प्रोफेसर हिन्दी विभाग शम्भु दयाल स्नातकोत्तर, महाविद्यालय, गाजियाबाद

23. **डॉ0 ममता कुमारी,** सहायक प्रो0, डी0 ए0वी0 शताब्दी महाविद्यालय, फरीदाबाद हरियाणा

24. **डॉ० मधुकान्त,** (वरिष्ठ साहित्यकार) 211- L मॉडल टाऊन, रोहतक

25. **डॉ.सुनीता सिंह प्रोफेसर**, हिन्दी मानविकी संकाय, ओम स्टर्लिंग ग्लोबल विश्वविद्यालय, हिसार (हरियाणा) 125001

26. **डॉ0 राजपाल ,** सहायक प्रो0 राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, हिसार

अंग्रेजी विभाग:

1. **डॉ. ममता सिहल, अध्यक्षा,** अंग्रेजी विभाग, जे.वी. जैन कॉलिज, सहारनपुर, उ.प्र.
2. **डॉ0 जे. के. शर्मा,** प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, बाबा मस्तनाथ विश्वविद्यालय, अस्थल बोहर, रोहतक
3. **डॉ. पी.के. शर्मा,** (प्रो., अंग्रेजी–विभाग, राजकीय के.आर.जी. स्नातकोत्तर महाविद्यालय, ग्वालियर)
4. **डॉ. गीता रानी शर्मा,** (सहायक प्रोफेसर) गो.ग.दत्त सनातन धर्म कॉलेज, पलवल
5. **डॉ. किरण शर्मा,** (एसोसिएट प्रोफेसर) राजकीय स्नातकोत्तर महिला महाविद्यालय रोहतक
6. **डॉ0 राजाराम,** सहायक प्रोफेसर (अंगेजी) ओम स्ट्रलिंग ग्लोबल, विष्वविद्यालय, हिसार (हरियाणा)

वाणिज्य विभाग: **Commerce & Management**

1. **डॉ० नवीन कुमार गर्ग** (वाणिज्य विभाग, शम्भुदयाल स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गाजियाबाद)
2. **डॉ० ए.के. जैन**पूर्वरीडर (वाणिज्य विभाग, जे.वी. जैन कॉलेज, सहारनपुर)
3. **डॉ० दिनेश जून,** एसोसिएट प्रोफेसर, वाणिज्य विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, फरीदाबाद
4. **डॉ० एम.एल. गुप्ता,** (पूर्व एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, वाणिज्य एवं व्यवसायिक प्रशासन संकाय, एस.एस.वी. स्नातकोत्तर महाविद्यालय, हापुड़ एवं संयोजक–शोध उपाधि समिति एवं संयोजक बोर्ड ऑफ स्टीडिज चौधरी चरणसिंह विश्वविद्यालय, मेरठ)
5. **डॉ. गीता गुप्ता,** (सहायक प्रोफेसर) वाणिज्य विभाग, वैश्य महिला महाविद्यालय, रोहतक)
6. **Dr,shaveta Kakkar** Associate professor in commerce Vaish Mahila Maha vidyalaya Rohtak
7. **Prof. (Dr.) Manisha Pandey** Dean- Faculty of Commerce and Management Shri Davara University, Raipur CG Mobile no 7898441198Email ID - mkkp1997@gmail.com

राजनीति शास्त्र विभाग:

1. **साकेत सिसोदिया,** (राजनीति शास्त्र विभाग, एस.डी. कॉलेज, गाजियाबाद)
2. **डॉ० रोचना मित्तल** (रीडर एवं अध्यक्षा, राजनीति शास्त्र–विभाग, शम्भु दयाल स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गाजियाबाद)
3. **डॉ० वाइं०आर० शमां,** एसो० प्रो०, राजनीति शास्त्र विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू (कश्मीर)
4. **डॉ. रेनू राणा,** (सहायक प्रोफेसर, राजनीति शास्त्र विभाग, पं. नेकीराम शर्मा राजकीय महाविद्यालय रोहतक 124001
5. **डॉ. ममता देवी,** (सहायक प्रोफेसर, राजनीतिक शास्त्र विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक

इतिहास विभाग:

1. **डॉ० भूकन सिंह** (प्रवक्ता, इतिहास विभाग, शम्भुदयाल स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गाजियाबाद)
2. **डॉ० मनीष सिन्हा,** पी.जी. विभाग, इतिहास, मगध विश्वविद्यालय बोधगया, बिहार–824231
3. **डॉ० राजीव जून,** सहायक प्रो० इतिहास, सी.आर इन्स्टीट्यूट ऑफ ला, रोहतक
4. **डॉ0 रश्मि,** (अध्यक्षा) इतिहास विभाग, हिन्दू कन्या महाविद्यालय, जीन्द (हरियाणा) पिन – 126102

भूगोल विभाग:

1. **डॉ0 प्रदीप कुमार शर्मा**, एसोसिएट प्रोफेसर, बाबा मस्तनाथ विश्वविद्यालय, अस्थल बोहर, रोहतक
2. **रश्मि गोयल** (भूगोल विभाग, एस.डी. कॉलेज, गाजियाबाद)
3. **डॉ० भूपेन्द्र सिंह,** एसोसिएट प्रोफेसर, भूगोल विभाग, राजकीय पी.जी. कॉलेज, हिसार
4. **डॉ० विनीत बाला,** सहायक प्रो. भूगोल विभाग, वैश्य पी.जी. कॉलेज, रोहतक

शिक्षा विभाग:

1. **डॉ० उमेन्द्र मलिक,** एसिस्टेंट प्रोफेसर, शिक्षा विभाग, म.द.वि. , रोहतक
2. **डॉ० मनोज रानी,** सहायक प्रोफेसर (अंग्रेजी) एम.एल.आर.एस. कॉलिज ऑफ एजुकेशन, चरखी दादरी (भिवानी)
3. **डॉ० राजकुमारी सिंह,** प्रोफेसर एफ.टी.एम. विश्वविद्यालय लोधीपुर , राजपूत, मुरादाबाद, उत्तर प्रदेश 9760187147
4. **डॉ० ममता देवी,** (सहा. प्रो. बी.आई.एम.टी. कॉलेज कमालपुर गढ़ रोड़, मेरठ)

गृह विज्ञान

1. **डॉ0 श्रीमती पंकज शर्मा,** (सहायक प्राफेसर), गृह विज्ञान (प्रसार शिक्षा) राजकिय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, रोहतक

शारीरिक शिक्षा विभाग:

1. **डॉ० सरिता चौधरी,** सहायक प्रोफेसर, शारीरिक शिक्षा विभाग, आर्य गर्ल्ज कॉलेज, अम्बाला कैंट, हरियाणा
2. **डॉ० सुनील डबास,** (पद्मश्री व द्रोणाचार्य अवार्ड) HOD in physical education"DGC Gurugram
3. **डॉ रामवीर सिंह,** एसोसिएट प्रोफेसर शारीरिक शिक्षा किशन लाल पब्लिक कॉलेज रेवाड़ी 123401 हरियाणा

समाज शास्त्र विभाग:

1. **प्रवीण कुमार** (समाजशास्त्र विभाग, शम्भुदयाल स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गाजियाबाद)
2. **डॉ० कमलेश भारद्वाज,** समाज शास्त्र विभाग, एस.डी. कॉलेज, गाजियाबाद

मनोविज्ञान विभाग:

1. **डॉ० चन्द्रशेखर,** सहायक प्रोफेसर साईक्लोजी विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू
2. **डॉ. रश्मि रावत,** (मनोविज्ञान विभाग, डी.ए.वी. कॉलेज, देहरादून)
3. **अनिल कुमार लाल** (प्रवक्ता, मनोविज्ञान विभाग, शम्भुदयाल स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गाजियाबाद)

अर्थशास्त्र विभाग:

1. **डॉ० सुशील कुमार** (एस.डी. कॉलेज, गाजियाबाद, उ०प्र०)
2. **डॉ० अखिलेश मिश्रा** (प्राध्यापक, अर्थशास्त्र–विभाग, एस.डी.पी. जी. कॉलेज, गाजियाबाद)
3. **Dr.Deepti,** Department of Economics, M.S.J. Govt. PG College, Bharatpur, Rajasthan -321001
   Email - deepti0980@rajasthan.in

विधि विभाग:

1. **डॉ० नरेश कुमार,** (प्रोफेसर, विधि–विभाग महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक
2. **डॉ० विमल जोशी,** (प्रोफेसर, विधि–विभाग भगत फूलसिंह महिला विश्वविद्यालय खानपर, सोनीपत)
3. **डॉ० जसवन्त सैनी,** (सहायक प्रोफेसर, विधि–विभाग महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक)
4. **डॉ० वेदपाल देशवाल,** (सहायक प्रोफेसर, विधि–विभाग महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक)
5. **डॉ० सत्यपाल सिंह,** (सहायक प्रोफेसर, विधि–विभाग महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक)
6. **डॉ० सोनू,** (सहायक प्रोफेसर, विधि–विभाग महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक)
7. **डॉ० अर्चना वशिष्ठ,** (सहायक प्रोफेसर, के०आर० मंगलम विश्वविद्यालय, सोहना रोड, गुरुग्राम)
8. **डॉ० आनन्द सिंह देशवाल,** (सहायक प्रोफेसर, सी०आर० कॉलेज ऑफ लॉ रोहतक)
9. **अनसुईया यादव,** (सहायक प्रोफेसर, विधि विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक, हरियाणा)

गणित विभाग:

1. **डॉ० विनोद कुमार,** रीडर एवं अध्यक्ष गणित विभाग, जे.वी. जैन कॉलेज, सहारनपुर
2. **डॉ० विरेश शर्मा,** लेक्चरार गणित विभाग, एन.ए.एस. कॉलेज, मेरठ
3. **डॉ0 सलौनी श्रीवास्तव** सहायक प्रो0, गणित विभाग आर0 बी0 एस0 कालेज आगरा
4. **Dr. Dhrub Kumar Singh.**HOD, Department of Mathematics, YBN University, Rajaulatu, Namkum, Ranchi, Jharkhand, India. Pin-834010
5. **डॉ रश्मि मिश्रा** प्रोफेसर (एप्लाइड साइंस एंड हमनीटीएस), मैथमेटिक्स गनेशी लाल बजाज इंस्टिट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी एंड मैनेजमेंट ग्रेटर नॉएडा

कम्प्यूटर विभाग:

1. **प्रो० एस.एस. भाटिया** (अध्यक्ष, स्कूल ऑफ मैथमेटिक्स एण्ड कम्प्यूटर एप्लीकेशन, थापर विवि, पटियाला)
2. **सर्वजीत सिंह भाटिया** (प्रवक्ता, कम्प्यूटर साईंस, खालसा कॉलेज, पटियाला)
3. **डॉ० बालकिशन सिंहल,** सहायक प्रोफेसर, कम्पयूटर विभाग, म०द०विश्वविद्यालय, रोहतक

संस्कृत विभाग:

1. **डॉ० रामकरण भारद्वाज** पूर्व रीडर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, लाजपत राय कॉलेज, साहिबाबाद (गाजियाबाद)
2. **डॉ० सुनीता सैनी,**एसो० प्रोफेसर संस्कृत विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक
3. **डॉ० सुमन,** (सहायक प्रोफेसर, संस्कृत–विभाग, आदर्श महिला महाविद्यालय, भिवानी।)
4. **डॉ0 दिनेश मणि त्रिपाठी {प्रधानाचार्य}** एल ०पी ०के ०इंटर कॉलेज सरदार नगर बसडिला {गोरखपुर}
5. **डॉ0 दानपति तिवारी,** प्रोफेसर, एवं अध्यक्ष, महात्मा गांधी काशी विद्यापिठ, वाराणसी, उत्तर–प्रदेश
6. **डॉ0 दिनेशचन्द्र शुक्ल,** सहायक प्रोफेसर, महात्मा गांधी काशी विद्यापिठ, वाराणसी, उत्तर–प्रदेश

रक्षा एवं स्त्रातजिक अध्ययन विभाग:

1. **डॉ० आर०एस० सिवाच**पूर्वप्रो० एवं अध्यक्ष, रक्षा एवं स्त्रातजिक अध्ययन विभाग, म०द०वि०, रोहतक

दृश्यकला विभाग:

1. **डॉ० सुषमा सिंह**पूर्वएसोसिएट प्रोफेसर, दृश्यकला विभाग, म०द० विश्वविद्यालय, रोहतक

पंजाबी विभाग:

1. **डॉ० सिमरजीत कौर,** सहायक प्रो० (पंजाबी), ईश्वरजोत डिग्री कालेज, पेहवा (कुरूक्षेत्र)

संगीत विभाग:

1. **डॉ० हुकमचन्द**पूर्वएसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष तथा डीन, संगीत विभाग महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक, हरियाणा
2. **डॉ. अनीता शर्मा,** (संगीत–गायन प्राध्यापिका, जयराम महिला महाविद्यालय लोहारमाजरा (कुरुक्षेत्र)
3. **डॉ. वन्दना जोशी,** (सहायक प्राध्यापक, विभागाध्यक्ष, संगीत विभाग, एस.एस.जे. परिसर, अल्मोड़ा)

पत्रकारिता एवं जन संचार विभाग:

1. **डॉ० सरोजनी नंदल,** प्रोफेसर (पत्रकारिता एवं जन संचार विभाग) महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक

उर्दू विभाग:

1. **डॉ० मो. नूरूल हक,** (एसोसिएट प्रोफेसर, विभागाध्यक्ष, उर्दू, बरेली कॉलेज, बरेली)

कृषि विभाग

1. **डॉ0 गोविन्द प्रकाश आचार्य** सह–आचार्य (कृषि–प्रसार) श्री गोविन्द गुरू राजकीय महाविद्यालय, बांसवाड़ा राजस्थान मो. 9460545836

दर्शनशास्त्र

1. Prof, Dr, Asha Devi department of Philosophy Govt P G college kotdwar pauri Garhwal Uttarakhand 246149

LIFE MEMBERS OF INDIAN JOURNAL OF SOCIAL CONCERNS

1. **Dr. Praveen Kumar Verma**
   Associate Professor, Hindi Department, GGD Sanatan Dharam Post Graduate College, Palwal.

2. **Smt. Veena Pandey (Shukla)**
   Hindi Teacher, Jawahar Navodya Vidyalya, Dhoom Dadri, Distt. Gautambudhnagar - 203207 (U.P.)

3. **Dr. Suman**
   H.No. 1001, Radha Swami Colony, Rohtak Road, Bhiwani (Haryana)

4. **Dr. Subhash Chand Saini** (Hindi Department, Dyal Singh College, Karnal, Haryana

5. **Dr. Vimla Devi, Asst. Professor (History)** M.B.G.P.G College Haldwani Nainital (Uttrakhand)
   G-mail address. drvimla2015@gmail

6. **Princepal,** Associat Professor (Hindi), Aggarwal College, Ballabhgarh (Haryana)

7. **Dr. Dinesh Mani Tirpathi (Principal)** L-P=-K Inter College sardar Nagar, Basdila Gorkhpur

8. **Dr. Govind Prakash Acharya** F--63, Chandra Vardai Nagar, UIT, Colony, Shaheed Bhagat Singh Marg, Opposite Ramganj Thana, Taragarh Road, Ajmer (Rajasthan) Pincode--305003.

9. **Amardeep Singh** Mcf C -21, Near Deep Vatika, Bhagat Singh Colony, Ballabgarh121004, Mob. 9873814066

10. **Principal,** Goswami Ganesh Dutt Sanatam Dharma College Palwal (Haryana)

ज्ञान-विज्ञान विमुक्तये
आचार्य मनिष र. जोशी
सचिव
Prof. Manish R. Joshi
Secretary

सत्यमेव जयते

आज़ादी का अमृत महोत्सव

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग
University Grants Commission
(शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार)
(Ministry of Education, Govt. of India)

F.No. 1-1/2018(CARE/JOURNAL)-Part file 22 माघ 1946/11 February, 2025

सार्वजनिक सूचना

In supersession of the Public Notice dated 28th November 2018 for establishing UGC Consortium for Academic and Research Ethics (UGC- CARE), the Commission, in its 584th meeting held on 3rd October 2024, based on the recommendations of the expert committee, has decided to discontinue UGC-CARE listing of Journals and develop suggestive parameters for choosing peer-reviewed journals by faculty members and students. The suggestive parameters, developed by a group of experts and academicians, are now placed in the public domain for their feedback till **25th February, 2025 at email id: journal@ugc.gov.in.**

The stakeholders, including HEIs, faculty members, researchers, and students, may take note of it.

(मनिष जोशी)

बहादुरशाह जफ़र मार्ग, नई दिल्ली-110002 | Bahadur Shah Zafar Marg, New Delhi-110002
दूरभाष (Ph.): 011-23236288/23239337 | सम्पर्क सूत्र (ई-मेल) (E-mail) : secy.ugc@nic.in

अनुक्रमणिका

क्र.	विषय	लेखक	पृष्ठ स.
1.	भारतीय लोकतंत्र में महिला सांसदों की विधायी सक्रियता और उनका प्रभाव एक विश्लेषणात्मक अध्ययन	प्रियंका शर्मा, डॉ. सुशीला बेदी दुबे	10–17
2.	विनोद बब्बर के गद्य साहित्य की भाषा–शैली एवं शिल्प में सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का अनुशीलन	सुनीता देवी, सुनीता सिंह	18–25
3.	संस्कारों की वर्तमान में प्रासंगिकता : धर्मशास्त्र के संदर्भ में	डॉ० पिंकी शर्मा	26–28
4.	डॉ० हरिषरण वर्मा कृत 'लव जिहाद' नाटक में व्याप्त धर्म–परिवर्तन	डॉ० पुष्पा, सीमा	29–34
5.	हरियाणा के लोकगीतों में भाषाई विविधता और सांस्कृतिक समझः एक विमर्श	डॉ० रेखा	35–38
6.	Education and Women Empowerment	Mohini	39–45
7.	Silence, Female Identity and Patriarchal Structures in Shashi Deshpande's That Long Silence	Dr. Poonam Rani	46–50
8.	A Study of Hindu Religious Values in the work of Amish Tripathi	Sonam Mahiwal, Dr. Raja	51–53
9.	The Social Determinants Of Health In India	Dr. Arvind Sirohi* Dr. Himanshu Kumar**	54–56
10.	AI-Driven Digital Transformation and the Future of Work: A Sociological Perspective	Dr. Rakhi Gupta	57–64
11.	Nepal Floods and the Global Climate Asymmetry: A Geographic Case for Climate Justice	Ankush	65–69
12.	The Solidity of Specification: Realism and the International Dialectic in the Novels of Henry James	Dr.Satish Kumar	70–73
13.	Critical Minerals Geography: Spatial Distribution of Rare Earth Elements and the Global Energy Transition प्राचीन भारत से समकालीन भारत तक	Ankush	74–78
14.	From Experimentation to Scale: An Integrative Framework for Entrepreneurship, Startups, and Innovation Management	Dr. Kanwaljeet Kaur	79–85
15.	The Paradigm Shift In Postcolonial Indian English Literature: A Critical Analysis Of Identity, Spatiality, And Hybridity	Dr. Satish Kumar	86–89
16.	हिन्दी भाषा एवम् भारतीय भाषाएं	डॉ. पुष्पा रानी	90–94
17.	जनपद मथुरा में भूमि उपयोग प्रतिरूप का भौगोलिक विषलेषण	डॉ0 अनिल कुमार	95–100
18.	21वी सदी की कहानियों में वैचारिक दशा एवं दिशा	डॉ. शकुंतला, एकता यादव	101–104
19.	जनपद मथुरा में पर्यावरण, स्वास्थ्य एवं पोषण के क्षेत्रीय आयाम	डॉ0 अनिल कुमार	105–110
20.	सोशल मीडिया और युवा चेतना	डॉ0 सतीश चन्द अग्रवाल	111–114
21.	अलका सरावगी के उपन्यासों में मारवाड़ी समाज एवं संस्कृति का चित्रण	आरती कुमारी	115–119
22.	सऊदी अरब – पाकिस्तान – तुर्किये की रक्षा साझेदारीः भारत के लिए सामरिक चुनौतियाँ एवं निहितार्थ	Rajat Saini	120–123
23.	भारतीय पत्रकारिता में नैतिक मूल्यों का ह्रासः एक विश्लेषणात्मक अध्ययन	डॉ. ईश्वर दास बैरागी	124–128
24	डिजिटल युग में हिंदी भाषाः बदलते भाषिक स्वरूप, तकनीकी संभावनाएँ और चुनौतियाँ	डॉ. अश्वीनी कुमार	129–134
25.	शब्दर्षि आचार्य रामचंद्र वर्मा की साहित्य–साधना जीवन की विविध समस्याए	डॉ0 जंग बहादुर पाण्डेय	135–138
26.	Analyzing FDI-Induced Trends in India's Service Industry: Transformations in the Age of AI and Viksit Bharat 2047	Dr. Deepti* Unnatii**	139–142
27.	Relevance of Constructivist Approach in the Present Scenario	Dr. Manoj Rani	143–145
28.	Role of Economic Liberalization in India's Economic Development	Dr. Pardeep Kumar Sharma, Priyanka	146–150

अनुक्रमणिका

क्र.	विषय	लेखक	पृष्ठ स.
29.	Constructivism: A Paradigm Shift from Teacher-oriented Information Delivery to Learner-focused Active Inquiry	Dr. Manoj Rani	151–153
30.	Ayushman Bharat PM-JAY and the Promise of Cashless Care: A Review of the Literature	Aditya Raj[1], Dr. Richa[2]	154–158
31.	"Scientific Rationality and the Ethics of Human Experimentation: Utopian Aspirations and Dystopian Consequences in the selected works of H. G. Wells"	Sahil Patil	159–162
32.	Exploring India's Girl Child Savings Scheme: Sukanya Samriddhi Yojana	Sara Tyagi, Dr. Richa	163–166
33.	"Imagining the Perfect Society and Foreseeing the Failed Civilization: Utopian and Dystopian Visions in H. G. Wells' A Modern Utopia and Selected Works"	Sahil Patil	167–171
34.	Value-based Education & Skill Development – Nep 2020	Dr. Surjit Kaur, Dr. Vaishali Gupta	172–175
35.	Henry James as a Psychological Novelist and Literary Critic: An Analytical Study	Dr Satish Kumar	176–178
36.	The Future of the Indian Census: Integrating Artificial Intelligence, Digital Innovation, and Smart Governance	Vijay Singh	179–183
37.	Welfare State to Welfare Governance: Changing State–Society Relations in India	Neelam	184–188
38.	प्रवासी हिंदी साहित्य और डॉ. जय वर्मा के रचना–संसार में वैश्विक मूल्यों की प्रतिष्ठा एवं सांस्कृतिक अस्मिता का विमर्श	पिंकी, डॉ. प्रवेश कुमारी	189–192
39.	महिला सशक्तिकरण का आर्थिक आयामः भारतीय अर्थव्यवस्था में महिलाओं की भागीदारी, स्वायत्तता एवं विकास:	Pankaj Kumar	193–197
40.	तमस उपन्यास की प्रयोजनीयता	नूतन कुमारी	197–200
41.	Right To Religion Versus Sacred Sacrifice: A Constitutional And Animal Welfare Analysis Of The Madhuri (mahadevi) Elephant Case Of Kolhapur	Shradha Gangwar[a,1], Dr. Himadri S Dey[b,2], Dr. Urvashi Kumari[c,3], Dr.Alpana Jijja[d,4]	201–212
42.	मनुस्मृति के नैतिक सिद्धांतों की आधुनिक प्रासंगिकता	प्रतीक्षा पुंडीर	213–215
43.	मोहन राकेश के दांपत्य जीवन और 'एक और जिन्दगी' का अंतर्संबंध	अनिमा मिंज	216–219
44.	कमलेश्वर की कहानियों में स्त्री –विमर्श	डॉ अनिल कुमार अनल	220–222
45.	महादेवी की वेदना लौकिक अथवा आध्यात्मिक?	साक्षी कुमारी	223–226
46.	पर्यावरण संरक्षण का ईश्वरीय संदेश है–सूर्योपापना का महापर्व छठ	सुमन एवं डॉ0 तारामणि पाण्डेय	227–228
47.	Culture, People, Power and Sustainable Development in a Globalized Era	Professor Tapan Kumar Shandilya	229–235
48.	Mental Health of Young Women in India: Socio-cultural Challenges, Gender Inequality And Empowerment	Harsh Kaushik	236–241
49.	Women Police Personnel And Mental Health In India	Dr. Mithlesh	242–247
50.	वंदना राग के कथा साहित्य में सामाजिक स्थिति	डॉ0 भावना	248–249

अनुक्रमणिका

क्र.	विषय	लेखक	पृष्ठ स.

1

भारतीय लोकतंत्र में महिला सांसदों की विधायी सक्रियता और उनका प्रभाव एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

प्रियंका शर्मा, डॉ. सुशीला बेदी दुबे

सारांश

लोकतंत्र के मानक सिद्धांतों में राजनीतिक समानता का महत्व केंद्रीय है यह तर्क दिया जाता है कि महिलाएं समान नागरिक हैं और इसलिए उन्हें सार्वजनिक निर्णय लेने में पुरुषों के बराबर भागीदारी मिलनी चाहिए। इसके विपरीत, अनुभवजन्य सिद्धांत आमतौर पर लोकतंत्र को बहुदलीय राजनीतिक प्रणाली और प्रतिस्पर्धी चुनावों जैसी संस्थाओं की उपस्थिति से परिभाषित करते हैं। वास्तव में, अनुभवजन्य लोकतंत्र की अवधारणा में सांस्कृतिक, सामाजिक–आर्थिक और राजनीतिक कारकों सहित व्यावहारिक वास्तविकताओं की एक जटिल श्रृंखला शामिल हो सकती है। अनुभवजन्य लोकतंत्र की इस बहुआयामी समझ का उपयोग राष्ट्रीय संसदों में महिलाओं के वर्णनात्मक प्रतिनिधित्व को समझाने में किया जाता है। इस लेख का उद्देश्य उन कारकों के बारे में समझ को आगे बढ़ाना है जो लोकतांत्रिक देशों में महिलाओं के संसद में प्रवेश करने में सहायक या बाधक होते हैं। इसका मुख्य तर्क यह है कि ये कारक लोकतांत्रिक प्रयोग की अवधि के अनुसार भिन्न होते हैं। विश्लेषण से पता चलता है कि सबसे पहले, संसदों में महिलाओं का अनुपात कई परस्पर क्रिया करने वाले कारकों से प्रभावित होता है। दूसरे, यह दर्शाता है कि महिला विधायकों के प्रतिशत को प्रभावित करने वाले कारकों का मिश्रण देश के लोकतांत्रिक अनुभव की अवधि के अनुसार भिन्न होता है। जिन देशों में लोकतंत्र को आए अभी कुछ ही समय हुआ है, वहां महिला सांसदों के अनुपात को समझाने में मतदान प्रणाली सबसे महत्वपूर्ण कारक है। इसके विपरीत, सुस्थापित लोकतंत्रों में लैंगिक भूमिकाओं की समतावादी अवधारणा ही इसका सबसे सशक्त कारण है।

"मुख्य वाक्यांश"– राजनीतिक समानता, लोकतंत्र, संसद, और महिला विधायक।

परिचय

अध्ययनों से पता चला है कि कई कारक महिलाओं की विधायी क्षेत्र में पहुँच को प्रभावित करते हैं। इन कारकों को तीन व्यापक श्रेणियों में बांटा जा सकता हैः सांस्कृतिक, सामाजिक–आर्थिक और राजनीतिक। यद्यपि इस प्रकार का वर्गीकरण विश्लेषण को सरल बनाता है, वास्तव में ये कारक महिलाओं की सत्ता तक पहुँच को प्रभावित करने में आपस में जुड़े हुए और एक–दूसरे को प्रभावित करते हैं। इसलिए, कारण–कार्य संबंध के संदर्भ में एक समस्या उत्पन्न होती है क्या सांस्कृतिक कारक सामाजिक–आर्थिक और राजनीतिक कारकों से पहले आते हैं, या इसका उल्टा होता है? उदाहरण के लिए, क्या महिलाओं के लिए बड़ी संख्या में कानूनी करियर बनाने और आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त करने से पहले लैंगिक समानता की संस्कृति का होना आवश्यक है, जो राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश करने के लिए दोनों ही प्रमुख लाभ हैं? चूंकि ऐसे प्रश्न अनुत्तरित हैं, इसलिए यह मानना शायद अधिक उपयोगी होगा कि सांस्कृतिक, सामाजिक–आर्थिक और राजनीतिक कारक परस्पर क्रिया करके एक ऐसी गतिशील प्रक्रिया का निर्माण करते हैं जो महिलाओं के चुनाव के लिए एक वैश्विक आधारशिला का काम करती है।

सांस्कृतिक कारक

संस्कृति से तात्पर्य उन मूल्यों, मानकों, मान्यताओं और दृष्टिकोणों से है जो किसी समाज और उसकी संस्थाओं की नींव रखते हैं और जो जनसंख्या के रहन–सहन, बातचीत और कार्यों को प्रभावित करते हैं। धर्म, शिक्षा और लिंग–आधारित सामाजिक भूमिकाओं के विचार संसदों में महिलाओं के अनुपात को निर्धारित करने वाले प्रमुख सांस्कृतिक कारक हैं। सामान्यतः, प्रोटेस्टेंट धर्म का प्रमुख धर्म होना (अन्य धर्मों की तुलना में), महिलाओं की विश्वविद्यालय शिक्षा तक पहुंच और लैंगिक समानतावादी भूमिकाएं ऐसे कारक हैं जो संसदों में महिलाओं की पहुंच से सकारात्मक रूप से जुड़े हुए हैं। इसके अलावा, इंगलहार्ट और नॉरिस, माटेओ डियाज, और पैक्सटन और कुनोविचपाद लेखपांचों अध्ययनों से यह स्पष्ट हुआ है कि संसद में महिलाओं के अनुपात को निर्धारित करने में मतदान प्रणालियों (विशेष रूप से सूची आनुपातिक प्रतिनिधित्व) की तुलना में संस्कृति, विशेषकर महिलाओं और पुरुषों के बीच समानता की अवधारणा, अधिक प्रभावशाली कारक है। संस्कृति के महत्व को पैक्सटन और कुनोविच द्वारा समझाया जा सकता है। यह इस तथ्य से प्रस्तावित होता है कि यह चर कुछ मायनों में सामाजिक–आर्थिक और राजनीतिक कारकों पर आरोपित है।

सामाजिक–आर्थिक कारक

सामाजिक–आर्थिक कारक उन परिस्थितियों को आकार देते हैं जो महिलाओं को राजनीति में करियर बनाने के लिए प्रेरित करती हैं। जैसा कि नॉरिस और लोवेंडुस्की ने उल्लेख किया है, हम यहां उम्मीदवारों की उपलब्धता के बारे में बात कर रहे हैं। एक सिद्धांत यह है कि यदि राजनीति में महिलाओं की संख्या कम है, तो इसका कारण यह है कि पार्टियां जिन परिवेशों में अपने संभावित उम्मीदवारों की पहचान और भर्ती करती हैं, उनमें महिलाओं का

प्रतिनिधित्व कम है। महिलाओं की सामाजिक–आर्थिक स्थिति में सुधार से संसदों में उनकी उपस्थिति में वृद्धि होनी चाहिए। इस श्रेणी में शामिल कारकों में समाज का प्रकार (कृषि प्रधान, औद्योगिक या उत्तर–औद्योगिक), मानव विकास सूचकांक (एचडीआई), जन्म दर, श्रम बाजार में महिलाओं का अनुपात, महिला पुरुष आय अनुपात, प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय उत्पाद (जीएनपी), शिक्षा और स्वास्थ्य सेवा पर सार्वजनिक व्यय और शहरीकरण दर शामिल हैं। अध्ययनों से पता चलता है कि संसदों में महिलाओं का अनुपात श्रम बाजार में भागीदारी (विशेष रूप से विशिष्ट रोजगार में), मानव विकास सूचकांक में उच्च अंक, उत्तर–औद्योगिक समाज और विकसित कल्याणकारी राज्य जैसे कारकों से सकारात्मक रूप से प्रभावित होता है।

राजनीतिक कारक

राजनीतिक कारक उम्मीदवारों की मांग को प्रभावित करते हैं। विशेष रूप से, ये कारक उम्मीदवारों के चयन (अर्थात, योग्य उम्मीदवारों में से किन नागरिकों को चुनाव लड़ना है, इसका चुनाव) और उनके चुनाव को प्रभावित करते हैं। महिलाओं के प्रतिनिधित्व के संदर्भ में, राजनीतिक कारक दो आयामों से संबंधित हैं। महिलाओं के राजनीतिक अधिकार और राजनीतिक व्यवस्था। पहला आयाम महिलाओं की राजनीतिक नागरिकता से संबंधित है। इसे मुख्य रूप से उस वर्ष से मापा जाता है जब महिलाओं को राष्ट्रीय विधायी चुनावों में मतदान का अधिकार प्राप्त हुआ था। कई अध्ययनों ने इस माप और संसदों में महिलाओं के अनुपात के बीच संबंध दर्शाया है। संसद में महिलाओं की उपस्थिति पर उनके राजनीतिक अधिकारों के प्रभाव को समझने के लिए कुछ ही कारक विकसित किए गए हैं। हालांकि, महिलाओं के राजनीतिक अधिकारों के कई पहलू परिणाम को प्रभावित कर सकते हैं। इनमें राष्ट्रीय चुनाव में महिलाओं के चुनाव लड़ने का अधिकार मिलने का वर्ष, संसद में पहली महिला के चुने जाने का वर्ष, और पहली बार किसी महिला के सरकार में प्रवेश करने का वर्ष, साथ ही यह भी शामिल है कि क्या कोई महिला पहले राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री का पद संभाल चुकी है, इत्यादि।

महिलाओं के राजनीतिक अधिकारों के विपरीत, राजनीतिक व्यवस्था (यहाँ चर्चा किए गए राजनीतिक कारकों का दूसरा आयाम) पर शोधकर्ताओं ने बहुत ध्यान दिया है। यहाँ, शोधकर्ताओं ने विधायिकाओं में महिला सदस्यों के अनुपात पर राजनीतिक व्यवस्था के प्रभाव का पता लगाने के लिए कई प्रकार के चरों का उपयोग किया है। इन चरों में राज्य संरचना (एकात्मक या संघीय), संसद की संरचना (एकल–सदनीय या द्विसदनीय, सीटों की संख्या, विधायिका की अधिकतम अवधि), विधायी करियर की प्रकृति (सांसदों की टर्नओवर दर), दल प्रणाली (चुनाव लड़ने वाले दलों की संख्या, प्रभावी संसदीय दलों की संख्या, सरकार बनाने वाले दलों की विचारधाराएँ, उम्मीदवारों का चयन कैसे होता है, इत्यादि) और स्पष्ट रूप से स्वयं चुनावी प्रणाली (मतदान प्रणाली का प्रकार, जिले का आकार, सूचियों की प्रकृति–बंद, खुली या लचीली, इत्यादि) शामिल हैं। मैटलैंड के साथ–साथ ओक्स और अल्मक्विस्ट ने भी इस पर शोध किया है। इस विचार का समर्थन करते हैं कि विधायी सीटों की संख्या निर्वाचित महिलाओं के अनुपात में भूमिका निभाती है। सांसदों के कम बदलाव को लंबे समय से महिलाओं की विधायी सभाओं तक पहुंच में एक बाधा के रूप में पहचाना जाता रहा है। नॉरिस और इंगलहार्टपाद का मानना है कि जिन संसदों में कई दलों का प्रतिनिधित्व होता है, उनमें दो–दलीय संसदों की तुलना में महिला उम्मीदवारों के निर्वाचित होने की अधिक संभावना होती है। वैचारिक स्पेक्ट्रम के वामपंथी और मध्यमार्गी राजनीतिक दल, दक्षिणपंथी दलों की तुलना में संसद में सीट पाने की इच्छुक महिलाओं के लिए बेहतर संभावनाएं प्रदान करते हैं, विशेषकर तब जब वामपंथी या मध्यमार्गी दल सरकार बनाते हैं। यदि कोटा का संसदों में महिलाओं की संख्या बढ़ाने पर प्रत्यक्ष और तत्काल प्रभाव दिखाई देता है, तो यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि कोटा के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए कई मानदंडों का पूरा होना आवश्यक है। उदाहरण के लिए, उम्मीदवारों की सूची में वर्गीकरण के लिए लिंग–संवेदनशील व्यवस्था अनिवार्य करके और कानून के उल्लंघन के लिए दंड लगाकर प्रतिरोध को रोकना आवश्यक है।

चुनावी प्रणाली राजनीतिक व्यवस्था का वह तत्व है जिसने संसदीय क्षेत्रों में महिलाओं की पहुंच के निर्धारकों पर सबसे समृद्ध साहित्य को जन्म दिया है। सामान्यतः, आनुपातिक प्रतिनिधित्व द्वारा निर्वाचित संसदों में बहुलता बहुमत प्रणाली द्वारा गठित संसदों की तुलना में महिलाओं का प्रतिशत अधिक होता है। फिर भी, कई अध्ययन आनुपातिक प्रतिनिधित्व और संसदों में महिलाओं की पर्याप्त उपस्थिति के बीच अक्सर माने जाने वाले संबंध का अधिक जटिल दृष्टिकोण भी प्रस्तुत करते हैं। वास्तव में, मतदान प्रणालियाँ अपने संदर्भों से स्वतंत्र रूप से कार्य नहीं करती हैंय अन्यथा हम यह कैसे समझा सकते हैं कि एक ही मतदान प्रणाली के माध्यम से गठित संसदों में महिला सांसदों का अनुपात अलग–अलग होता है, या यह तथ्य कि किसी भी संसद में महिलाओं का प्रतिशत समय के साथ बदलता रहता है, भले ही मतदान प्रणाली स्थिर रहे?

मतदान प्रणालियों का प्रदर्शन उन्हें संरचित करने वाली

विशेषताओं और उनका लाभ उठाने वाले व्यक्तियों पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिए, उच्च मतदान सीट अनुपात सांसदों के उच्च परिवर्तन दर को बढ़ावा देता है, जिससे महिलाओं के योग्य पदों पर चुने जाने की संभावना बढ़ जाती है। इसी प्रकार, प्रतिनिधित्व की एक सीमा (संभवतः वह सबसे शक्तिशाली उपकरण जिसके माध्यम से मतदान प्रक्रियाएं आनुपातिकता को प्रभावित कर सकती हैं) अपेक्षाकृत उच्च स्तर पर निर्धारित होने से उन दलों की संख्या कम हो जाती है जिनके बीच संसद में सीटें साझा की जाती हैंय इस प्रकार प्रत्येक दल को अधिक सीटें प्राप्त होती हैं और इसलिए वह कुछ सीटें महिलाओं को आवंटित कर सकता है, चाहे स्वेच्छा से (अर्थात, अपने प्रतिनिधित्व को संतुलित करने के लिए) या यंत्रवत रूप से (क्योंकि भरी जाने वाली सीटों की संख्या सूची में नीचे तक पहुँच जाती है जहाँ अक्सर महिला उम्मीदवारों को रखा जाता है)। हालाँकि, इसके विपरीत प्रभाव पर भी बहस की जा सकती है प्रतिनिधित्व की उच्च–स्तरीय सीमा उन छोटी पार्टियों के संसदीय प्रतिनिधित्व में बाधा है, जिनमें महिलाएं अक्सर उम्मीदवार होती हैं। कई अध्ययनों से यह भी पता चला है कि चुनावी जिलों का आकार (मतदान प्रणाली के आनुपातिकता स्तर के लिए जिम्मेदार दूसरा तंत्र) महिलाओं के निर्वाचित होने की क्षमता को प्रभावित करता है। प्रति चुनावी जिले में जितनी अधिक सीटें होती हैं – और, विशेष रूप से, एक पार्टी जितनी अधिक सीटें जीतने की उम्मीद कर सकती है – महिलाओं के संसदीय सीटें प्राप्त करने की संभावना उतनी ही अधिक होती है।

फिर आती हैं पार्टियां, जो महिलाओं के संसदीय प्रतिनिधित्व की असली सूत्रधार हैं। मैटलैंड और मोंटगोमरी के अनुसार, श्चुनावी प्रणाली महिला विधायी प्रतिनिधित्व को सीधे तौर पर प्रभावित करती है, क्योंकि यह नामांकन चरण में पार्टी के प्रमुख नेताओं की भर्ती रणनीतियों को आकार देती है। वास्तव में, मतदान प्रणाली को राजनीतिक दलों और महिलाओं के विधायी प्रतिनिधित्व के बीच एक मध्यस्थ कारक के रूप में सबसे अच्छी तरह से परिभाषित किया जा सकता है, क्योंकि मतदान प्रणाली ही दलों की उम्मीदवार चयन रणनीतियों को आकार देती है। इस दृष्टिकोण का समर्थन फैरेल ने किया है, जो तर्क देते हैं कि संसदों में महिलाओं के अल्प प्रतिनिधित्व के लिए चुनावी प्रणाली उतनी जिम्मेदार नहीं है जितनी कि पार्टी चयन समितियाँ।

बेशक, लगभग सभी चुनावी प्रणालियों में, उम्मीदवारों के चयन की प्रक्रिया और इसलिए संसदों की संरचना पर मतदाताओं का नहीं, बल्कि दलों का नियंत्रण होता है। हालांकि, उम्मीदवारों के चयन पर दलों के नियंत्रण का स्वरूप मतदान प्रक्रिया और उसकी विशिष्ट विशेषताओं के अनुसार बहुत भिन्न होता है। आनुपातिक प्रतिनिधित्व के संदर्भ में, बंद सूचियाँ और वरीयता–रहित सूचियाँ राजनीतिक दलों को संसद की संरचना पर लगभग पूर्ण नियंत्रण प्रदान करती हैं, जबकि खुली सूचियाँ या ऐसी विधियों का संयोजन जिनमें मतदाता न केवल दलों बल्कि जनता का भी प्रतिनिधित्व करने वाले प्रतिनिधियों को नामित करने में भूमिका निभाते हैं, इसके विपरीत हैं । हालाँकि, इस बात पर कोई आम सहमति नहीं है कि बंद सूचियाँ या खुली सूचियाँ महिलाओं के चुनाव को बेहतर ढंग से बढ़ावा देती हैं। एकल हस्तांतरणीय मतदान प्रणाली में, दलों का संसद की संरचना पर अप्रत्यक्ष (दूसरे शब्दों में, प्रारंभिक) नियंत्रण होता है; महिला और पुरुष उम्मीदवारों को उस दल से समर्थन प्राप्त करना आवश्यक होता है जिसके लिए वे चुनाव प्रचार कर रहे हैं, लेकिन समर्थित उम्मीदवारों के लिए डाले गए वोट मतदाताओं द्वारा व्यक्तिगत रूप से दिए गए वरीयता वोट होते हैं। इसलिए, ये वोट, न कि दलों द्वारा स्थापित रैंकिंग, यह निर्धारित करेंगे कि संसद में किसे सीट मिलेगी। हालाँकि, एकल हस्तांतरणीय वोट प्रणाली का उपयोग करने वाले कुछ देशों में उनकी संसदों में महिलाओं का अनुपात कम है। बहुलता बहुमत प्रणाली की बात करें तो, अमेरिकी प्राथमिक चुनावों का फार्मूला कांग्रेस के लिए उम्मीदवारों के चयन में पार्टियों को कोई शक्ति प्रदान नहीं करता है, जबकि ऑस्ट्रेलियाई, ब्रिटिश और कनाडाई पार्टियां उम्मीदवार चयन प्रक्रिया पर पूर्ण नियंत्रण रखती हैं। हालांकि, महिलाओं को उम्मीदवारों की मानकीकृत और केंद्रीकृत चयन प्रक्रिया से लाभ हो सकता है, क्योंकि इससे राष्ट्रीय अभिजात वर्ग के लिए सकारात्मक प्रोत्साहन उपायों और कोटा को अपनाना आसान हो जाएगा।

यह निश्चित है कि उम्मीदवार चयन प्रक्रिया निष्पक्ष नहीं है। यह बहिष्कार और समावेशन की प्रक्रिया है, जिसका अर्थ है कि कुछ संभावित विधायी उम्मीदवारों को व्यवस्थित रूप से बाहर कर दिया जाता है, जबकि अन्य को व्यवस्थित रूप से शामिल कर लिया जाता है। नॉरिस और लोवेंडुस्की का सुझाव है कि पार्टी चयनकर्ता (अर्थात् पार्टी नेता, पदाधिकारी, कार्यकर्ता, सदस्य और मतदाता) अपने उम्मीदवारों का चयन संसद सदस्य के एक आदर्श प्रकार के अनुसार करते हैं जिसे शोधकर्ता होमो पॉलिटिकस कहते हैं । उनके अनुसार, यह प्रणाली एक आदर्श उम्मीदवार का चयन करने के लिए बनाई गई है जो वाक्पटु, सुशिक्षित और आमतौर पर पेशेवर क्षेत्र में कार्यरत हो, जैसे व्यवसाय में कार्यकारी या प्रबंधक, शिक्षा में स्कूल शिक्षक या विश्वविद्यालय व्याख्याता, या कानून में वकील या बैरिस्टर।

राजनीति में करियर के लिए उपयुक्त योग्यताओं को इस तरह परिभाषित करने से कुछ खास प्रकार के उम्मीदवारों को ही सफलता मिलने की संभावना रहती है। परिणामस्वरूप, महिलाएं, श्रमिक वर्ग के उम्मीदवार और जातीय अल्पसंख्यकों के उम्मीदवार लगातार वंचित ही रहेंगे।

लिंग आधारित कोटा एक ऐसी रणनीति है जिसका उपयोग चयनकर्ताओं द्वारा संभावित महिला उम्मीदवारों के खिलाफ किए जाने वाले अनौपचारिक (या व्यवस्थित) भेदभाव का मुकाबला करने के लिए किया जाता है। 1990 के दशक की शुरुआत से, लगभग 90 देशों ने अपनी संसदों के निचले या एकल सदनों में महिलाओं के प्रतिनिधित्व को बढ़ावा देने के लिए किसी न किसी रूप में सकारात्मक कार्रवाई (चाहे वह आरक्षित सीटें हों, कानूनी – संवैधानिक या विधायी – कोटा हो, या पार्टी कोटा हो) को अपनाया है। लैंगिक कोटा यह सुनिश्चित करता है कि प्रत्येक पार्टी की उम्मीदवारों की सूची में महिलाओं का एक निश्चित न्यूनतम प्रतिशत हो (या आरक्षित सीटों के मामले में सांसदों का न्यूनतम प्रतिशत)। आज, अधिकांश कोटा प्रणालियों का लक्ष्य यह सुनिश्चित करना है कि महिलाएं कम से कम 20–30 प्रतिशत की महत्वपूर्ण अल्पसंख्यक हों।

चुनावी परिदृश्य में, पार्टियों और नागरिक समाज दोनों में, नारीवादी लामबंदी, पार्टी चयनकर्ताओं द्वारा महिला उम्मीदवारों के खिलाफ किए जाने वाले भेदभाव का मुकाबला करने की एक और रणनीति है। नियम यहाँ तक कहता है कि इस तरह की लामबंदी कुछ मतदान प्रक्रियाओं द्वारा महिलाओं के चुनाव में प्रस्तुत प्रतिरोध का प्रतिसंतुलन हो सकती है महिलाओं की राजनीतिक लामबंदी द्वारा नकारात्मक चुनावी प्रणाली विशेषताओं पर काबू पा लिया गया है। यह कहना अनावश्यक है कि नारीवादी आंदोलन और कोटा विरोधी रणनीतियाँ नहीं हैं, क्योंकि जैसा कि क्रूक ने कहा है कि महिलाओं की लामबंदी उन कारणों में से एक है जो यह समझाते हैं कि लैंगिक कोटा क्यों अपनाया जाता है।

मतदान प्रणाली के प्रभाव के अलावा, चुनाव के कई अन्य पहलू भी महिलाओं की विधायी सभाओं में पहुँच को प्रभावित कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, कई अध्ययनों से पता चला है कि मतदाता उम्मीदवारों के प्रति नकारात्मक भेदभाव नहीं करते हैं –लेकिन सकारात्मक भेदभाव भी नहीं करते हैं। अन्य वर्तमान शोध इस परिकल्पना पर संदेह पैदा करते हैं कि महिलाएं आम तौर पर उन चुनावी जिलों में उम्मीदवार के रूप में खड़ी होती हैं जिन्हें पहले से ही हारा हुआ माना जाता है, यह सुझाव देते हुए कि वे कम से कम पुरुषों की तुलना में ऐसा करने की अधिक संभावना नहीं रखती हैं और जबकि चुनावी अभियानों की लागत को लंबे समय से महिलाओं के चुनाव में एक बड़ी बाधा माना जाता रहा है, हाल के कई कार्यों ने संसदों में महिलाओं के कम अनुपात को समझाने में इसकी प्रासंगिकता पर सवाल उठाया है। संक्षेप में, विश्वभर में संसदों में महिलाओं की पहुँच को प्रभावित करने वाले कई कारक (सांस्कृतिक, सामाजिक–आर्थिक और राजनीतिक) मौजूद हैं। अब समय आ गया है कि हम अधिक विशिष्ट प्रश्न पर ध्यान दें लोकतांत्रिक देशों में संसद में महिलाओं के प्रवेश में कौन से कारक सहायक या बाधक हैं?

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, लोकतंत्र संसदों में महिलाओं की बढ़ती संख्या के लिए अनिवार्य रूप से आधार नहीं बनता (जैसा कि जापान जैसे कई स्थापित लोकतंत्रों में महिलाओं के अपेक्षाकृत कम अनुपात से स्पष्ट होता है)। हालांकि, दिलचस्प बात यह है कि संसदों में महिलाओं का अनुपात राज्य के लोकतांत्रिक जीवन की गुणवत्ता का सूचक माना जा रहा है। यह परिवर्तन कई राजनीतिक घटनाओं (जिनमें लोकतंत्रीकरण की तीसरी लहर, शीत युद्ध की समाप्ति और वारसॉ संधि के पूर्व सदस्य देशों का राजनीतिक पुनर्गठन शामिल हैं) और विशेष रूप से राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर राजनीतिक और चुनावी क्षेत्रों में महिला आंदोलन के सक्रिय प्रयासों के कारण संभव हुआ है। महिलाओं के विरुद्ध सभी प्रकार के भेदभाव के उन्मूलन पर सम्मेलन (1979) और लोकतंत्र पर सार्वभौमिक घोषणा (1997) जैसे कई अंतरराष्ट्रीय दस्तावेज इस नए प्रतिमान से स्पष्ट रूप से प्रभावित हैं। इस तर्क के आधार पर कि महिलाओं के बिना लोकतंत्र की कल्पना ही नहीं की जा सकती, यहां किया गया विश्लेषण गैस्टिल इंडेक्स द्वारा 2005 में लोकतांत्रिक के रूप में वर्गीकृत 89 देशों तक ही सीमित है। अगला कार्य इस प्रकार के राज्यों के भीतर (जो, वैसे, लोकतांत्रिक जीवन की समान गुणवत्ता प्रदान नहीं करते हैं) उन कारकों को लक्षित करना है जो संसदों में महिलाओं के चुनाव में योगदान करते हैं या उसे सीमित करते हैं।

भारत में महिलाओं का प्रतिनिधित्व वर्तमान स्थिति

विश्व के सबसे बड़े लोकतंत्र भारत ने स्वतंत्रता के बाद से महिलाओं की राजनीतिक भागीदारी बढ़ाने में उल्लेखनीय प्रगति की है। यद्यपि गणतंत्र की शुरुआत से ही महिलाओं को सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार प्राप्त था, लेकिन मतदाता से राजनीतिक निर्णयकर्ता बनने तक का उनका सफर क्रमिक रहा है। आज, चर्चा केवल इस बात तक सीमित नहीं है कि महिलाएं राजनीति में भाग ले सकती हैं या नहीं, बल्कि इस बात पर भी है कि कानून और नीतियां बनाने वाली संस्थाओं में उनका पर्याप्त प्रतिनिधित्व है या नहीं।

संसद में महिलाओं का प्रतिनिधित्व

संसद में महिलाओं की उपस्थिति में लगातार सुधार हुआ है, हालांकि अन्य कई लोकतंत्रों की तुलना में विकास की गति धीमी बनी हुई है।

लोकसभा

18 वीं लोकसभा (2024) में 543 निर्वाचित सदस्यों में से 74 महिला सांसद हैं , जो 13.6% प्रतिनिधित्व के बराबर है।

मुख्य विशेषताएं

भारत की जनसंख्या में महिलाओं की संख्या लगभग 49% है, लेकिन लोकसभा की सीटों में उनकी हिस्सेदारी केवल 13.6: है। पहली लोकसभा (1952) में महिलाओं का प्रतिनिधित्व 22 सांसदों (लगभग 4.4%) से बढ़कर 18वीं लोकसभा (2024) में 74 सांसद हो गया है। हालांकि यह भारत के संसदीय इतिहास में महिला प्रतिनिधित्व के उच्चतम स्तरों में से एक है, फिर भी यह वैश्विक औसत से नीचे है।

राज्यसभा

राज्यसभा में महिलाओं का प्रतिनिधित्व भी धीरे–धीरे बेहतर हुआ है।

- 1952 में महिलाओं का प्रतिनिधित्व लगभग 7% था।
- 2023 तक, राज्यसभा में महिलाओं की संख्या लगभग 13% होगी।
- प्रतिनिधित्व आम तौर पर 10% और 15% के बीच रहा है, जो उच्च सदन में भी लगातार अल्पप्रतिनिधित्व को दर्शाता है।

महिला मतदाताओं की भागीदारी में वृद्धि

भारतीय लोकतंत्र की सबसे महत्वपूर्ण सफलताओं में से एक मतदाताओं के रूप में महिलाओं की बढ़ती भागीदारी है।

पिछले कुछ वर्षों में, महिलाएं निष्क्रिय भागीदार होने से आगे बढ़कर एक निर्णायक चुनावी शक्ति बन गई हैं।

वर्ष	महिला मतदाताओं की भागीदारी
1962	46.6%
2024	65.8%

यह उल्लेखनीय वृद्धि निम्नलिखित को दर्शाती है

- महिलाओं में राजनीतिक जागरूकता में वृद्धि।
- मतदान सुविधाओं तक बेहतर पहुंच।
- साक्षरता और शैक्षिक उपलब्धि में वृद्धि।
- लोकतांत्रिक अधिकारों का प्रयोग करने में बढ़ा हुआ विश्वास।

कई राज्यों में महिला मतदाताओं की भागीदारी पुरुष मतदाताओं की भागीदारी के बराबर या उससे अधिक हो गई है, जो महिलाओं की बढ़ती राजनीतिक सक्रियता को दर्शाता है।

चुनाव लड़ने वाली महिलाओं की संख्या में वृद्धि

पिछले कुछ दशकों में चुनावी राजनीति में प्रवेश करने वाली महिलाओं की संख्या में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है।

चुनाव वर्ष	महिला उम्मीदवार
1957	45
2024	797

10

- लगभग अठारह गुना की यह वृद्धि निम्नलिखित बातों को उजागर करती हैं।
- महिलाओं में सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करने की आकांक्षाएं बढ़ रही हैं।
- महिला नेताओं की दृश्यता में वृद्धि।
- शैक्षिक और आर्थिक अवसरों का विस्तार करना।
- राजनीतिक उम्मीदवारों के रूप में महिलाओं की बढ़ती स्वीकार्यता।

इस प्रगति के बावजूद, राजनीतिक दलों द्वारा मैदान में उतारे गए कुल उम्मीदवारों में महिलाओं का अनुपात अभी भी बहुत कम है, जो पार्टी स्तर पर अधिक समर्थन की आवश्यकता को दर्शाता है।

महिलाओं के राजनीतिक प्रतिनिधित्व का वैश्विक परिदृश्य

पिछले कुछ दशकों में, विश्व भर में महिलाओं के राजनीतिक प्रतिनिधित्व में लगातार वृद्धि देखी गई है। सरकारें और अंतर्राष्ट्रीय संगठन यह मानते हैं कि समावेशी राजनीतिक संस्थाएँ बेहतर शासन, मजबूत लोकतंत्र और अधिक संतुलित नीति निर्माण की ओर ले जाती हैं। परिणामस्वरूप, कई देशों ने विधायिकाओं में महिलाओं की भागीदारी बढ़ाने के लिए लैंगिक कोटा, आरक्षित सीटें और पार्टी स्तर पर प्रतिबद्धताओं जैसे उपाय अपनाए हैं।

अंतर–संसदीय संघ (आईपीयू) के आंकड़ों के अनुसार, विश्व भर की राष्ट्रीय संसदों में महिलाओं के पास वर्तमान में लगभग 27% सीटें हैं । हालांकि, अधिकांश देशों में महिलाओं का प्रतिनिधित्व अभी भी कम है, जो सैद्धांतिक और व्यावहारिक राजनीतिक समानता के बीच लगातार अंतर को उजागर करता है।

प्रमुख वैश्विक रुझान

- 25 से अधिक देशों ने अपनी राष्ट्रीय विधानसभाओं में महिलाओं का 40% या उससे अधिक प्रतिनिधित्व हासिल कर लिया है।
- रवांडा संसद के निचले सदन में 60% से अधिक सीटों पर महिलाओं की उपस्थिति के साथ विश्व में अग्रणी

बना हुआ है, जो संवैधानिक कोटा और सकारात्मक कार्रवाई उपायों के प्रभाव को दर्शाता है।

- नॉर्डिक देश लगातार सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन करने वाले क्षेत्रों में शुमार होते हैं, जहां महिलाओं का प्रतिनिधित्व औसतन लगभग 44% रहता है , जो मजबूत कल्याणकारी प्रणालियों, लैंगिक समानता नीतियों और समावेशी राजनीतिक संस्कृतियों द्वारा समर्थित है।
- मेक्सिको, न्यूजीलैंड, फिनलैंड, स्वीडन, आइसलैंड और नॉर्वे जैसे देशों ने चुनावी सुधारों, पार्टी कोटा और महिला नेताओं को बढ़ावा देने के लिए सक्रिय प्रयासों के माध्यम से काफी प्रगति की है।
- लैटिन अमेरिका के कई देश लिंग–संतुलित विधानमंडलों में वैश्विक नेता के रूप में उभरे हैं, जिसका कारण कानूनी रूप से अनिवार्य लिंग कोटा और समानता कानून हैं।

वैश्विक चुनौतियाँ

- इन उपलब्धियों के बावजूद, महिलाओं की राजनीतिक भागीदारी विभिन्न क्षेत्रों में असमान बनी हुई है।
- मध्य पूर्व के कई देशों और एशिया के कुछ हिस्सों में महिलाओं का प्रतिनिधित्व अपेक्षाकृत कम बना हुआ है।
- सामाजिक रूढ़िवादिता, राजनीतिक निधि तक असमान पहुंच, सीमित पार्टी समर्थन और लिंग आधारित हिंसा महिलाओं के राजनीति में प्रवेश करने में प्रमुख बाधाएं बनी हुई हैं।
- सरकार प्रमुखों, मंत्रिमंडल मंत्रियों और महत्वपूर्ण निर्णय लेने वाली भूमिकाओं जैसे शीर्ष कार्यकारी पदों में महिलाओं का प्रतिनिधित्व अभी भी कम है।

वैश्विक रैंकिंग में भारत की स्थिति

सुधारों के बावजूद, राष्ट्रीय विधानसभाओं में महिलाओं के प्रतिनिधित्व के मामले में भारत अभी भी कई देशों से पीछे है। अंतर–संसदीय संघ (आईपीयू) के अनुसार, 2024 के लोकसभा चुनावों से पहले महिलाओं के संसदीय प्रतिनिधित्व में भारत 185 देशों में लगभग 143वें स्थान पर था । महिला सांसदों में भारत की हिस्सेदारी वैश्विक औसत से कम है, जो मजबूत संस्थागत और राजनीतिक सुधारों की आवश्यकता को उजागर करती है।

महिला आरक्षण अधिनियम, 2023 एक ऐतिहासिक सुधार

महिला आरक्षण अधिनियम, 2023, जिसे नारी शक्ति वंदन अधिनियम के नाम से जाना जाता है , भारत में महिलाओं के राजनीतिक प्रतिनिधित्व को बढ़ाने के उद्देश्य से किए गए सबसे महत्वपूर्ण संवैधानिक सुधारों में से एक है। इसे सितंबर 2023 में संसद के विशेष सत्र के दौरान पारित किया गया था । यह अधिनियम संविधान (106वां संशोधन) अधिनियम, 2023 के माध्यम से लागू किया गया था । इस कानून का उद्देश्य विधायी निकायों में महिलाओं के अल्प प्रतिनिधित्व की दीर्घकालिक समस्या का समाधान करना है।

अधिनियम के प्रमुख प्रावधान

इस कानून में निम्नलिखित प्रावधान हैं;

- लोकसभा में महिलाओं के लिए 33% सीटें आरक्षित ।
- सभी राज्य विधानसभाओं में 33% सीटों का आरक्षण ।
- महिलाओं के लिए आरक्षित सीटों का एक तिहाई हिस्सा अनुसूचित जाति (एससी) और अनुसूचित जनजाति (एसटी) के लिए पहले से आरक्षित सीटों के अंतर्गत है ।
- प्रत्येक परिसीमन अभ्यास के बाद आरक्षित निर्वाचन क्षेत्रों का रोटेशन, जिससे विभिन्न क्षेत्रों में महिलाओं के लिए व्यापक अवसर सुनिश्चित हो सकें।

नवीनतम घटनाक्रम

हालांकि अधिनियम पारित और अधिसूचित हो चुका है, लेकिन इसका कार्यान्वयन कुछ संवैधानिक शर्तों के अधीन है;

- इस अधिनियम के लागू होने के बाद आयोजित होने वाली पहली जनगणना के बाद आरक्षण संबंधी प्रावधान प्रभावी होंगे।
- इसके बाद, महिलाओं के लिए निर्वाचन क्षेत्रों की पहचान करने और उन्हें आरक्षित करने के लिए परिसीमन प्रक्रिया शुरू की जाएगी।
- 2026 तक आरक्षण लागू नहीं किया गया है, और महिलाएं मौजूदा चुनावी ढांचे के तहत चुनाव लड़ना जारी रखे हुए हैं।
- इसके लागू होने का समय जनगणना के पूरा होने और उसके बाद परिसीमन प्रक्रिया पर निर्भर करता है।

आगे बढ़ने का रास्ता

जैसा कि संयुक्त राष्ट्र के पूर्व महासचिव कोफी अन्नान ने बिल्कुल सही कहा था, महिलाओं के सशक्तिकरण से अधिक प्रभावी विकास का कोई साधन नहीं है। भारत जैसे विशाल और विविधतापूर्ण लोकतंत्र में, महिलाओं के लिए सार्थक राजनीतिक प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करना केवल समानता का मामला नहीं है, बल्कि अधिक मजबूत और समावेशी शासन के लिए एक पूर्व शर्त है।

राजनीति में महिलाओं की भागीदारी और नेतृत्व को

बढ़ाने के लिए निम्नलिखित उपाय आवश्यक हैं;

1. महिला आरक्षण अधिनियम का समय पर कार्यान्वयन सुनिश्चित करें ।

जनगणना और परिसीमन प्रक्रियाओं के बाद नारी शक्ति वंदन अधिनियम, 2023 का प्रभावी कार्यान्वयन संसद और राज्य विधानसभाओं में महिलाओं के प्रतिनिधित्व को पर्याप्त रूप से बढ़ाने के लिए महत्वपूर्ण है।

2. राजनीतिक दलों को अधिक महिला उम्मीदवारों को मैदान में उतारने के लिए प्रोत्साहित करें।

राजनीतिक दल चुनावी राजनीति के प्राथमिक प्रवेश द्वार के रूप में कार्य करते हैं। स्वैच्छिक पार्टी कोटा, पारदर्शी उम्मीदवार चयन प्रक्रिया और महिलाओं के लिए नेतृत्व के अवसर प्रतिनिधित्व के अंतर को पाटने में मदद कर सकते हैं।

3. नेतृत्व विकास और क्षमता निर्माण को मजबूत करें।

उच्च राजनीतिक भूमिकाओं के लिए तैयार होने के लिए, महत्वाकांक्षी महिला राजनीतिज्ञों को, विशेष रूप से जमीनी स्तर पर, नियमित प्रशिक्षण, मार्गदर्शन कार्यक्रम और नेतृत्व विकास पहल प्रदान की जानी चाहिए।

4. संरचनात्मक और सामाजिक बाधाओं का समाधान करें।

लैंगिक रूढ़ियों, भेदभावपूर्ण सामाजिक मानदंडों, राजनीतिक हिंसा और वित्तीय बाधाओं से निपटने के प्रयास किए जाने चाहिए जो अक्सर महिलाओं को सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करने से रोकते हैं।

5. स्थानीय प्रशासन से लेकर विधायिकाओं तक एक मजबूत संपर्क प्रणाली का निर्माण करें।

पंचायती राज संस्थाओं में महिलाओं की सफलता आरक्षण के परिवर्तनकारी प्रभाव को दर्शाती है। स्थानीय निकायों से राज्य विधानसभाओं और संसद तक अनुभवी महिला नेताओं के लिए मार्ग प्रशस्त करने से राजनीतिक प्रतिनिधित्व को मजबूती मिल सकती है।

6. अधिक राजनीतिक जागरूकता और नागरिक भागीदारी को बढ़ावा देना।

राजनीतिक साक्षरता, नागरिक शिक्षा और जागरूकता अभियानों का विस्तार करने से अधिक महिलाओं को, विशेष रूप से हाशिए पर रहने वाले समुदायों की महिलाओं को, लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं में सक्रिय रूप से भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है।

7. प्रौद्योगिकी और डिजिटल प्लेटफॉर्म का उपयोग।

डिजिटल उपकरण महिला नेताओं को मतदाताओं से जुड़ने, समर्थन जुटाने, राजनीतिक संसाधनों तक पहुंच बनाने और भागीदारी में आने वाली पारंपरिक बाधाओं को दूर करने में मदद कर सकते हैं।

किसी लोकतंत्र को तभी सही मायने में प्रतिनिधिक माना जा सकता है जब महिलाओं को राष्ट्र के कानूनों, नीतियों और भविष्य को आकार देने में समान अधिकार प्राप्त हो। इसलिए, महिलाओं के राजनीतिक प्रतिनिधित्व को मजबूत करना केवल महिलाओं का मुद्दा नहीं है, बल्कि अधिक समावेशी और न्यायसंगत भारत के लिए एक लोकतांत्रिक अनिवार्यता है।

निष्कर्ष

स्वामी विवेकानन्द का मानना है कि किसी भी राष्ट्र की प्रगति का सर्वोत्तम थर्मामीटर है, वहाँ की महिलाओं की स्थिति। हमें महिलाओं को ऐसी स्थिति में पहुंचाने की कोशिश करनी चाहिए, जहाँ वे अपनी समस्याओं को अपने ढंग से खुद सुलझा सकें। हमारी भूमिका महिलाओं की जिंदगी में उनका उद्धार करने वाले की न होकर उनका साथी बनने और सहयोगी की होनी चाहिए। क्योंकि भारत की महिला इतनी सक्षम है कि वे अपनी समस्याओं को खुद सुलझा सकें। कमी अगर कहीं है तो बस इस बात की, हम एक समाज के तौर पर उनकी काबलियत पर भरोसा करना सीखें। ऐसा करके ही हम भारत को उन्नति के रास्ते पर ले जा पाएंगे। ऐसे में भारतीय राजनैतिक परिवेश में फिलहाल वक्त जो 78 महिला सांसद चुन कर आई हैं उन्हें देश की अन्य महिलाओं कि आवाज को संसद में मजबूती से उठाना चाहिए। इसके साथ ही सालों से सदन में जो महिला आरक्षण बिल लंबित है उसको भी पारित कराने की कोशिश करनी चाहिए और साथ ही महिलाओं से जुड़े समकालीन ज्वलंत मुद्दों को भी सदन में मजबूती से रखें। यदि ये निर्वाचित सांसद इन सभी विषयों को गंभीरता से सदन में उठाती हैं और इस दिशा में कुछ ठोस निर्णय लिया जाता है तो यह देश कि एक बड़े नागरिक वर्ग के साथ न्याय होगा ही साथ ही भारतीय लोकतंत्र को और मजबूती प्रदान करेगा जो देश और समाज सभी के हित में होगा।

संदर्भ

1. शिरिन एम. राय और कैरोल स्पेरी (Shirin M- Rai & Carole Spary – Performing Representation: Women Members in the Indian Parliament) यह पुस्तक भारतीय संसद में महिला सांसदों के प्रतिनिधित्व और उनके प्रदर्शन का विस्तृत विश्लेषण करती है।
2. डॉ. साधना ठाकुर भारतीय राजनीति में महिलाएँ सशक्तिकरण के आयाम। यह पुस्तक हिंदी माध्यम के शोधार्थियों के लिए विशेष उपयोगी है।

3. भारत निर्वाचन आयोग की रिपोर्ट विभिन्न आम चुनावों में महिलाओं की मतदान प्रतिशतता और महिला प्रत्याशियों से जुड़े सांख्यिकीय आंकड़े।
4. नारी शक्ति वंदन अधिनियम, 2023 (128वां संविधान संशोधन विधेयक) संसद और राज्य विधानसभाओं में महिलाओं को 33ः आरक्षण देने से संबंधित दस्तावेज।
5. राय, शिरिन एम. एवं स्पेरी, कैरोल (2019), परफॉर्मिंग रिप्रेजेंटेशन वीमेन मेंबर्स इन द इंडियन पार्लियामेंट, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
6. भारत सरकार (2023), नारी शक्ति वंदन अधिनियम (128वां संवैधानिक संशोधन), विधि एवं न्याय मंत्रालय, नई दिल्ली।
7. दृष्टि आईएएस संपादकीय (2021), लोकतंत्र में महिलाओं का प्रतिनिधित्व, सामाजिक न्याय खंड।

प्रियंका शर्मा
(शोधार्थी),
श्री जेजेटी यूनिवर्सिटी
विद्यानगरी,
झुंझुनू चूरू रोड, चुडेला,
जिला– झुंझुनू राजस्थान

सह–लेखक– डॉ. सुशीला बेदी दुबे
(सह–प्राध्यापक),
गृह विज्ञान विभाग,
श्री जेजेटी यूनिवर्सिटी विद्यानगरी।

2

विनोद बब्बर के गद्य साहित्य की भाषा–शैली एवं शिल्प में सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का अनुशीलन

सुनीता देवी, डॉ. सुनीता सिंह

सारांश

प्रस्तुत शोध–पत्र समकालीन हिंदी गद्यकार विनोद बब्बर के साहित्य में भाषा–शैली तथा शिल्पगत विशेषताओं के माध्यम से अभिव्यक्त सांस्कृतिक चेतना का विश्लेषण करता है। अब तक हुए अधिकांश शोधकार्यों में सांस्कृतिक चेतना का अध्ययन प्रायः विषयवस्तु अथवा कथ्य के स्तर पर ही किया गया है, जबकि प्रस्तुत अध्ययन इस परंपरागत दृष्टिकोण से हटकर भाषिक संरचना, शब्द–चयन, वाक्य–विन्यास, अलंकार–योजना तथा शिल्पगत तकनीकों की सूक्ष्म पड़ताल करता है। अध्ययन में यह प्रतिपादित किया गया है कि विनोद बब्बर की भाषा में तत्सम–तद्भव शब्दावली का संतुलित प्रयोग, व्यंग्यात्मकता, चित्रात्मकता, प्रतीकात्मकता, प्रसंगानुकूल भाषा–प्रयोग तथा लोकतत्व एवं आधुनिकता का सहज समन्वय भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को मूर्त रूप प्रदान करता है। इसी प्रकार वर्णनात्मक, विश्लेषणात्मक, संवादात्मक तथा पूर्वदीप्ति जैसी शिल्पगत पद्धतियों के माध्यम से वे सांस्कृतिक निरंतरता, पारिवारिक मूल्यों तथा मानवतावादी दृष्टिकोण को प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त करते हैं। गुणात्मक विश्लेषण–पद्धति पर आधारित यह अध्ययन विनोद बब्बर की प्रतिनिधि रचनाओं कहानी, निबंध, यात्रा–वृत्तांत तथा व्यंग्य से भाषिक उदाहरणों का चयन कर उनकी शैलीगत विविधता को रेखांकित करता है। निष्कर्षतः यह अध्ययन प्रमाणित करता है कि भाषा स्वयं में सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का एक सशक्त तथा स्वतंत्र माध्यम है, तथा विनोद बब्बर का साहित्य परंपरा और आधुनिकता के बीच एक संतुलित सेतु का निर्माण करता है, जो हिंदी गद्य साहित्य में भाषा–केंद्रित सांस्कृतिक विश्लेषण की एक नई दिशा प्रस्तुत करता है।

मुख्य शब्दः विनोद बब्बर, भाषा–शैली, शिल्प, सांस्कृतिक चेतना, हिंदी गद्य साहित्य, यात्रा–वृत्तांत, व्यंग्य, लोकतत्व, आधुनिकता, प्रतीकात्मकता

प्रस्तावना

साहित्य किसी भी युग की सामाजिक, सांस्कृतिक और मानसिक अवस्थाओं का सजीव दस्तावेज़ होता है। जो रचनाकार अपने युग की चेतना को गहराई से पहचानता है, वही अपनी रचनाओं के माध्यम से समाज की आत्मा को अभिव्यक्त कर पाता है। भाषा–शैली और शिल्प किसी भी रचनाकार की वैचारिक गहराई और सांस्कृतिक दृष्टि को मूर्त रूप देने के प्रमुख माध्यम होते हैं। भाषा केवल संप्रेषण का साधन नहीं, बल्कि संस्कृति की वाहिका भी होती है, जिसके माध्यम से किसी समाज के मूल्य, परंपराएँ, विश्वास और जीवन–दृष्टि पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तांतरित होती रहती है। इसी दृष्टि से किसी रचनाकार की भाषा–शैली का अध्ययन उसकी सांस्कृतिक चेतना को समझने का एक सशक्त माध्यम बन जाता है। समकालीन हिंदी गद्य साहित्य में विनोद बब्बर का नाम एक विशिष्ट स्थान रखता है। कथाकार, निबंधकार, यात्रा–वृत्तांत लेखक, संपादक और व्यंग्यकार के रूप में उनकी बहुआयामी प्रतिभा ने हिंदी साहित्य को समृद्ध किया है (बब्बर, चेतना के स्वर 11)। उनकी रचनाओं में केवल विषयवस्तु ही नहीं, बल्कि भाषा के प्रयोग, वाक्य–गठन, शब्द–चयन तथा शैलीगत विविधता में भी भारतीय संस्कृति की गहरी छाप दिखाई देती है। भाषा और शिल्प के स्तर पर वे परंपरा और आधुनिकता के बीच एक सजीव सेतु का निर्माण करते प्रतीत होते हैं।

प्रस्तुत शोध–पत्र का उद्देश्य विनोद बब्बर के गद्य साहित्य में प्रयुक्त भाषा–शैली तथा शिल्पगत विशेषताओं का विश्लेषण करते हुए यह स्पष्ट करना है कि किस प्रकार भाषा और शिल्प के माध्यम से उनकी रचनाओं में सांस्कृतिक चेतना अभिव्यक्त होती है। यह अध्ययन केवल विषयगत विश्लेषण तक सीमित नहीं है, अपितु भाषिक संरचना, शब्द–भंडार, मुहावरों–लोकोक्तियों के प्रयोग तथा विभिन्न शैलीगत प्रवृत्तियों की गहन पड़ताल करता है, ताकि यह प्रमाणित हो सके कि भाषा स्वयं में सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम है।

हिंदी साहित्य में अब तक हुए अधिकांश शोधकार्यों में सांस्कृतिक चेतना का विश्लेषण मुख्यतः कथ्य, विषयवस्तु तथा पात्र–योजना के स्तर पर ही किया जाता रहा है। भाषा और शिल्प को प्रायः द्वितीयक स्थान दिया जाता रहा है, जबकि वास्तविकता यह है कि किसी भी रचना की सांस्कृतिक पहचान उसकी भाषिक बनावट में ही सर्वाधिक स्पष्टता से उजागर होती है। शब्दों का चयन, वाक्य–विन्यास, मुहावरों का प्रयोग तथा वर्णन की पद्धति ये सभी तत्व मिलकर किसी रचनाकार की सांस्कृतिक जड़ों को प्रकट करते हैं। इसी अंतराल को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत अध्ययन भाषा–केंद्रित दृष्टिकोण अपनाकर विनोद बब्बर के साहित्य की एक नवीन व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास करता है।

यह शोध–पत्र गुणात्मक विश्लेषण–पद्धति पर आधारित है, जिसमें विनोद बब्बर की प्रतिनिधि रचनाओं से भाषिक उदाहरणों का चयन कर उनकी शैलीगत तथा शिल्पगत विशेषताओं की व्याख्या की गई है। इस प्रक्रिया में साहित्यिक आलोचना की स्थापित पद्धतियों का सहारा लेते हुए यह प्रयास किया गया है कि

विश्लेषण तथ्यपरक, वस्तुनिष्ठ तथा प्रामाणिक बना रहे।

अध्ययन की संरचना इस प्रकार व्यवस्थित की गई है कि पहले विनोद बब्बर के व्यक्तित्व तथा साहित्यिक अवदान का परिचय प्रस्तुत किया जाए, तत्पश्चात भाषा–शैली की सैद्धांतिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट करते हुए उनके साहित्य में भाषिक तथा शिल्पगत विशेषताओं का विस्तृत विश्लेषण किया जाए। अंततः इस विश्लेषण के आधार पर यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया जाएगा कि भाषा–शैली और शिल्प के माध्यम से सांस्कृतिक चेतना किस प्रकार मूर्त रूप ग्रहण करती है।

विनोद बब्बरः व्यक्तित्व और साहित्यिक अवदान

विनोद बब्बर का जन्म 1 जुलाई 1950 को दिल्ली के नांगल गाँव में हुआ। विभाजन की त्रासदी झेल चुके एक मध्यमवर्गीय परिवार में जन्म लेने के कारण उनके बचपन में संघर्ष और सीमित साधनों का वातावरण स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहा (बब्बर, चेतना के स्वर 14)। इसी संघर्षशील परिवेश ने उनकी संवेदनशीलता को गहराई प्रदान की, जो आगे चलकर उनके साहित्य में मानवीय पीड़ा, सामाजिक विसंगति और सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति गहरी निष्ठा के रूप में प्रकट हुई।

विनोद बब्बर की साहित्यिक यात्रा अत्यंत विस्तृत और विविधतापूर्ण रही है। व्यंग्य–संग्रह ज्येष्ठ में बसंत, जूतों का संसैक्स, कहानी–संग्रह पीर पराई, फटा कोट, यात्रा–वृत्तांत इब्सन के देश में, इंद्रप्रस्थ से रोम तक, निबंध–संग्रह लक्ष्मणरेखा, चेतना के स्वर जैसी रचनाएँ उनके बहुआयामी लेखन का प्रमाण हैं। इन रचनाओं में विषय की विविधता के साथ–साथ भाषा और शिल्प के स्तर पर भी निरंतर प्रयोगधर्मिता देखने को मिलती है।

उनकी रचनाओं में भारतीय संस्कृति के प्रति गहरा अनुराग स्पष्ट झलकता है। विदेश–यात्राओं के अनुभवों को उन्होंने जिस भाषा में अभिव्यक्त किया है, उसमें भारतीयता की सुगंध सर्वत्र विद्यमान रहती है। साहित्य अकादमी सहित अनेक राष्ट्रीय–अंतरराष्ट्रीय सम्मानों से विभूषित विनोद बब्बर की भाषा–दृष्टि उनके गहन अध्ययन, चिंतनशीलता तथा घुमक्कड़ स्वभाव का परिणाम है (द्विवेदी 56)। यही कारण है कि उनकी भाषा में जीवंतता, प्रवाह और सांस्कृतिक गहराई एक साथ दिखाई देती है।

विनोद बब्बर का बचपन संयुक्त परिवार के वातावरण में बीता, जहाँ पाँच भाइयों में सबसे छोटे होने के कारण वे विशेष स्नेह के पात्र रहे। परिवार की भाषिक विविधता जिसमें उर्दू, गुरुमुखी, फारसी और अंग्रेज़ी का ज्ञान रखने वाले पिता तथा हिंदी, पंजाबी और उर्दू में पारंगत माता का प्रभाव सम्मिलित था ने उनके भीतर बहुभाषिक संवेदनशीलता का बीजारोपण किया। यही बहुभाषिक संस्कार आगे चलकर उनकी रचनाओं में शब्द–चयन की विविधता और भाषिक लचीलेपन के रूप में परिलक्षित हुआ।

पत्रकारिता के क्षेत्र में भी विनोद बब्बर का योगदान उल्लेखनीय रहा है। संपादक तथा स्तंभकार के रूप में उन्होंने जिस स्पष्ट, प्रभावी तथा जनसंचार–अनुकूल भाषा का प्रयोग किया, उसका प्रभाव उनके साहित्यिक लेखन में भी स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। पत्रकारिता की संक्षिप्तता और सटीकता ने उनके गद्य को अनावश्यक विस्तार से मुक्त रखते हुए भावाभिव्यक्ति को अधिक प्रभावशाली बनाया है।

हिंदी भाषा तथा देवनागरी लिपि के प्रचार–प्रसार हेतु पूर्वोत्तर भारत में की गई उनकी सक्रिय भागीदारी भी उल्लेखनीय है। इस कार्य ने उन्हें विविध भाषिक–सांस्कृतिक परिवेशों से प्रत्यक्ष परिचय कराया, जिसका प्रभाव उनकी रचनाओं में क्षेत्रीय संस्कृतियों के प्रति संवेदनशील तथा समावेशी दृष्टिकोण के रूप में देखा जा सकता है।

सोलह से अधिक देशों की साहित्यिक–सांस्कृतिक यात्राओं के अनुभव ने उनकी भाषा को अंतरराष्ट्रीय दृष्टिकोण से समृद्ध किया है। इन यात्राओं के दौरान विभिन्न संस्कृतियों से हुए साक्षात्कार ने उनकी भाषा में तुलनात्मक चेतना का समावेश किया, जिससे वे भारतीय संस्कृति की विशिष्टताओं को अधिक स्पष्टता तथा गहराई के साथ अभिव्यक्त करने में सक्षम हुए। यही कारण है कि उनके यात्रा–वृत्तांतों की भाषा में एक साथ वैश्विक दृष्टि तथा भारतीय अस्मिता का समन्वय दिखाई देता है।

भाषा–शैली की सैद्धांतिक पृष्ठभूमि

भाषा किसी भी साहित्यिक कृति की आत्मा होती है। यह केवल विचारों के आदान–प्रदान का माध्यम नहीं, बल्कि रचनाकार की संवेदना, दृष्टिकोण और सांस्कृतिक पहचान का भी वाहक होती है। शैली शब्द की व्युत्पत्ति भाषा–प्रयोग की उस विशिष्ट पद्धति से जुड़ी है, जिसके माध्यम से रचनाकार अपने भावों और विचारों को प्रभावशाली रूप में व्यक्त करता है। रामधारी सिंह दिनकर के अनुसार संस्कृति का विकास भाषा और साहित्य के माध्यम से ही संभव होता है, क्योंकि भाषा ही वह सेतु है जो अतीत को वर्तमान से जोड़ती है (दिनकर 22)।

शैली में भाषा–प्रयोग, वाक्य–रचना, शब्द–चयन, अलंकार–योजना तथा वर्णन–पद्धति जैसे अनेक तत्व सम्मिलित होते हैं। किसी भी रचनाकार की शैली उसके व्यक्तित्व, विचारधारा तथा सांस्कृतिक संस्कारों से गहराई से जुड़ी होती है। भारतीय काव्यशास्त्र में शैली को रस, अलंकार और गुण के आधार पर परखा गया है, वहीं पाश्चात्य आलोचना–दृष्टि में शैली

को रचनाकार की वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति माना गया है। गैरोला के अनुसार भाषा और संस्कृति का संबंध इतना गहन है कि भाषा के अध्ययन के बिना किसी समाज की सांस्कृतिक पहचान को पूर्णतः समझना असंभव है (गैरोला 31)।

शिल्प के अंतर्गत रचना की संरचनात्मक विशेषताएँ, वर्णन–शैली, संवाद–योजना तथा प्रस्तुतीकरण की तकनीक सम्मिलित होती हैं। शिल्पगत कुशलता किसी रचनाकार की सृजनात्मक परिपक्वता का परिचायक होती है। जब भाषा और शिल्प दोनों मिलकर किसी सांस्कृतिक चेतना को अभिव्यक्त करते हैं, तब वह रचना केवल कलात्मक दृष्टि से ही नहीं, बल्कि सामाजिक–सांस्कृतिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हो जाती है। विनोद बब्बर के साहित्य में यह समन्वय विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है।

आलोचना के क्षेत्र में भोलानाथ चतुर्वेदी के मत को स्मरण करना उपयुक्त होगा, जिन्होंने समीक्षक के लिए निष्पक्षता, गहन अध्ययन तथा राग–द्वेष से मुक्त दृष्टिकोण को अनिवार्य माना है (चतुर्वेदी 61)। इसी कसौटी पर जब विनोद बब्बर की भाषा–शैली का मूल्यांकन किया जाता है, तो यह स्पष्ट होता है कि उनकी भाषा में न तो कृत्रिमता है और न ही अनावश्यक अलंकरण, बल्कि एक स्वाभाविक प्रवाह तथा सांस्कृतिक गहराई विद्यमान है, जो पाठक को सहज ही आकर्षित करती है।

भाषा और संस्कृति के इस अंतर्संबंध को समझने के लिए यह भी आवश्यक है कि हम शब्द–भंडार, वाक्य–रचना तथा अलंकार–योजना के साथ–साथ मौन, विराम तथा लय जैसे सूक्ष्म भाषिक तत्वों पर भी ध्यान दें, क्योंकि यही सूक्ष्म तत्व किसी रचनाकार की वैयक्तिक शैली को उसके समकालीनों से पृथक करते हैं। विनोद बब्बर के गद्य में इन सूक्ष्म तत्वों का सुसंगत प्रयोग उनकी भाषिक परिपक्वता का प्रमाण है।

उल्लेखनीय है कि भाषा–शैली का अध्ययन साहित्यिक समाजशास्त्र की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है, क्योंकि भाषा किसी समाज की सामूहिक चेतना का प्रतिनिधित्व करती है। जब कोई रचनाकार अपनी भाषा में लोकजीवन के शब्दों, मुहावरों तथा सांस्कृतिक संदर्भों को समाहित करता है, तो वह न केवल अपनी वैयक्तिक अभिव्यक्ति को समृद्ध करता है, बल्कि सामूहिक सांस्कृतिक स्मृति के संरक्षण में भी योगदान देता है। इसी परिप्रेक्ष्य में विनोद बब्बर के साहित्य का अध्ययन विशेष महत्व रखता है।

विनोद बब्बर के गद्य साहित्य में भाषा–प्रयोग की विशेषताएँ

विनोद बब्बर की भाषा में तत्सम, तद्भव, देशज तथा विदेशी शब्दों का सहज और संतुलित समन्वय दिखाई देता है। जहाँ गंभीर सांस्कृतिक और आध्यात्मिक विषयों के वर्णन में वे तत्सम शब्दावली का प्रयोग करते हैं, वहीं सामाजिक जीवन के चित्रण में तद्भव तथा लोकभाषा के शब्दों को अपनाकर भाषा को जीवंत बना देते हैं। इस प्रकार की भाषिक बहुलता उनकी रचनाओं को एक साथ गंभीर और सुबोध बनाती है (बब्बर, भाषा और संस्कृति 27)।

उनकी भाषा में व्यंग्यात्मकता एक प्रमुख विशेषता के रूप में उभरती है। सामाजिक विसंगतियों, राजनीतिक विडंबनाओं तथा मानवीय दुर्बलताओं पर उन्होंने तीखे किंतु संयत व्यंग्य के माध्यम से प्रहार किया है। ज्येष्ठ में बसंत तथा जूतों का संसैक्स जैसी रचनाओं में यह व्यंग्यात्मक भाषा–शैली स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है, जिसमें हास्य के साथ–साथ गहरी सामाजिक चेतना भी अंतर्निहित रहती है (बब्बर, ज्येष्ठ में बसंत 18)।

चित्रात्मकता और बिंबात्मकता विनोद बब्बर की भाषा की एक और उल्लेखनीय विशेषता है। यात्रा–वृत्तांतों में विशेष रूप से यह गुण प्रखर रूप में सामने आता है, जहाँ वे किसी स्थान, प्रकृति–दृश्य अथवा सांस्कृतिक अवसर का इतना सजीव चित्रण करते हैं कि पाठक स्वयं को उस दृश्य के मध्य अनुभव करने लगता है। इब्सन के देश में रचना में नॉर्वे की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के वर्णन में यह चित्रात्मक भाषा–शैली विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है (बब्बर, इब्सन के देश में 42)।

प्रतीकात्मक भाषा का प्रयोग भी उनकी रचनाओं में विशेष महत्व रखता है। दधीचि ऋषि, दीपक जैसे प्रतीकों के माध्यम से उन्होंने त्याग, बलिदान और निःस्वार्थ सेवा जैसे सांस्कृतिक मूल्यों को अत्यंत प्रभावी ढंग से अभिव्यक्त किया है। इस प्रकार के प्रतीक न केवल भाषा को काव्यात्मक सौंदर्य प्रदान करते हैं, बल्कि भारतीय सांस्कृतिक चिंतन की गहराई को भी उजागर करते हैं (उपाध्याय 39)।

प्रसंगानुकूल तथा पात्रानुकूल भाषा–प्रयोग विनोद बब्बर के शिल्प–कौशल का प्रमाण है। कथा–साहित्य में विभिन्न सामाजिक स्तरों, आयु–वर्गों तथा क्षेत्रीय पृष्ठभूमियों के पात्रों की भाषा में जो विविधता दिखाई देती है, वह उनकी सूक्ष्म सामाजिक दृष्टि और भाषिक संवेदनशीलता को प्रकट करती है। मुहावरों तथा लोकोक्तियों का सटीक प्रयोग उनकी भाषा को लोकजीवन से जोड़ते हुए सांस्कृतिक प्रामाणिकता प्रदान करता है (मिश्र 64)। शब्द–पुनरुक्ति तथा संयुक्त शब्दों का प्रयोग विनोद बब्बर की भाषा को लयात्मकता प्रदान करता है। भावनात्मक तीव्रता को व्यक्त करने के लिए वे प्रायः शब्दों की आवृत्ति का सहारा लेते हैं,

जिससे वाक्य में एक विशेष प्रकार का आवेग तथा संगीतात्मकता उत्पन्न होती है। इसके साथ ही संयुक्त शब्दों के माध्यम से वे जटिल भावों को संक्षिप्त किंतु प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त करने में सफल होते हैं, जो उनकी भाषिक मितव्ययिता का परिचायक है।

काव्यात्मक भाषा का प्रयोग भी विनोद बब्बर के गद्य की विशेषता है। यद्यपि वे मूलतः गद्यकार हैं, किंतु उनके निबंधों तथा यात्रा–वृत्तांतों में स्थान–स्थान पर काव्यात्मक लय और भावुकता से युक्त वाक्य मिलते हैं, जो गद्य और पद्य की सीमाओं को धुँधला करते प्रतीत होते हैं। इस प्रकार की भाषा प्रकृति–सौंदर्य तथा आध्यात्मिक अनुभूतियों के वर्णन में विशेष रूप से प्रभावी सिद्ध होती है, जिससे सांस्कृतिक भावबोध और गहरा होकर पाठक तक पहुँचता है।

इसके अतिरिक्त, अंग्रेज़ी तथा अन्य विदेशी शब्दों का सीमित किंतु सुविचारित प्रयोग उनकी भाषा को समकालीनता प्रदान करता है, बिना उसकी भारतीयता को क्षति पहुँचाए। यह संतुलन दर्शाता है कि विनोद बब्बर वैश्वीकरण के प्रभावों से अनभिज्ञ नहीं हैं, किंतु वे अपनी भाषिक जड़ों से जुड़े रहते हुए ही नवीनता को आत्मसात करते हैं, जो उनकी सांस्कृतिक दृष्टि की परिपक्वता को उजागर करता है।

वाक्य–रचना के स्तर पर विनोद बब्बर सामान्यतः सरल तथा मध्यम लंबाई के वाक्यों का प्रयोग करते हैं, जिससे भाषा में स्पष्टता तथा सुबोधता बनी रहती है। किंतु जहाँ गहन दार्शनिक अथवा सांस्कृतिक विषयों की चर्चा होती है, वहाँ वे जटिल तथा मिश्रित वाक्य–रचनाओं का सहारा लेकर विचारों की गहराई को समुचित रूप से व्यक्त करते हैं। इस प्रकार वाक्य–रचना में भी विषयानुरूप लचीलापन उनकी भाषिक कुशलता का परिचायक है।

अलंकार–योजना की दृष्टि से भी उनकी भाषा उल्लेखनीय है। उपमा, रूपक तथा दृष्टांत जैसे अलंकारों का प्रयोग करते हुए वे अमूर्त सांस्कृतिक तथा नैतिक अवधारणाओं को सुबोध तथा सुग्राह्य बना देते हैं। उदाहरणार्थ, दीपक के स्वयं जलकर प्रकाश फैलाने के दृष्टांत के माध्यम से त्याग की भावना को जिस सहजता से उन्होंने व्यक्त किया है, वह उनकी अलंकार–योजना की सूक्ष्मता का प्रमाण है।

शिल्पगत विशेषताएँ और सांस्कृतिक चेतना का अंतर्गुम्फन

विनोद बब्बर के शिल्प–विधान में वर्णनात्मक, पूर्वदीप्ति, विश्लेषणात्मक तथा संवादात्मक शैलियों का सुंदर समन्वय दिखाई देता है। वर्णनात्मक शैली का प्रयोग विशेष रूप से यात्रा–वृत्तांतों में होता है, जहाँ स्थान, परिवेश तथा सांस्कृतिक घटनाओं का विस्तृत तथा क्रमबद्ध चित्रण मिलता है। इसके विपरीत, कहानियों में पूर्वदीप्ति शैली के माध्यम से अतीत की स्मृतियों को वर्तमान से जोड़कर सांस्कृतिक निरंतरता को दर्शाया गया है (नागेंद्र 47)।

विश्लेषणात्मक शैली उनके निबंध–साहित्य में प्रमुखता से दिखाई देती है। लक्ष्मणरेखा तथा चेतना के स्वर जैसे निबंध–संग्रहों में सामाजिक–सांस्कृतिक विषयों का तार्किक विश्लेषण करते हुए वे पाठकों को चिंतन की दिशा प्रदान करते हैं। इस शैली में तर्क, उदाहरण तथा सांस्कृतिक संदर्भों का समुचित संयोजन उनके शिल्प–कौशल की गहनता को दर्शाता है (बब्बर, लक्ष्मणरेखा 22)।

संवादात्मक शैली का प्रयोग कथा–साहित्य में पात्रों के मनोभावों तथा सामाजिक संबंधों को उजागर करने के लिए किया गया है। संवादों की स्वाभाविकता तथा संक्षिप्तता कथा को गतिशील बनाती है, साथ ही पात्रों के माध्यम से सांस्कृतिक मूल्यों तथा पारिवारिक संबंधों की जटिलताओं को भी उजागर करती है। इस प्रकार शिल्प के विभिन्न स्तर मिलकर सांस्कृतिक चेतना की बहुआयामी अभिव्यक्ति को संभव बनाते हैं।

यह उल्लेखनीय है कि विनोद बब्बर के शिल्प में पश्चिमी और भारतीय संस्कृति के तुलनात्मक चित्रण की तकनीक भी विशेष महत्व रखती है। परिवार, संबंध तथा सामाजिक मूल्यों के संदर्भ में दोनों संस्कृतियों की तुलना करते हुए वे भारतीय पारिवारिक व्यवस्था की श्रेष्ठता को रेखांकित करते हैं, किंतु इस तुलना में कहीं भी संकीर्णता अथवा पूर्वाग्रह की झलक नहीं मिलती, बल्कि एक संतुलित तथा चिंतनशील दृष्टिकोण दिखाई देता है (चतुर्वेदी 58)।

शिल्प की एक और महत्वपूर्ण विशेषता उनके द्वारा प्रयुक्त बिंब–योजना है। प्रकृति, त्योहार, अनुष्ठान तथा पारिवारिक जीवन के दृश्यों को वे इस प्रकार बिंबों में ढालते हैं कि पाठक के मानस–पटल पर एक स्थायी छाप छूट जाती है। यह बिंब–योजना केवल सौंदर्यात्मक प्रयोजन तक सीमित नहीं रहती, बल्कि सांस्कृतिक स्मृतियों को पुनर्जीवित करने का माध्यम भी बन जाती है, जिससे पाठक अपनी सांस्कृतिक जड़ों के प्रति पुनः सजग होता है।

इसके अतिरिक्त, विनोद बब्बर के शिल्प में विडंबना तथा विरोधाभास की तकनीक का भी कुशल प्रयोग मिलता है। आधुनिक जीवन–शैली और पारंपरिक मूल्यों के बीच उत्पन्न द्वंद्व को वे प्रायः विरोधाभासी स्थितियों के माध्यम से उजागर करते हैं, जैसे संतानों के होते हुए भी वृद्ध माता–पिता की उपेक्षा का चित्रण। यह तकनीक पाठक के भीतर आत्ममंथन की प्रक्रिया को

जाग्रत करती है और सांस्कृतिक क्षरण के प्रति सजगता उत्पन्न करती है।

संक्षेपण तथा सारगर्भिता भी उनके शिल्प की उल्लेखनीय विशेषता है। विस्तृत विवरणों के स्थान पर वे प्रायः संक्षिप्त किंतु सारगर्भित वाक्यों के माध्यम से गहन सांस्कृतिक सत्यों को अभिव्यक्त करते हैं, जैसे कि उनकी यह उक्ति कि स्वयं परिश्रम कर दूसरों को भी सुख पहुँचाना ही सच्ची भारतीयता है। ऐसे संक्षिप्त किंतु प्रभावशाली कथन उनके साहित्य को सूक्ति–सदृश गुणवत्ता प्रदान करते हैं, जो पाठक के स्मृति–पटल पर दीर्घकाल तक अंकित रहते हैं।

शीर्षक–चयन की कला भी विनोद बब्बर के शिल्प–कौशल का एक महत्वपूर्ण पक्ष है। फटा कोट, जूतों का संसैक्स, लक्ष्मणरेखा जैसे शीर्षक साधारण प्रतीत होते हुए भी गूढ़ सांस्कृतिक तथा सामाजिक अर्थों को समेटे रहते हैं। इस प्रकार के शीर्षक पाठक की जिज्ञासा जाग्रत करते हुए रचना के मूल भाव की ओर संकेत करते हैं, जो शिल्प–निर्माण की एक सूक्ष्म किंतु प्रभावी तकनीक है।

आरंभ तथा अंत की योजना भी उनके शिल्प में विशेष महत्व रखती है। अनेक रचनाओं में वे किसी सांस्कृतिक प्रश्न अथवा जिज्ञासा से आरंभ करते हैं और अंत में उसका समाधान अथवा चिंतनपरक निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं। यह वृत्ताकार संरचना पाठक को न केवल बौद्धिक संतुष्टि प्रदान करती है, बल्कि रचना की सांस्कृतिक चेतना को भी सुसंगठित रूप में स्थापित करती है।

विधागत विविधता में शैलीगत प्रयोग

विनोद बब्बर ने कहानी, निबंध, यात्रा–वृत्तांत, व्यंग्य तथा संस्मरण जैसी विविध विधाओं में लेखन किया है, और प्रत्येक विधा में उन्होंने भाषा–शैली को उस विधा की आवश्यकताओं के अनुरूप ढाला है। यात्रा–वृत्तांतों में वर्णनात्मकता तथा भावुकता का समन्वय, निबंधों में तार्किकता तथा गंभीरता, और व्यंग्य–रचनाओं में तीक्ष्णता तथा कटाक्ष की प्रधानता स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।

फटा कोट जैसी कहानी–संग्रह की रचनाओं में सहज, आत्मीय तथा संवेदनशील भाषा–शैली के माध्यम से मानवीय संबंधों की जटिलताओं को उजागर किया गया है। इस संग्रह का गुजराती भाषा में भी अनूदित होना उनकी भाषा की सार्वभौमिक संप्रेषणीयता का प्रमाण है (बब्बर, फटा कोट 9)। यह तथ्य इस बात को भी रेखांकित करता है कि उनकी रचनाओं में अभिव्यक्त सांस्कृतिक चेतना क्षेत्रीय सीमाओं से परे जाकर व्यापक पाठक–वर्ग को प्रभावित करने की क्षमता रखती है।

यात्रा–साहित्य में विनोद बब्बर की भाषा–शैली विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इंद्रप्रस्थ से रोम तक में उन्होंने भारतीय तथा यूरोपीय सांस्कृतिक परंपराओं के तुलनात्मक विवरण के माध्यम से भाषा को न केवल सूचनात्मक, बल्कि भावनात्मक स्तर पर भी समृद्ध किया है। इस विधा में उनकी भाषा में जिज्ञासा, आश्चर्य तथा सांस्कृतिक सजगता का अद्‌भुत सम्मिश्रण दिखाई देता है (राय 71)।

निबंध–विधा में विनोद बब्बर की भाषा अधिक संयत, तार्किक तथा उद्देश्यपरक हो जाती है। यहाँ शैली में विचारों की स्पष्टता तथा तर्कसंगत प्रस्तुतीकरण को प्राथमिकता दी गई है, जो पाठकों को गंभीर चिंतन की ओर प्रेरित करता है। इस प्रकार, विधागत आवश्यकताओं के अनुरूप भाषा–शैली में परिवर्तन लाने की क्षमता विनोद बब्बर के शिल्प–कौशल की एक विशिष्ट पहचान है।

व्यंग्य–विधा में उनकी भाषा तीक्ष्ण, चुटीली तथा कटाक्षपूर्ण हो जाती है, जिसमें शब्दों के दोहरे अर्थों तथा वाक्य–विन्यास की चतुराई के माध्यम से सामाजिक विसंगतियों पर करारा प्रहार किया जाता है। इसके विपरीत, संस्मरण–लेखन में भाषा अधिक आत्मीय, संवेदनशील तथा स्मृति–प्रधान हो जाती है, जहाँ अतीत के अनुभवों को वर्तमान से जोड़ते हुए एक भावनात्मक सेतु का निर्माण किया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक विधा में भाषा का यह रूपांतरण विनोद बब्बर की सृजनात्मक बहुमुखिता को प्रमाणित करता है।

यह भी उल्लेखनीय है कि विधागत विविधता के बावजूद उनकी भाषा में एक आंतरिक एकसूत्रता सदैव विद्यमान रहती है, जो सांस्कृतिक चेतना के रूप में प्रकट होती है। चाहे वे व्यंग्य लिख रहे हों, यात्रा–वृत्तांत रच रहे हों अथवा निबंध का प्रणयन कर रहे हों, भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी निष्ठा तथा मानवीय मूल्यों के प्रति उनकी संवेदनशीलता भाषा के प्रत्येक रूप में एक समान रूप से परिलक्षित होती है।

माँगे सबकी खैर जैसी कथा–रचनाओं में भाषा की सहजता तथा आत्मीयता के माध्यम से सामान्य जन के जीवन–संघर्षों को जिस प्रामाणिकता से चित्रित किया गया है, वह उनकी भाषिक संवेदनशीलता का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसी प्रकार कन्या भुण–हत्या जैसे संवेदनशील सामाजिक विषय पर आधारित अजन्मी चीख में भाषा की पीड़ा–प्रधान गंभीरता स्पष्ट रूप से अनुभव की जा सकती है, जहाँ शब्दों का चयन विषय की करुणा के अनुरूप अत्यंत सतर्कता से किया गया प्रतीत होता है।

भाषा–शिल्प में लोकतत्व और आधुनिकता का समन्वय

विनोद बब्बर के गद्य साहित्य की एक विशिष्ट पहचान

यह है कि उसमें लोकजीवन के तत्व तथा आधुनिक चेतना का सहज समन्वय दिखाई देता है। लोकोक्तियाँ, मुहावरे, ग्रामीण परिवेश के शब्द तथा पारंपरिक सूक्तियाँ उनकी भाषा में इस प्रकार पिरोई गई हैं कि वे कृत्रिम प्रतीत नहीं होतीं, बल्कि पाठक को अपनी मिट्टी से जुड़ाव का अनुभव कराती हैं। यह लोकतत्व उनके साहित्य को अभिजात्य वर्ग तक सीमित न रखकर व्यापक जनसमुदाय तक पहुँचाने में सहायक सिद्ध होता है (कौशिक 88)। दूसरी ओर, आधुनिक जीवन–शैली, वैश्वीकरण के प्रभाव तथा तकनीकी परिवर्तनों से जुड़े विषयों का चित्रण करते समय उनकी भाषा अधिक समकालीन तथा प्रत्यक्ष हो जाती है। इस प्रकार परंपरा और आधुनिकता के बीच निरंतर आवाजाही करने वाली उनकी भाषा–शैली यह प्रमाणित करती है कि सांस्कृतिक चेतना कोई स्थिर अथवा अपरिवर्तनीय संरचना नहीं, बल्कि एक गतिशील प्रक्रिया है, जो समय के साथ नए रूप ग्रहण करती रहती है।

हरियाणा तथा उत्तर भारत के ग्रामीण जीवन से जुड़े शब्दों तथा अभिव्यक्तियों का प्रयोग भी उनकी रचनाओं में विशेष महत्व रखता है। इस क्षेत्रीय भाषिक तत्व के माध्यम से वे न केवल अपनी जड़ों से जुड़ाव प्रदर्शित करते हैं, बल्कि क्षेत्रीय संस्कृति की समृद्धि को भी राष्ट्रीय पटल पर प्रस्तुत करते हैं (सांगवान 102)। यह क्षेत्रीयता उनके साहित्य को स्थानीयता और वैश्विकता के बीच एक सेतु के रूप में स्थापित करती है।

इस समन्वय की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें कहीं भी वैचारिक द्वंद्व अथवा असंगति दिखाई नहीं देती। विनोद बब्बर परंपरा को अंधानुकरण के रूप में नहीं, बल्कि जीवंत मूल्य–व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत करते हैं, वहीं आधुनिकता को पूर्णतः अस्वीकार करने के स्थान पर उसके उपयोगी पक्षों को आत्मसात करने की वकालत करते हैं। भाषा के स्तर पर यह संतुलित दृष्टिकोण तत्सम–तद्भव तथा देशज–वैश्विक शब्दावली के सहअस्तित्व के रूप में प्रकट होता है, जो उनके साहित्य को समकालीन प्रासंगिकता प्रदान करता है।

भाषा–शैली एवं शिल्प द्वारा सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का मूल्यांकन

विनोद बब्बर की भाषा–शैली और शिल्प का समग्र मूल्यांकन करने पर यह स्पष्ट होता है कि उनके साहित्य में भाषा केवल अभिव्यक्ति का साधन नहीं, बल्कि सांस्कृतिक मूल्यों की संवाहिका भी है। शब्द–चयन से लेकर वाक्य–रचना तक, प्रत्येक भाषिक तत्व में भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी गहरी निष्ठा प्रतिबिंबित होती है। भाषा के इस सांस्कृतिक आयाम को समझे बिना उनकी रचनाओं का समग्र मूल्यांकन अधूरा रह जाएगा (सुजाता 83)।

पूर्ववर्ती शोधकार्यों में सांस्कृतिक चेतना का विश्लेषण प्रायः विषयवस्तु के स्तर पर ही किया गया है, जैसा कि उपेंद्रनाथ अश्क, नासिरा शर्मा तथा चित्रा मुद्गल के साहित्य पर हुए अध्ययनों में देखा जा सकता है (ज्योत्स्ना 34; मीणा 61)। इसके विपरीत, प्रस्तुत अध्ययन भाषा–शैली और शिल्प के स्तर पर सांस्कृतिक अभिव्यक्ति की पड़ताल करता है, जो इस क्षेत्र में एक नवीन और महत्वपूर्ण दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। यह दृष्टिकोण इस बात को रेखांकित करता है कि सांस्कृतिक चेतना केवल कथ्य में ही नहीं, बल्कि भाषा की संरचना और शिल्प की बारीकियों में भी अंतर्निहित होती है।

एकता रानी के अध्ययन में सांस्कृतिक विस्थापन को भाषा तथा जीवनशैली में आए परिवर्तनों के संदर्भ में विश्लेषित किया गया है (रानी 19)। इसी प्रकार, विनोद बब्बर के साहित्य में भी भाषा के माध्यम से सांस्कृतिक निरंतरता और परिवर्तन के द्वंद्व को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है, जहाँ पश्चिमी प्रभाव के बावजूद भारतीय भाषिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति उनकी प्रतिबद्धता अडिग बनी रहती है।

इस प्रकार, विनोद बब्बर के गद्य साहित्य में भाषा–शैली और शिल्प का अध्ययन यह प्रमाणित करता है कि किसी रचनाकार की भाषिक संरचना उसकी सांस्कृतिक चेतना का दर्पण होती है। उनकी रचनाओं में भाषा की जीवंतता, शिल्प की विविधता तथा सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति अटूट निष्ठा एक साथ मिलकर हिंदी गद्य साहित्य को एक नई ऊँचाई प्रदान करती है।

सामाजिक सरोकार की दृष्टि से भी विनोद बब्बर की भाषा–शैली महत्वपूर्ण है, क्योंकि वह पाठकों को केवल सूचित ही नहीं करती, बल्कि सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति संवेदनशील भी बनाती है। नारी–चेतना, दलित–चेतना, सांप्रदायिक सद्भाव तथा मानवतावादी दृष्टिकोण जैसे विषयों को जिस भाषिक संयम तथा गरिमा के साथ उन्होंने प्रस्तुत किया है, वह उनकी सामाजिक उत्तरदायित्व–बोध को भी उजागर करता है। भाषा का यह उत्तरदायित्वपूर्ण प्रयोग साहित्य को केवल मनोरंजन का साधन न बनाकर सामाजिक परिवर्तन के माध्यम में परिवर्तित कर देता है।

वैश्वीकरण के वर्तमान युग में, जब भाषिक तथा सांस्कृतिक पहचान के समक्ष अनेक चुनौतियाँ उपस्थित हैं, विनोद बब्बर की भाषा–शैली एक महत्वपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत करती है कि किस प्रकार आधुनिकता को आत्मसात करते हुए भी अपनी सांस्कृतिक जड़ों से जुड़े रहा जा सकता है। यह संतुलन उनके साहित्य को न केवल कालजयी बनाता है, बल्कि आगामी पीढ़ियों के लिए एक प्रेरणास्रोत भी सिद्ध होता है।

तुलनात्मक दृष्टि से यदि विनोद बब्बर की भाषा–शैली को अन्य समकालीन गद्यकारों के साथ रखकर देखा जाए, तो यह स्पष्ट होता है कि जहाँ अनेक रचनाकार आधुनिकता की चमक–दमक में अपनी भाषिक जड़ों से दूर होते जा रहे हैं, वहीं विनोद बब्बर अपनी भाषा में परंपरा और आधुनिकता का ऐसा अनूठा संतुलन प्रस्तुत करते हैं, जो उन्हें समकालीन हिंदी गद्य–लेखकों में एक विशिष्ट तथा पहचान योग्य स्थान प्रदान करता है। यह विशिष्टता ही उनके साहित्य को शोध की दृष्टि से विशेष रूप से महत्वपूर्ण बनाती है।

निष्कर्ष

प्रस्तुत शोध–पत्र में विनोद बब्बर के गद्य साहित्य की भाषा–शैली तथा शिल्पगत विशेषताओं का विश्लेषण करते हुए यह स्पष्ट हुआ कि उनकी रचनाओं में सांस्कृतिक चेतना केवल विषयवस्तु के स्तर पर ही नहीं, बल्कि भाषिक संरचना तथा शिल्प–विधान के स्तर पर भी गहराई से अभिव्यक्त होती है। तत्सम–तद्भव शब्दावली का संतुलित प्रयोग, व्यंग्यात्मकता, चित्रात्मकता, प्रतीकात्मकता तथा प्रसंगानुकूल भाषा–प्रयोग उनकी भाषिक विशेषताओं के प्रमुख आयाम हैं।

शिल्प के स्तर पर वर्णनात्मक, विश्लेषणात्मक तथा संवादात्मक शैलियों का समुचित समन्वय विनोद बब्बर के साहित्य को बहुआयामी बनाता है। विभिन्न विधाओं में उनकी भाषा–शैली में आने वाला परिवर्तन उनके सृजनात्मक कौशल तथा गहन सांस्कृतिक समझ का प्रमाण है। यह अध्ययन इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि विनोद बब्बर का साहित्य भाषा और संस्कृति के अंतर्संबंध का एक उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है, जिसमें भाषा स्वयं सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम बन जाती है।

भविष्य में इस दिशा में और अधिक शोध की संभावनाएँ विद्यमान हैं, विशेष रूप से तुलनात्मक अध्ययन के माध्यम से यह देखा जा सकता है कि समकालीन अन्य रचनाकारों की भाषा–शैली में सांस्कृतिक चेतना किस प्रकार भिन्न अथवा समान रूप से अभिव्यक्त होती है। ऐसे अध्ययन हिंदी साहित्य में भाषा–केंद्रित सांस्कृतिक विश्लेषण की एक नई परंपरा को स्थापित करने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि विनोद बब्बर का साहित्य इस बात का जीवंत प्रमाण है कि भाषा और शिल्प केवल अभिव्यक्ति के औपचारिक माध्यम नहीं, बल्कि सांस्कृतिक चेतना के सृजनात्मक वाहक भी होते हैं। उनकी रचनाओं का यह भाषिक तथा शिल्पगत अध्ययन न केवल उनके व्यक्तिगत साहित्यिक अवदान को रेखांकित करता है, बल्कि हिंदी गद्य साहित्य में भाषा और संस्कृति के अंतर्संबंध को समझने की एक नई दृष्टि भी प्रदान करता है, जो आगामी शोधकार्यों के लिए मार्गदर्शक सिद्ध हो सकती है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. बब्बर, विनोद. चेतना के स्वर. साहित्य प्रकाशन, 2010.
2. बब्बर, विनोद. भाषा और संस्कृति. वाणी प्रकाशन, 2012.
3. बब्बर, विनोद. इब्सन के देश में. भारतीय ज्ञानपीठ, 2011.
4. बब्बर, विनोद. फटा कोट. लोकभारती प्रकाशन, 2011.
5. बब्बर, विनोद. लक्ष्मणरेखा. प्रभात प्रकाशन, 2013.
6. बब्बर, विनोद. ज्येष्ठ में बसंत. अभिनव प्रकाशन, 2008.
7. चतुर्वेदी, भोलानाथ. साहित्य समीक्षा के आधार. राजपाल एंड सन्ज़, 1998.
8. दिनकर, रामधारी सिंह. संस्कृति के चार अध्याय. राजपाल एंड सन्ज़, 1956.
9. द्विवेदी, हजारी प्रसाद. अशोक के फूल. लोकभारती प्रकाशन, 1973.
10. नागेंद्र. समीक्षा सिद्धांत. नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1990.
11. मिश्र, बलदेव प्रसाद. भारतीय संस्कृति को गोस्वामी तुलसीदास का योगदान. राम नारायण बेनी माधव, 1985.
12. मीणा, प्रेमलता. नासिरा शर्मा के उपन्यासों में सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतना. शोध–प्रबंध, 2020.
13. ज्योत्स्ना. उपेंद्रनाथ अश्क के उपन्यासों में सांस्कृतिक चेतना. महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक, 2007.
14. राय, गुलाब राय. भारतीय संस्कृति की रूपरेखा. साहित्य मंदिर, 1974.
15. रानी, एकता. इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यासों में सांस्कृतिक विस्थापन. शोध–पत्र, 2024.
16. सुजाता, कुमारी, और एस. वी. एस. एस. नारायण राजू. भारतीय पर्वों में समाहित चेतनारू विद्यानिवास मिश्र के विचारों का मूल्यांकन. केंद्रीय विश्वविद्यालय, तमिलनाडु, 2025.
17. उपाध्याय, सत्यव्रत. तुलसी की वैयक्तिक सांस्कृतिक चेतना. शोध–ग्रंथ, वर्ष अनुपलब्ध.
18. गैरोला, वाचस्पति. भारतीय संस्कृति और कला. उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, 1985.
19. कौशिक, जयनारायण. लोक संस्कृति और लोक साहित्य. अभिनंदन ग्रंथ, हिंदी बुक सेंटर, 2000.

20. सांगवान, गुणपाल. हरियाणवी लोकगीतों का सांस्कृतिक अध्ययन. हरियाणा साहित्य अकादमी, 1989.

सुनीता देवी
शोधार्थी
ओम स्टर्लिंग ग्लोबल विश्वविद्यालय
हिसार–125001 (हरियाणा)
ईमेल आईडीः neetuturkiya@gmail.com

डॉ. सुनीता सिंह
प्रोफेसर हिंदी–विभाग
सामाजिक एवं मानविकी संकाय
ओम स्टर्लिंग ग्लोबल विश्वविद्यालय
हिसार–125001 (हरियाणा)

3

संस्कारों की वर्तमान में प्रासंगिकता : धर्मशास्त्र के संदर्भ में

डॉ० पिंकी शर्मा

सारांश

संस्कारों में ही किसी भी देश या क्षेत्र विशेष की संस्कृति झलकती है। मनुष्य का जन्म चार पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति के उद्देश्य से हुआ है, जिनका मुख्य आधार संस्कार है। संस्कारों से व्यक्ति सभ्य और सुसंस्कृत बनता है। धर्म की प्राप्ति से लेकर भगवद् धाम अर्थात मोक्ष की प्राप्ति तक व्यक्ति के संस्कार ही पहुंचाते हैं। समाज के सफल संचालन से लेकर किसी भी मनुष्य के सफल जीवन के लिए उसका संस्कारित होना आवश्यक है। मनुस्मृति व धर्म शास्त्रों में कुछ संस्कार बताए हैं जिनसे व्यक्ति की शुद्धि भी होती है और वह सभ्य नागरिक भी बनता है। आज वर्तमान पीढ़ी में जितने भी दोष व्याप्त हैं या समाज में जो भी अपराध बढ़ते जा रहे हैं निश्चित रूप से संस्कारों का ह्रास होना ही इसका मुख्य कारण है। इसलिए आज इन सभी संस्कारों की महती आवश्यकता है जिससे एक सभ्य समाज का निर्माण हो सके और देश की संस्कृति गौरवान्वित हो सके।

मुख्य शब्द – संस्कार, संस्कृति, पुरुषार्थ, अनुष्ठान।

संस्कार शब्द सम् उपसर्ग पूर्वक कृ धातु में घञ् प्रत्यय लगाकर बनता है जिसका अर्थ है– सम्यक् रूप से किया गया परिमार्जन या शुद्धिकरण ।

पाणिनि के अष्टाध्यायी में सूत्र 'सम्पर्युपेभ्यः करोतौ भूषणे'[1] के अनुसार 'कृ' धातु से पूर्व सम् उपसर्ग का प्रयोग करने पर संस्कार शब्द बनता है जिसका अर्थ है– परिष्कृत करना या अलंकृत करना ।

धर्मशास्त्रकारों ने आत्मा तथा शरीर की शुद्ध करना ही संस्कारों का मुख्य उद्देश्य बताया है। ये व्यक्ति के सभ्य और अनुशासित आचरण करने के विभिन्न उपाय हैं ताकि मनुष्य समाज में रहकर सुखमय एवं आनंद से युक्त जीवन व्यतीत कर सके। इससे व्यक्ति एवं समाज दोनों का हित संपादित होता है और अखंड राष्ट्र की प्रगति अपनी चरम सीमा तक पहुंचती है ।

स्मृतिग्रन्थों में आचार पर अत्यधिक बल दिया गया है क्योंकि व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास तभी हो सकता है जब वह आचार निष्ठ हो। आचार से अर्थ हैः– समाज में व्यक्ति के द्वारा व्यक्तिगत रूप से किया जाने वाला आचरण। मनुष्य का आचरण सर्वश्रेष्ठ रहे इसके लिए स्मृतिकारों ने संस्कारों का विधान किया है जिससे मनुष्य जन्म से मृत्युपर्यंत अपना आचरण शुद्ध रखें और मलिनता से दूर रहे। मलिनता मनुष्य को पाप कर्म की ओर ले जाती है जिससे समाज में अपराध या अनुचित आचरण बढ़ते हैं। अतः किसी भी राष्ट्र और उसकी संस्कृति का उत्थान तभी हो सकता है जब सभी व्यक्ति अचारनिष्ठ हों।

मनुस्मृति में कहा गया हैः– वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च[2]।

अर्थात् लोक तथा परलोक में पवित्र करने वाले ब्राह्मण आदि वर्णों के गर्भाधान आदि संस्कार पवित्र वेदोक्त मन्त्रों से किए जाने चाहिए क्योंकि गर्भ शुद्धिकारक हवन जातकर्म, चूड़ाकारण और मौञ्जीबंधन संस्कारों से द्विजों के बीज एवं गर्भ से उत्पन्न दोष नष्ट होते हैं।[3] याज्ञवल्क्य ने भी कहा हैः–'एवमेनःशमं याति बीजगर्भं समुदभवम्। 'याज्ञ.स्मृति' (1.13)

इस प्रकार संस्कारों से आत्मा तथा शरीर दोनों की ही शुद्धि करना स्मृतिकारों का उद्देश्य था इसलिए मनुस्मृति में कहा गया है कि स्वाध्याय, व्रत, होम, देव ऋषियों के तर्पण, यज्ञ संतान उत्पत्ति, इज्या व पंचमहायज्ञों के अनुष्ठान से यह शरीर ब्रह्म प्राप्ति के योग्य हो जाता है।[4]

गर्भाधान पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन चूड़ाकरण एवं समावर्तन आदि संस्कारों से पवित्रता की उत्पत्ति होती है। उपनयन जैसे संस्कार का आध्यात्मिक एवं मनोवैज्ञानिक महत्व भी था क्योंकि इस संस्कार में गुण संपन्न व्यक्तियों से संपर्क स्थापित होता था, वेद अध्ययन का मार्ग खुलता था और गुरु के द्वारा एक नए जीवन का आरंभ किया जाता था। नामकरण, अन्न प्राशन और निष्क्रमण संस्कारों का लौकिक महत्व था उनमें प्यार स्नेह और उत्सवों की झलक मिलती थी गर्भाधान, पुंसवन और सीमन्तोन्नयन संस्कारों का महत्व रहस्यात्मक एवं प्रतीकात्मक था। विवाह संस्कार का महत्व समाज को निरंतर प्रगतिशील बनाना जहां दो व्यक्ति आत्मनिग्रह, आत्मत्याग एवं परस्पर सहयोग की भावना से रहते थे। अतः कन्याओं के लिए भी यह सभी संस्कार अपरिहार्य थे।[5]

स्मृतिकालीन समाज में स्वीकार्य संस्कारों की संख्या निश्चित नहीं थी क्योंकि भिन्न–भिन्न स्मृतिकारों ने भिन्न–भिन्न संस्कार माने हैं। मनुस्मृति[6] में गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यंत तेरह संस्कार माने हैं। याज्ञवल्क्य ने इनमें केशांत संस्कार को छोड़ दिया है।[7] किंतु परवर्ती स्मृतियों जैसे व्यास स्मृति[8] आदि में संस्कारों की संख्या सोलह मानी गई है। इन संस्कारों को मुख्यतः चार श्रेणियों में विभक्त किया गया हैः–

(1) प्राग्जन्म संस्कार (2) बाल्यावस्था के संस्कार (3) शैक्षणिक संस्कार (4) जीवन नोपरांत संस्कार।

प्राग्जन्म संस्कार

(1) गर्भाधान संस्कार

प्राग्जन्म संस्कार के रूप में गर्भाधान पहला संस्कार है।[9] मनुष्य का संपूर्ण जीवन संस्कारों का क्षेत्र है इसलिए प्रजनन भी इसके अंतर्गत आता है। मनुस्मृति में निषेक को गर्भाधान के समान माना है।[10] यह संस्कार स्त्रियों के गर्भाधान के समय किया जाता है। इस संस्कार में तेजस्वी एवं गुणवान संतान प्राप्ति के लिए माता– पिता के उत्तम विचारों का संकलन है।

(2) पुंसवन संस्कार

गर्भधारण का निश्चय होने के बाद पुंसवन संस्कार किया जाता है। याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा गया हैः– 'गर्भाधानमृतौ पुंसः सवनं स्पन्दनात्पुरा' (1.11) अर्थात गर्भ के स्पंदन से पूर्व यह संस्कार किया जाता था।

गर्भधारण का निश्चय हो जाने के उपरांत गर्भस्थ शिशु को पुंसवन संस्कार द्वारा अभिषिक्त किया जाता था।

(3) सीमन्तोन्नयन संस्कार

प्राग्जन्म संस्कारों में यह तीसरे क्रम का संस्कार है। इस संस्कार में पति अपनी पत्नी के केशों का उन्नयन या प्रसाधन करता है। एक तरह से यह संस्कार पति व पत्नी का उत्सव संस्कार है जिसमें गर्भिणी को खुश रखने व ईश्वर से उसके मंगलमय भविष्य की प्रार्थना की जाती है। याज्ञवल्क्य[11] के अनुसार छठे तथा आठवें मास तक यह संस्कार हो सकता है।

बाल्यावस्था के संस्कार

(4) जातकर्म संस्कार

बाल्यावस्था के संस्कार जातकर्म संस्कार से आरंभ होते हैं। यह बच्चे के जन्म के पश्चात होने वाला संस्कार है। पिता पुत्र का मुख देखता है तथा तर्जनी उंगली और एक शुद्ध श्लाका से शिशु को मधु और केवल घृत चटाता है।

'मंत्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम्।' (मनु०स्मृति 2.29)

(5) नामकरण संस्कार

प्रसव जनित अशौच के समाप्त होने पर नामकरण संस्कार किया जाता था।

नामधेयं शम्यां तु द्वादश्यां वास्य कारयेत।

पुण्ये तिथौ मुहुर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते।। (मनु०स्मृति 2.30)

याज्ञवल्क्य स्मृति[12] में कहा गया हैः– 'अहन्येकादशेनाम'।

मनु[13] ने भी बालक एवं बालिकाओं के नामकरण के लिए अनेक सुझाव प्रतिपादित किए हैं।

(6) निष्क्रमण संस्कार

इस संस्कार को संपन्न करके शिशु को घर से बाहर भी ले जाना शुरू कर दिया जाता है। इसी दिन शिशु को सूर्य एवं चंद्र दर्शन कराया जाता है। मनु, याज्ञवल्क्य एवं व्यास स्मृति[14] के अनुसार शिशु के जन्म से चौथे महीने में इ उसका निष्क्रमण संस्कार किया जाता है।

'चतुर्थे मासि कर्त्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात्।'

(7) अन्नप्राशन संस्कार

मनु, याज्ञवल्क्य, व्यास स्मृति कारों के मतानुसार अन्नप्राशन्न संस्कार शिशु के जन्म से छठे मास में करना चाहिए।[15] इस संस्कार के संपन्न होने के बाद अब शिशु को पौष्टिक भोजन का भी रसास्वादन करवाया जाता है।

(8) चूड़ाकारण संस्कार

इस संस्कार में बालक के केशों का मुंडन करवाकर एक शिखा रखी जाती है। मनुस्मृति के अनुसार इस संस्कार का समय शिशु के जन्म के पश्चात प्रथम या तृतीय वर्ष में किया जाता है।[16] याज्ञवल्क्य के मतानुसार कुल की परंपरा के अनुसार चूड़ाकरण संस्कार करना चाहिए।[17] सभी स्मृतिकार जातकर्म से चूड़ाकरण तक सभी संस्कारों को कन्याओं के लिए भी अनिवार्य मानते हैं, किंतु कन्याओं के संस्कार वैदिक मंत्रों के बिना स्वीकृत हैं।[18]

(9) कर्णवेध संस्कार

आरंभ में कर्णवेधन अलंकरण के लिए प्रचलित हुआ, किंतु बाद में इसे स्मृतिकारों ने धार्मिक संस्कार के रूप में मान्यता दी। यह संस्कार जन्म के तृतीय अथवा पांचवें वर्ष में किया जाता है।

शैक्षणिक संस्कार

(10) विद्यारम्भ संस्कार

जब बालक का मानसिक विकास शिक्षा ग्रहण करने के स्तर तक हो जाता है तो विद्या आरंभ भी संस्कार के साथ किया जाता था।

(11) उपनयन संस्कार

उपनयन का अर्थ हैः– 'पास या सन्निकट ले जाना'। वह संस्कार जिसके द्वारा बालक आचार्य के समीप ले जाया जाए, उपनयन कहलाता है। बालक के उपनयन की आयु के बारे में साधारण नियम यह है कि ब्राह्मण बालक का उपनयन जन्म के आठवें वर्ष में, क्षत्रिय बालक का 11 वर्ष में तथा वैश्य का 12वें वर्ष में करना चाहिए।[19]

(12) वेदारम्भ संस्कार

शिक्षा में वैदिक अध्ययन को बनाए रखने के लिए वेदारंभ संस्कार स्वतंत्र रूप से आरंभ किया गया। पहले यह उपनयन संस्कार का अंग माना जाता था।

(13) केशांत संस्कार

मनुस्मृति में कहा गया हैः–

'केशांतः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते।

राजन्य बन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्वयधिके ततः।। (मनु०स्मृति 2.65)

इस संस्कार में सिर, दाढ़ी एवं मूंछ के बालों का क्षरण किया जाता है। याज्ञवल्क्य[20] ने भी इस संस्कार की यही अवस्था बताई है। इस संस्कार में गौ का दान किया जाता है इसलिए इसे गोदान संस्कार भी कहा गया है।

(14) समावर्तन संस्कार

वेद अध्ययन के उपरांत स्नान– कर्म तथा गुरु गृह से लौटते समय के संस्कार को स्नान या समावर्तन संस्कार कहा जाता है। यह संस्कार ब्रह्मचर्य के समाप्त होने पर लगभग चौबीस वर्ष की आयु में किया जाता था।[21]

(15) विवाह संस्कार

'विवाह' को हिंदू संस्कारों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, क्योंकि विवाह समस्त गृह यज्ञों एवं संस्कारों का उद्‌गम केंद्र है। स्मृतियों में आश्रम व्यवस्था को ईश्वरीय माना गया है। फलतः स्मृतिकारों ने आश्रम व्यवस्था का दृढ़ समर्थन करते हुए प्रत्येक व्यक्ति के लिए ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थ आश्रम को अनिवार्य माना है। मनुस्मृति के अनुसार चारों आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास) की समय सीमा निश्चित की गई है।[22]

जीवनोपरान्त संस्कार

(16) अन्त्येष्टि संस्कार

आर्य जीवन का अंतिम संस्कार अंत्येष्टि है। मनुस्मृति[23] एवं याज्ञवल्क्य[24] स्मृति में चारों वर्णों के लिए किए जाने वाले समस्त संस्कारों में यह भी एक संस्कार माना है, तथा इसे 'शमशान' नाम दिया गया है। स्त्रियों के लिए भी यह संस्कार पूर्ण मान सम्मान के साथ वैदिक रीति से किया जाता था। मनु[25] एवं याज्ञवल्क्य[26] दोनों ही इस मतैक्य के समर्थन में हैं।

निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप में इन्हीं संस्कारों से भारतीय संस्कृति का जन्म हुआ है। अतएव भारतीय संस्कृति भी उतनी ही शाश्वत है जितना कि मनुष्य का जीवन। धर्मशास्त्रों के अनुसार मनुष्य जन्म से साधारण एवं अपूर्ण है, संस्कारों से ही उसमें द्विजत्व या मनुष्यत्व आता है। संस्कारों के होने से ही संस्कृति जीवंत होती है। वर्तमान युग में इन सोलह संस्कारों की नितांत आवश्यकता है ताकि आने वाली पीढ़ी इन संस्कारों से संस्कृत होकर एक सभ्य समाज का निर्माण कर सके।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. पाणिनि कृत अष्टाध्यायी 6.1.137
2. श्री पं० हरगोविंद शास्त्री,चौखम्भा संस्कृत संस्थान, मनुस्मृति 2.26
3. वही, 2.27
4. वही, 2.28
5. वही, 2.66
6. वही, 2.26, 29, 3.4
7. पं० थानेशचन्द्र उप्रैती, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, याज्ञवल्क्य स्मृति 1.11–12
8. पं० मिहिर चन्द्र, नाग पब्लिशर्स दिल्ली, अष्टादश स्मृति, व्यास स्मृति 1.13–14
9. व्यास स्मृति 1.16, याज्ञवल्क्य स्मृति 1.11
10. मनुस्मृति 2.16
11. याज्ञवल्क्य स्मृति 1.11
12. वही, 1.12
13. मनुस्मृति 2.31–33, व्यास समृति 1.17
14. मनुस्मृति 2.34, याज्ञवल्क्य स्मृति 1.12
15. मनुस्मृति 2.34, व्यास स्मृति 1.18
16. मनुस्मृति 2.35
17. याज्ञवल्क्य स्मृति 1.12
18. मनुस्मृति 2.66, याज्ञवल्क्य स्मृति 1.13
19. मनुस्मृति 2.36
20. याज्ञवल्क्य स्मृति 1.36
21. मनुस्मृति 4.1
22. वही 4.1–2
23. मनुस्मृति 2.16
24. याज्ञवल्क्य स्मृति 1.10
25. मनुस्मृति 5.167
26. याज्ञवल्क्य स्मृति 1.89

डॉ० पिंकी शर्मा

(संस्कृत विभाग)

आर०डी०एस०पब्लिक गर्ल्स महाविद्यालय

कालाका रोड़, रेवाड़ी (हरियाणा)

पिन–123401

मोबाइल नं.–8295096622

4

डॉ० हरिशरण वर्मा कृत 'लव जिहाद' नाटक में व्याप्त धर्म–परिवर्तन

सीमा, डॉ० पुष्पा

सारांश

'लव' अंग्रेजी का शब्द है जिसका अर्थ है 'प्रेम, प्यार' और 'जिहाद' शब्द उर्दू या इस्लाम से लिया गया है, परन्तु मुस्लिमों ने आजकल जिहाद के मूल अर्थ को समाप्त कर दिया गया है, अब लव जिहाद के द्वारा हिन्दुओं या सिक्खों की भोली–भाली लड़कियों को अपने झूठे प्रेम में फंसाकर पहले उनसे बलात्कार करते है, फिर उन्हें गर्भवती करते है और फिर बदनामी का डर दिखाते हैं तथा उन्हें शादी से पूर्व या शादी के उपरान्त उन लड़कियों को इस्लाम कबूल करने के लिए बाध्य कर देते हैं, परन्तु ये स्वयं हिन्दू धर्म कबूल नहीं करते। यही है भारतीय समाज का 'लव जिहाद'।

डॉ० हरिशरण वर्मा ने एक कश्मीरी हिन्दू लड़की के माध्यम से अपने नाटक 'लव जिहाद' नाटक में सजीव चित्रण करके आज की इस सामाजिक समस्या को उजागर करने का प्रयास किया है और वे इसमें पूर्णतः सफल भी हुए हैं।

'लव जिहाद' नाटक की शुरूआत कश्मीर के एक गाँव से होती है। जिसमें कॉलेज प्रोफेसर श्यामलाल प्राचार्य से कहता है कि सभी छात्र–छात्राओं की खुशी में ही मेरी खुशी है। बच्चों की खुशी से बढ़कर कोई खुशी नहीं होती। तो प्राचार्य कहते हैं आजकल समाज में सब एक–दूसरे के दुश्मन बने रहते हैं और आप तो सभी के मित्र है, दुश्मन तो किसी के नहीं। समाज में कम ही व्यक्ति होते हैं जो मित्रता का व्यवहार दूसरे से करते हैं। नहीं तो कोई सम्पत्ति के लिए दुश्मन हो जाता है तो कोई धर्म के लिए आपसी टक्कर में आ जाता है। श्यामलाल का जीवन तो बड़ा ही सादगी–पूर्ण था जो कि स्वयं मित्रता व मानवता के परिचायक थे। ऐसे ही कम ही प्रवृत्ति वाले लोग समाज में मिलते हैं जो दूसरों के हित–भाव व सहजता के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। श्यामलाल की मान्यता थी कि ''जिस समय भारत वर्ष में मुगलों का शासन था, विशेशकर औरंगजेब का तो उसने हिंदू धर्म को नष्ट भ्रष्ट कर दिया था। हिन्दुओं को प्रलोभन देकर या जबरदस्ती उनका धर्म परिवर्तन करके मुसलमान बनाया गया। मन्दिरों को तोड़कर मस्जिदें बनाई गयी। अयोध्या में बावरी मस्जिद उसी का परिणाम है। इसी प्रकार मथुरा में कृष्ण जन्म भूमि के बराबर में बनाई गई मस्जिद उसी का परिणाम है। मैं तो यह कहूँगा कि आधुनिक मुसलमान अतीत के कायर हिन्दू हैं और आज के कायर हिंदू भविष्य के मुसलमान होंगे।''

समय के परिवर्तन के साथ श्यामलाल की हत्या अज्ञात के द्वारा की जाती है, जिससे उसके परिवार में पत्नी व पुत्री को असामान्य परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है, क्योंकि मनुष्य का व्यवहार समय व परिस्थिति के साथ परिवर्तनशील है। यही श्यामलाल के परिवार के साथ होना सामान्य भविष्य की परिचायक थी। श्यामलाल की पुत्री आरती विलाप करती है और ग्राम सरपंच को कहती है कि ''वह भी जरूर करूँगी चाचा जी, परन्तु अपने पापा के मृत शरीर को देखकर मेरे हृदय में उठे वेदना के ज्वर का अनुभव वह पुत्री ही कर सकती है, जो अपने पिता की इकलौती सन्तान रही हो, परन्तु इस वेदना को पूर्ण रूप से मैं आत्मसात कर पाती, मुझसे पहले तो मेरी माँ इस वेदना के कारण मुर्छित हो गई और अपने को किसी प्रकार से नियंत्रित कर मैंने माँ को सम्भाल लिया, क्या होगा अब मेरी माँ का।''

आरती के पिता के स्वर्गवास के एक साल के बाद तक भी आरती व उसकी माँ शोक से नहीं निकल पाती। घर में अन्न–पानी की कमी तो सामान्य बात थी। समय तो परीक्षा लेता ही है। आरती गुजरते दिनों के साथ माँ का सहारा बनती है तो समय भी अपनी धुरी पर घूमता है। आरती माँ को पिता के शोक से बाहर निकालने में सक्षम हो पाती है जब माँ भी उसके साथ सहयोग को तत्परता से निभाती है तथा दोनों एक दूसरे के साथ आगे बढ़ती है – प्रकृति ने मनुष्य को ऐसी जिजीविशा दी है कि गहरे से गहरा दुःख झेलकर भी वह शीघ्र प्रकृतिस्थ होने लगते है और जीवन की गाड़ी यथावत चल निकलती है। आरती स्वतः सोचने लगती है कि ''नवाब का कितना अदम्य आकर्षण है, क्या मुझे उसके साथ जाकर उससे शादी करनी चाहिए ना नहीं ... परन्तु दूसरी ओर मम्मी है, मेरे जाने के बाद मम्मी अकेली रह जाएगी। परन्तु एक न एक दिन तो मम्मी को छोड़कर जाना ही पड़ेगा। फिर भी तो मम्मी अकेली ही रह जाएगी। मम्मी को मेरी शादी करनी पड़ेगी, उसमें हमारी जाति में काफी पैसा चाहिए और मम्मी के पास इतना पैसा है क्हाँ ... जो पापा जी को फंड मिलेगा वह शादी में लग जाएगा ... फिर मम्मी गुजारा किस प्रकार से करेगी ... इसलिए मुझे नवाब के साथ चला जाना चाहिए। फिर नवाब मुझे कितना प्रेम करता है ... पता नहीं फिर कोई मुझे प्रेम करने वाला मिले या ना मिले इसलिए मुझे नवाब के साथ चले जाना चाहिए और उससे शादी कर लेनी चाहिए शादी के बाद मैं मम्मी को अपने आप मना लूँगी और मम्मी मान भी जाएगी क्योंकि मैं उनकी इकलौती संतान हूँ। मम्मी ने जो सोने के आभूषण मुझे बनवाये है वह मैं ले चलती हूँ। मैं क्या करूँ एक ओर मम्मी दूसरी ओर नवाब मेरा प्रेमी जो मेरा पति बनना चाहता है। मैं दोनों के बीच तप रही हूँ। लगता है प्रथम प्रेम का आकर्शण बहुत अधिक भारी पड़ रहा है। आखिर कोई निर्णय तो लेना ही पड़ेगा, फिर अभी विलग हो जाने से कौन–सा

फर्क पड़ता है। शादी करके कुछ दिनों पश्चात् मम्मी का आशीर्वाद लेने चले आयेंगे। उस समय मम्मी हमें अवश्य स्वीकार कर लेंगी और फिर नवाब के बिना जिया भी तो नहीं जा सकता।'' नवाब अचानक आरती के पास आ जाता है और लेकर चल पड़ता है। आरती को लगता है नवाब उसे सितारों के पार अनजान डगर पर ले जा रहे हैं। नवाब आरती को धोखे से पाकिस्तान में ले जाता है जहाँ उसकी माँ हिन्दू लड़की को देखकर हैरान होती है, नवाब से कहती है कि 'तौबा, तौबा हिन्दू लड़की से शादी करेगा।' नवाब कहता है कि नहीं ''पहले इसे मुसलमान बनाऊंगा'' आरती को जब पता चलता है कि भारत का पंजाब नहीं, पाकिस्तान का पंजाब है। आरती अपने को असहाय महसूस करती है और नवाब को इसका जिम्मेदार मानती हूँ। फ्लेश बैक में आरती को याद आता है कि उसके पिता श्यामलाल का एक जुमला–प्रधानाचार्य जी कल के बुजदिल हिन्दू आज के मुसलमान है और आज के बुजदिल हिंदू कल के मुसलमान होंगे। जबरदस्ती धर्म परिवर्तन में आरती नवाब के कुछ संवाद इस प्रकार है – ''आरती – मैं तो कहती हूँ कि तुम लोग भी अपने पूर्वजों की गलती सुधार कर वापिस घर आ जाओ। श्रीराम तुम्हें माफ कर देंगे।

नवाब – अपने श्रीराम पर तुम्हें इतना भरोसा है, तो देखते है कि आज तुम्हारे श्रीराम मुझसे तुम्हारी किस प्रकार से रक्षा करेंगे।

आरती – मेरे श्रीराम ही तुमसे मेरी रक्षा करेंगे और तुम मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकते।

नवाब – देखता हूँ फिर आज तुम मुझसे किस प्रकार से बच पाती हो। (हाथ पकड़कर कमरे में धक्का देता है बाहर से कुंडी बंद कर देता है) मैं काजी को बुलाकर लाता हूँ वे तेरा धर्म बदल देंगे और मुझसे निकाह करवा देंगे।'' आरती सोचती है कि अब मैं थक चुकी हूँ, मैं कब तक इन अनजान सड़कों पर भागती फिरूँगी, यहाँ पर मेरा अपना कौन है। करूँ तो क्या करूँ ? किससे सहायता मांगू ? पुलिस... ? हाँ–हाँ पुलिस का ही सहारा हो सकता है। पुलिस ही मेरी सहायता कर सकती है। पुलिस ही मुझे हिन्दुस्तान वापिस पहुँचा सकती है। मुझे पुलिस की ही सहायता लेनी चाहिए। पुलिस ही आतंकवादी नवाब से ही मेरी रक्षा कर सकती है, परन्तु मुझे तो थाने का भी पता नहीं है। चलो किसी से पूछती हूँ। नहीं यह क्या यह तो पुलिस स्टेशन का बोर्ड लगा हुआ है, यह तो सामने ही है। यह ठीक रहेगा मैं पुलिस स्टेशन में ही चलती हूँ। आरती संत्री और कोतवाल से कहती है कि नवाब नाम का युवक झूठे प्रेम में नवाब सिंह हिन्दू (पंजाब) भारत का बताकर, मुझे शादी करने का झूठ बोलकर रातोंरात मुझे इस शहर में ले आया। मुझे यहाँ आकर पता चला कि यह भारत का पंजाब प्रान्त नहीं है बल्कि पाकिस्तान का पंजाब प्रान्त है और नवाब हिंदू नहीं मुसलमान है। मैं आपसे सहायता लेने के लिए आई हूँ कि आप मुझे भारत भेजने में मेरी सहायता करे। आरती कोतवाल को धर्म में लिप्त देखकर और मुसलमान होने पर व्यवहार में हुए परिवर्तन को देखती है। यहाँ पर हिन्दू–मुसलमान में भेद किया जाता है। परन्तु भारत में तो ऐसा नहीं किया जाता। भारत धर्म निरपेक्ष राश्ट्र है, वहाँ सभी धर्मों को समान मान्यता प्रदान की जाती है। कोतवाल की मान्यता थी कि पाकिस्तान तो इस्लामिक देश है, यहाँ केवल मुसलमानों को महत्त्व दिया जाता है। बाकी धर्मों के लोगों को तो यहाँ मक्खी–मच्छरों की तरह मार दिया जाता है या उनको अपना धर्म बदलकर मुसलमान बनकर यहाँ रहना होता है। कोतवाल आरती से शादी करना चाहता है हालांकि उसके तीन बीवियाँ और 20 बच्चे हैं। ''कोतवाल – हाँ, मुसलमानों की जनसंख्या जो बढ़ानी है अब देखो ना 15 अगस्त 1947 को जब भारत आजाद हुआ उस समय भारत में मुसलमान की आबादी 3 करोड़ थी, 70 वर्षो के बाद 30 करोड़ है। हमारा तो फार्मूला ही यह कि जिस दिन हिन्दुओं के बराबर जनसंख्या हो जाएगी। भारत से एक और मुस्लिम देश की मांग करेंगे। जो भारत को देना पड़ेगा। आरती कहती है कि इस नजर से देखें तो पाकिस्तान इतनी दूर दृष्टि रखता है।

कोतवाल – हाँ, बिल्कुल रखता है। इसलिए अपना भविष्य सुरक्षित रखने के लिए मुसलमान बन जाओ और यहाँ मेरे साथ विवाह करके अच्छे बच्चे पैदा करना और मौज से रहना। नहीं तो जेल में मारी जाओगी परन्तु हिन्दुस्तान जाना तो दूर उधर झाँक भी नहीं पाओगी।''

''आरती – आपको जो करना हो करो, परन्तु मैं अपना धर्म परिवर्तन नहीं करूँगी, हिन्दू थी, हिन्दू हूँ और हिन्दू ही रहूँगी। मैं उस देश की बेटी हूँ जहाँ गुरुनानक के दो बेटे दीवार में जिंदा चिनकर मार दिए गए, परन्तु मुसलमान नहीं बने। उस देश की बेटी होकर मैं अपना धर्म परिवर्तन करके मुसलमान धर्म स्वीकार करके अपने को अपवित्र कर लूँ, नहीं, कदापि नहीं।'' कोतवाल आरती पर फिदा हो जाता है। उसे बिना बीजा पाकिस्तान आने और मुजाहिदीन को चकमा देकर पाकिस्तान में जासूसी करने के इल्जाम में तुम्हें जेल में बंद कर देता हूँ। आरती को पाकिस्तान में महिला जेलर के घर में काम करने के लिए रखा जाता है, जो कि नियमों के विरुद्ध था। महिला जेलर उसका स्वयं शारीरिक शोशण भी करती है जो कि एक निदंनीय कार्य है। तमन्ना आरती को बताती है कि पाकिस्तान के मुसलमानों में एक परम्परा है, ''जब एक बीवी से पेट भर जाये और उसकी उम्र ढल जाये, तो दूसरी ले आओ और जब दूसरी से भर जाये तो तीसरी ले आओ,

और तीसरी से भर जाये तो चौथी ले आओ। अर्थात् अय्याशी के लिए जवान बीवी हर समय चाहिए। इस प्रकार तो साधारण अर्थों में देखा जाए तो नारी जीवन को नरक बनाकर रखा हुआ है। जबकि हमारे यहाँ हिन्दू धर्म में प्रायः ऐसा नहीं होता, एक शादी होने के उपरान्त सात जन्मों तक उसी के साथ निभाना है, परन्तु मुसलमान समाज में तो सात सेकेण्ड की कोई गारंटी नहीं। शोहर को क्रोध आया और तीन बार कहा तलाक–तलाक–तलाक और हाथ पकड़ा बच्चों सहित बाहर धक्का देते हैं। क्या नारी पर इतना अत्याचार, नारी, नारी ना होकर एक पशु हो गयी, हमारे देश भारत में भी ऐसा ही था, परन्तु मोदी सरकार ने तीन तलाक पर कानून बनाकर प्रतिबंध लगा दिया। काश पाकिस्तान में मोदी सरकार ही होती, तो पाकिस्तान की मुस्लिम नारियों का भी जीवन सुखमय बन जाता। जेल में बंद आरती को सुमन नामक एक महिला कैदी मिलती है, जो इसी तरह के शोषण का शिकार हो रही है वह कहती है कि मैं सब जानती हूँ – मुझे यह भी पता कि वहाँ पर तुम्हारे साथ क्या हुआ होगा ? यह भी मैं अच्छी प्रकार से जानती हूँ। केवल हम दोनों की कहानी ही नहीं, भारत से ना जाने कितनी ही लड़कियाँ यहाँ पाकिस्तान की जेलों में बंद हैं, जो इसी प्रकार धोखे से लाई गई है या तो उन्होंने धर्म परिवर्तन करके मुसलमान बनकर शादी कर ली या जेल में किसी न किसी झूठे अपराध में उनको बंद कर दिया गया है। यदि भारत सरकार के आगे कोई इस जुर्म का पर्दाफाश करे तो भारत सरकार ही कोई हल निकाल सकती है। सुमन आरती को समझाती है कि वह अपने किसी सगे–सम्बन्धी को पत्र लिखे तो वह उसे हिन्दुस्तान में पोस्ट करवा सकती हूँ। मैंने एक वार्डन को फंसा रखा है, वह मेरे कहने पर उसमें डाक–टिकट लगाकर उसे डाक –बक्से में डाल सकता है अलबत्ता टिकट की कीमत के अतिरिक्त उसे 50 रूपये अतिरिक्त देने होंगे। फिर जब किसी तरह पैसे इक्ट्ठे हो जाते हैं तो हिन्दुस्तान में वह समाचार–पत्र की सम्पादक डॉ० ममता को पत्र लिखती है जो कि इस प्रकार था –

''दीदी नमस्ते,

मैं आरती आपके मामा की बेटी, आपको प्त्र लिख रही हूँ शायद आपको मेरे गुम होने का पता चल गया होगा। यदि नहीं तो मैं आपको अपनी आप बीती लिख रही हूँ।

मैं इस समय पाकिस्तान के शहर जाफराबाद की जेल में बैरक न० 35 कैदी नम्बर 370 के रूप में आजीवन कारावास की सजा काट रही हूँ। लेकिन मैंने कोई अपराध नहीं किया जिसकी मैं सजा भुगत रही हूँ। कॉलेज आते–जाते मुझे एक भारतीय सेना की ड्रेस में एक लड़का मिला जिसका नाम नवाब था। वह लड़का अच्छा लम्बा व सुन्दर था। उसके विश्वास दिलाने पर कि वह हिंदू है और मुझसे प्रेम करता है तथा मुझसे शादी करना चाहता है। वह जाफराबाद, पंजाब (भारत) का रहने वाला है मैं उसके प्रेम में इतनी पागल हो गयी कि एक रात उसके विश्वास दिलाने पर कि उसके परिवार वाले इस शादी से सहमत है। वह मुझे भगा कर ले आया। सारी रात पैदल चलकर गुप्त मार्ग से वह मुझे पाकिस्तान (जाफराबाद) ले आया। यहाँ आने पर उसके घर पहुँचने पर पता चला कि वह नवाब सिंह नहीं बल्कि नवाब खान है अर्थात् मुसलमान है और एक आतंकवादी है। पहले से ही शादी–शुदा है। मुझे मुसलमान बनाकर मुझसे शादी करना चाहता था। मैं उसकी पत्नी और माँ की सहायता से नवाब की अनुपस्थिति में घर के पिछले दरवाजे से भाग गई और किसी प्रकार से पुलिस स्टेशन पहुँची तथा अपनी आप–बीती पुलिस अधिकारी को बताई। परन्तु उन्हें मेरी बात पर विश्वास नहीं हुआ। पुलिस ने मेरे विरुद्ध बिना वीजा पाकिस्तान में आने और मुजाहिदिन को चकमा देकर जासूसी करने के आरोप में आजीवन कारावास में भेज दिया। मुझ जैसी ना मालूम कितनी लड़कियाँ भारत सें पाकिस्तान आकर कारावास में जीवन व्यतीत कर रही हैं।

अतः मैं आपसे अनुरोध करती हूँ कि इस पत्र को अनेक महत्त्वपूर्ण समाचार–पत्रों, पत्र– पत्रिकाओं में प्रकाशित करने का कष्ट करें। जिससे कि मेरी यह व्यथा कथा भारत के राजनेताओं, प्रधानमंत्री, मंत्री, अधिकारियों के साथ जनता का ध्यान आकृष्ट हो और इस त्रासदी से उबरने के लिए शासन कुछ प्रयत्न कर सके। अन्यथा आत्महत्या के अतिरिक्त मुझे कोई विकल्प दिखाई नहीं दे रहा। अब आप मेरी व्यथा को पढ़कर मेरी आवाज को भारत सरकार तक अवश्य पहुँचाए।

आपकी आरती''

आरती ने तमन्ना के सारे कारनामें सुमन को बता दिए। ताकि उस पर भी उचित कार्यवाही हो सके। सुमन दी ने यह पत्र पढ़कर काफी अफसोस से भरा व्यवहार किया वह सोचती है कि आरती ही क्या ना जाने देश की कितनी ही लड़कियाँ आतंकवादियों द्वारा लव जिहाद में फंसकर पाकिस्तान में जाकर अपना जीवन बर्बाद कर चुकी हैं। अब क्या किया जाये। सबसे पहले तो मैं आरती की मम्मी को जाकर यह सूचना देती हूँ कि उनकी बेटी जिन्दा है और पाकिस्तान के जाफराबाद जेल में बंद है। उनके तो केवल एक ही बेटी है। उसके उपरान्त देश के राष्ट्रीय समाचार–पत्रों, दूरदर्शन, रेडियो, सोशल–मीडिया आदि के द्वारा यह समाचार तेजी से फैलाया जाये, जिससे कि सरकार तक यह आवाज पहुँचाई जा सके।

ममता पार्वती (आरती की माँ) को सब बताती है कि लव जिहाद के चक्कर में फंसकर प्रेमी के साथ पाकिस्तान चली गई। समाचार–पत्रों को बेचने वालों के मुहँ पर भी यही खबर थी कि ''आज की ताजा खबर, आज की ताजा खबर, लव जिहाद के कारण कश्मीर की हिंदू लड़की जाफराबाद (पाकिस्तान) की जेल में आजीवन कारावास के लिए बंद। आज की ताजा खबर ... आज की ताजा खबर ...।''

दूरदर्शन पर भी ममता ये समाचार भेजती है, ''दूरदर्शन (समाचारों के बीच में) अब आप एक आवश्यक समाचार सुनिए। इस आवश्यक समाचार के उपरान्त बाकी समाचार। 'लव जिहाद' के वैसे तो आपको हिन्दुस्तान में अनेक समाचार सुनने को मिलें होंगे, परन्तु यह एक अजीब घटना है। श्रीनगर (कश्मीर) की एक स्नातक हिन्दू छात्रा को एक नवाब खान नामक पाकिस्तानी आतंकवादी से नवाब सिंह समझकर प्रेम हो गया। अवसर देखकर पाकिस्तानी आतंकवादी भारतीय सैनिक बनकर उस हिन्दू छात्रा को रात के समय गुप्त मार्ग से शादी करने के लिए पाकिस्तान अपने घर ले गया। जो पहले से ही शादी–शुदा था। मौका देखकर हिन्दू लड़की उसके घर से भागकर पुलिस स्टेशन सहायता के लिए पहुँच गई। परन्तु पुलिस ने बिना वीजा जासूसी करने के जुर्म में आजीवन के लिए जेल में बंद कर दिया। उस हिन्दू लड़की ने एक सम्पादक को गुप्त पत्र लिखकर भारत सरकार से सहायता की मांग की है।''

इस प्रकार भारत सरकार के विदेश मंत्री के कार्यालय से भारत सरकार पाकिस्तान के विदेश मंत्री से बात करते हैं। जिसमें पाकिस्तान कहता है कि ''लव जिहाद के कारण, नहीं– नहीं ... ऐसा नहीं हो सकता यदि उसे लव करना था तो हिन्दुस्तान में करती। पाकिस्तान ही मिला है उसे लव जिहाद के लिए।'' पाकिस्तान के विदेश मंत्री कहते हैं कि हमारा कोई आतंकवादी भारत में नहीं है, यह आप पाकिस्तान सरकार को बदनाम करने के लिए कह रहे है। हमारी सरकार पहले ही जाँच पड़ताल कर चुकी है। उसी के उपरान्त आरती को दोषी ठहराया गया है और दोष साबित होने के उपरान्त ही उसे न्यायालय द्वारा आजीवन कारावास की सजा दी गई है। जेल से रिहा होने का तो एक ही रास्ता है। आरती हिन्दू धर्म छोड़कर मुस्लिम इस्लाम धर्म अपनाकर किसी पाकिस्तानी नवयुवक से शादी कर ले और दूसरा रास्ता यह है कि भारत जम्मू–कश्मीर को आजाद करके पाकिस्तान का हिस्सा बनने पर सहमत हो जाए तो पाकिस्तान आरती को मुक्त कर सकता है और अन्त में कहता है कि अभी आपने देखा ही कहाँ है, यह तो केवल ट्रेलर था, सारी पिक्चर तो अभी बाकी है, देखते रहना हम क्या करते हैं। हमारे साथ हमारा मित्र चीन है। तो भारतीय कहते हैं कि चीन की धमकी देते हो, हम तुम दोनों देशों के लिए भारत अकेला ही काफी है। यह अंतिम चेतावनी है या तो आरती को कारागार से मुक्त करके भारत को सौंप दो अन्यथा ...

इसी प्रकार धर्म के नाम पर कैसे देशों की सीमाओं में बंटवारा हो जाता है। धर्म के नाम पर मनुष्य बंट जाता है। 'लव जिहाद' नाटक का नामकरण डॉ० हरिशरण वर्मा ने बहुत सोच समझकर रखा है। लव का अर्थ प्रेम है और जिहाद शब्द के कई अर्थ हैं। इस्लाम में हिंसा धार्मिक लड़ाई का एक छोटा सा धार्मिक युद्ध है। उनकी अपनी आत्मा के लिए संघर्ष ही एक महाधार्मिक संघर्ष या युद्ध है। अन्याय, अश्रद्धालुओं और विरोधियों के विरुद्ध युद्ध मुख्य नहीं है। महान जिहाद है जिसमें व्यक्ति भौतिक इच्छाओं के विरुद्ध जिहाद कठिन है, क्योंकि इसमें व्यक्ति अपनी प्रवृत्ति से लड़ता है। अश्रद्धालुओं के विरुद्ध युद्ध इतना कठिन नहीं जितना जब कोई अपनी नीच प्रवृत्ति से लड़ता है।

दृढ़ तर्क देने के बावजूद भी इस जिहाद के विचार कि हमें अपने आप को शुद्ध करना है, इसके विरुद्ध कुछ मुस्लिम है। वे तर्क देते है कि युद्ध और जिहाद इस्लाम के परम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जरूरी है और यह लक्ष्य है राजनैतिक इस्लाम देश बनाना और इसके लिए युद्ध अनिवार्य है। चाहे इस्लाम से जिहाद शब्द को लेकर विचारों में विभिन्नताएँ हैं फिर भी यह निष्कर्ष है कि ईश्वर द्वारा प्रदत्त ग्रन्थ सभी जीवों में शान्ति और सामंजस्य लाना चाहते है। दैवी प्रकृति के लोग अकारण ही किसी को दुख नहीं देते, परन्तु मुस्लिमों ने आजकल जिहाद के मूल अर्थ को समाप्त कर दिया है। अब 'लव जिहाद' के द्वारा हिन्दुओं और सिक्खों की भोली– भाली लड़कियों के साथ ये होता है। उन्हें इस्लाम धर्म कबूल करने पर बल दिया जाता है जो कि सामाजिक नियमों के विरुद्ध है। दूसरे पर बलपूर्वक धर्म कबूल करे खुद हिन्दू धर्म कबूल नहीं करते। इसे ही वे लोग इस्लाम की जीत समझते हैं। यह कृत्य हमारे भारतीय समाज में भी देखने को मिलता है। विवाह–पूर्व प्रेम नवयुवकों व नवयुवतियों को बचना चाहिए, क्योंकि लव– जिहाद विवाह पूर्व प्रेम का ही परिणाम है।

समाज में धर्म परिवर्तन एक संवेदनशील और बहुआयामी विषय है। यह किसी व्यक्ति का व्यक्तिगत अध्यात्मिक निर्णय हो सकता है, लेकिन जब यह बड़े पैमाने पर होता है, तो इसके सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिणाम सामने आते हैं। इसी प्रकार समाज में बढ़ते चलन और कारणों को कई तरह के बिन्दुओं से समझा जा सकता है जो कि कुछ इस प्रकार है –

1 **सामाजिक और आर्थिक कारण** : कई बार समाज के हाशिए पर रहने वाले या आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों के लोग बेहतर शिक्षा, स्वास्थ्य सेवाओं और सामाजिक समानता की तलाश में धर्म परिवर्तन करते है। ऐतिहासिक और वर्तमान संदर्भों में यह एक प्रमुख कारण रहा है।

2 **सांस्कृतिक और वैचारिक प्रभाव** : धर्मांतरण से किसी क्षेत्र विशेष की मूल सांस्कृतिक पहचान और परम्पराओं में बदलाव आता है। कई बार यह दो समुदायों के बीच तनाव या ध्रुवीकरण का कारण भी बन जाता है।

3 **वैवाहिक कारण** : अंतर धार्मिक विवाह भी धर्म परिवर्तन का एक मुख्य कारण है, जिसे समाज के वर्ग द्वारा व्यक्तिगत पसंद के रूप में देखा जाता है, जबकि दूसरे वर्ग से इसे लेकर गहरी चिंताए है।

4 **सरकारी नीतियाँ और कानून** : इसे नियंत्रित करने के लिए भारत के कई राज्यों (जैसे उत्तर प्रदेश, गुजरात आदि) में धर्मांतरण–रोधी कानून लागू किए गए है। इन कानूनों का उद्देश्य जबरन, धोखाधड़ी या प्रलोभन के माध्यम से होने वाले धर्म परिवर्तन को रोकना है।

5 **घर वापसी या पुनधर्मांतरण** : इसके विपरीत, विभिन्न हिंदू संगठन द्वारा दूसरे धर्मों में गए लोगों को पुनः हिंदू धर्म में शामिल करने के लिए अभियान भी चलाए जाते है।

भारतीय समाज में धर्म परिवर्तन के मुद्दे को अधिक गहराई से समझने के लिए चार महत्त्वपूर्ण पहलुओं में विभाजित किया जा सकता है।

1 **संवैधानिक और कानूनी ढांचा**

- **मौलिक अधिकार** – भारतीय संविधान का अनुच्छेद 25 प्रत्येक नागरिक को किसी भी धर्म को मानने, आचरण करने और उसका प्रचार करने की स्वतन्त्रता देता है।
- **एंटी–कन्वर्जन कानून** – भारत के कई राज्यों (जैसे उत्तर–प्रदेश, मध्य–प्रदेश, गुजरात, उत्तराखण्ड) ने सख्त कानून बनाए है।
- **अवैध तरीके** – ये कानून प्रलोभन (लालच, बल प्रयोग या धोखाधड़ी) के जरिए किए जाने वाले धर्मांतरण को अपराध घोशित करते हैं।

2 **सामाजिक और मनोवैज्ञानिक कारण**

- **समानता की तला□ा** – जातिगत भेदभाव या सामाजिक असमानता से आहत होकर कुछ लोग ऐसे धर्मों की ओर आकर्शित होते हैं, जहाँ वे अधिक सम्मान महसूस करते हैं।
- **संस्थागत मदद** – कुछ धार्मिक संस्थाएँ गरीब परिवारों को मुफ्त शिक्षा, स्वास्थ्य सेवाएँ और वित्तीय सहायता प्रदान करती है, जो धर्मांतरण का एक बड़ा जरिया बनता है।
- **अध्यात्मिक सुझाव** – कई बार लोग अपनी मर्जी से किसी अन्य धर्म के विचारों, दर्शन या प्रार्थना पद्धतियों से प्रभावित होकर धर्मांतरण करते हैं।

3 **आधुनिक समाज में नए ट्रेंडस**

- **अंतर–धार्मिक विवाह** – आधुनिक समय में अलग–अलग धर्मों में शादियों के कारण भी धर्मांतरण के मामले बढ़े हैं, जिसे लेकर कानूनी और सामाजिक बहस जारी है।
- **वै□िवक प्रभाव और इंटरनेट** – सोशल मीडिया और डिजिटल प्लेटफॉर्म्स के माध्यम से विभिन्न धर्मों का प्रचार–प्रसार आसान हो गया है, जिससे युवा वर्ग प्रभावित हो रहा है।

4 **समाज पर इसके प्रभाव**

- **सांस्कृतिक बदलाव** – बड़े पैमाने पर धर्मांतरण से किसी क्षेत्र की स्थानीय संस्कृति, त्योहारो और सदियों की पुरानी परम्पराओं का स्वरूप बदलने लगता है।
- **सामुदायिक तनाव** – कई बार बिना सहमति या प्रलोभन से किए गए धर्मांतरण के कारण दो समुदायों के बीच अविश्वास और सामाजिक टकराव की स्थिति पैदा हो जाती है।

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि धर्म परिवर्तन सही भी है तथा जबरदस्ती धर्मांतरण गलत भी है। जिसका एक मुकम्मल उदाहरण 'लव जिहाद' है।

सन्दर्भ सूची

1.डॉ० हरिशरण वर्मा, लव जिहाद (नाटक संग्रह), लव जिहाद नाटक, पृ० 78

2. वही, पृ० 83

3. वही, पृ० 97

4. वही, पृ० 105

5. वही, पृ० 106

6. वही, पृ० 108

7. वही, पृ० 113
8. वही, पृ० 113
9. वही, पृ० 125
10. वही, पृ० 127
11. वही, पृ० 128
12. वही, पृ० 129

डॉ० पुष्पा
विभागाध्यक्ष, हिंदी विभाग
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक
ईमेल : pushparani491974@gmail.com

सीमा (शोधार्थी)
हिंदी विभाग
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक
मो० : 9817182607
ईमेल : ashokkadian.1978@gmail.com

5

हरियाणा के लोकगीतों में भाषाई विविधता और सांस्कृतिक समझः एक विमर्श

डॉ० रेखा

सारांश –

भारतीय संस्कृति विविधता में एकता की परिचायक है। इस पावन धरा पर सभी धर्मों के लोग रहते हैं जो एक दूसरे की संस्कृति को ही नहीं अपितु भाषा को भी अपनाते हैं। भाषा अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम होती है जिसके माध्यम से मानव एक दूसरे की भावनाओं व विचारधाराओ को सहज रुप में ग्रहण करते हैं। वास्तव में देखा जाए तो ऐसी कोई भी भाषा नहीं है; जिसने दूसरी भाषाओं से शब्द ग्रहण न किए हों। कोई भी भाषा या बोली किसी विशेष वर्ग तक ही सीमित नहीं रहती अपितु उसकी छाप आस–पास के क्षेत्रों पर भी पड़ती है। हरियाणवी बोली पर भी पंजाबी, राजस्थानी, उर्दू और ब्रज भाषा का अनूठा मिश्रण हमें देखने को मिलता है।

यदि हम किसी प्रदेश की संस्कृति से परिचित होना चाहते हैं तो हमें उस प्रदेश के लोक साहित्य व संस्कृति को जानना होगा; क्योंकि भारतीय संस्कृति का मूल आधार लोक परिवेश ही है। हरियाणवी लोकसंस्कृति की झलक हम लोकगीतो में स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। ये लोकगीत अपनी भाषा और बोलियों की विविधता के लिए देश भर में प्रसिद्ध हैं। उन लोकगीतो में हिंदी भाषा के साथ–साथ पंजाबी, राजस्थानी, उर्दू और ब्रज शब्दों का सहज मिश्रण प्रदेश की भाषाई विविधता को बढ़ावा देता है। इन गीतों का उद्देश्य केवल मनोरंजन ही नहीं होता अपितु लोकसंस्कृति और परंपराओं को पीढ़ी दर पीढ़ी जीवंत रखना भी होता है। समय परिवर्तन के साथ ये गीत बदलते रहते हैं और इनमें नए प्रतिमान जुड़ जाते हैं। नवीनता को अपनाते हुए भी इन लोकगीतों की ताजगी, मिठास और मनमोहकता बरकरार रहती है। हरियाणवी संस्कृति को बनाए रखने में लोकगीतों की यह संजीवता संजीवनी का कार्य करती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि लोकगीत संस्कृति और भाषा का सशक्त माध्यम और संवाहक भी हैं।

भारतवर्ष के सभी प्रदेशों की अपनी अलग–अलग संस्कृतियाँ हैं; जो भारतीय संस्कृति में अपना विशेष स्थान रखती हैं। संस्कृति दो शब्दों के योग से बना है, सम + कृति जिसमें 'सम' का अर्थ है शुद्ध एवं श्रेष्ठ और 'कृति' का अर्थ होता है कार्य अर्थात् संस्कृति का अर्थ शुद्ध एवं श्रेष्ठ आचरण से है।[1] रामधारी सिंह दिनकर के अनुसार, ''संस्कृति एक ऐसा गुण है जो हमारे जीवन में छाया हुआ है। एक आत्मिक गुण है जो मनुष्य के स्वभाव में उसी तरह व्याप्त है जिस प्रकार फूलों में सुगन्ध और दूध में मक्खन। इसका निर्माण एक या दो दिन में नहीं होता। अपितु युग–युगान्तर में होता है।[2]

मानवशास्त्री हॉबल संस्कृति के विषय में कहते हैं –

यह संस्कृति ही है जो एक मनुष्य को अन्य मनुष्यों से, एक समूह को अन्य सभी समूहों से और एक समाज को दूसरे समाज से अलग करती है।[3]

हरियाणा प्रदेश सांस्कृतिक दृष्टि से समृद्ध प्रदेश रहा है। इस प्रदेश की धर्म–धरा को देवी–देवताओं की कर्मभूमि, तथा साधु–संतों की तपो–स्थली होने का गौरव प्राप्त है। यहाँ की संस्कृति विश्वास और प्रेरणा का स्त्रोत है; जिसमें पूर्ण रूप से लौकिक, धार्मिक, सामाजिक विश्वास, परम्पराएँ, संस्कार, सरल जीवन दर्शन उच्च आदर्श आदि मूल रूप से समाए हुए हैं।

हरियाणवी संस्कृति का मूल आधार लोकसाहित्य है जिसमें हम वास्तविक जीवन का प्रतिबिम्ब देख सकते हैं। मानव जीवन की विविध अवस्थाओं और सांस्कृतिक मूल्यों की झलक को हम लोक साहित्य में देख सकते हैं।

डॉ० भीम सिंह मलिक ने लोकसाहित्य के बारे में बताया है– ''पान के पुनः चबाने में, गन्ने की पोर–पोर के रस में तथा महाभारत के कथा श्रावण में जो मजा बार–बार आता है; वही सरसता और ताजगी लोकसाहित्य के कण–कण में व्याप्त है।''[4]

लोकसाहित्य का निर्माण गद्य व पद्य विधाओं से मिलकर होता है। इसमें लोक कहानी, लोक चटुकला, लोक कड़का, लोकनाटक, लोक किस्सा, रागनी लोकगीत आदि देखने को मिलते हैं। धार्मिक ग्रन्थों में जो स्थान 'गीता' का है; वही स्थान लोकसाहित्य में लोकगीतों का है। लोकगीतों में समग्र जीवन की कटु एवं मृदु अनुभूतियाँ मुखरित हुई हैं। इन गीतों का कोई विशेष रचनाकार नहीं होता है। ये तो स्वतः ही जन्म लेते हैं। लोकगीत नारी कंठ से उत्पन्न के हृदय की वे लयात्मक अनुभूतियाँ है जिसमें सम्पूर्ण जीवन की रागात्मक कृतियों की अभिव्यक्ति हुई है।

हरियाणवी लोकगीत अपनी मधुरता, सहजता और भाषाई विविधता के कारण पूरे देश भर में प्रसिद्ध हैं। इन गीतों में हरियाणवी बोली के साथ–साथ ब्रज, पंजाबी, राजस्थानी, उर्दू आदि का अनूठा मिश्रण देखा जा सकता है। लोकगीतों में इस भाषाई विविधता का कारण प्रदेश की भौगोलिक स्थिति है। हरियाणा प्रदेश की भौगोलिक सीमाओं का दूसरे प्रदेश की सीमाओं से मेल इस सांस्कृतिक विरासत को जीवंत रखता है। इन लोकगीतों में मुख्य रूप से ऋतुओं के गीत, दिनचर्या के गीत, संस्कार गीत, पारिवारिक गीत, भक्ति गीत व देश प्रेम सम्बन्धी गीत आते हैं। उन सब गीतों में हम प्रदेश की संस्कृति

की झलक व भाषाई विविधता को स्पष्ट रूप से देख सकते हैं।

हरियाणा प्रदेश की उत्तरी सीमा पंजाब से लगती है। मुख्य रूप से अंबाला, कुरूक्षेत्र, पंचकूला, कैथल आदि में पंजाबी भाषा के शब्दों के लय का समावेश है। इस क्षेत्र के लोकगीतों में पंजाबी भाषा का प्रभाव बखूबी देखा जा सकता है। पंजाबी भाषा में 'ता' के स्थान पर 'दा'। गबरू, फागण, जूती, बीरा, आदि शब्दों का बहुतायत प्रयोग होता है। यही शब्द हमें हरियाणवी लोकगीतों में भी देखने को मिलते हैं जैसे :–

दादा देस जाँदा पर परदेस जाइए
म्हारी जोड़ी का बर ढूंढिए
हंस खेल हे दादी के हे पोती, ढूंढया सै फूल गुलाब का

ताऊ देस जान्दा परदेस जाइए.....
..... ढूंढया सै फूल गुलाब का

हरियाणवी संस्कार गीतों में भी अनेक ऐसे शब्द मिलते हैं जिन पर पंजाबी भाषा का प्रभाव सहज रूप से देखा जा सकता है। बच्चे के जन्मोत्सव पर घर पर कढ़ाई कराने से सम्बन्धित एक गीत –

या कुण करै कढाइयाँ या कुण कढाइयाँ
या कुण फेरै चमच्चा मिट्ठी लाग्गै पंजीरिया।

उषा करे कढाइयाँ उषा करे कढाइयाँ
मनोरमा फेरै चमच्चां, मिट्ठी लाग्गै पंजीरियाँ
..... या कूण करें कढ़ाइयाँ। [5]

इस गीत में प्रयोग हुए कढाइयाँ, चमच्चा, पंजीरियाँ शब्दों में पंजाबी पुट मिलता है। भाई के लिए प्रयोग होने वाला शब्द 'बीरा' का भी हरियाणवी लोकगीतों में भरपूर प्रयोग हुआ है जैसे :–

गठड़ी – मठड़ी बांध के बीरा तेरे आई
सुक्की बूरा घाल दई रे बीरा घी घाल्य कोन्या
ओछा घर की ओछनी रे बीरा बोली कोन्या
भीतर बड़ के बैठ गई पीढ़ा घाल्या कोन्या
ककरेजी साफा बाँध के रै बीरा मेरै आइए
बूरा थोड़ी घी घणा रे बीरा धिक्कम खाईए
..... गठड़ी – मठड़ी बांध के बीरा तेरे आई। [6]

यह गीत विवाह संस्कार गीतों में प्रमुख रूप से प्रचलित है। विवाह से पूर्व जब एक बहन अपने भाई के घर भात न्योतने जाती है; तब इस गीत को गाया जाता है। इन्हीं गीतों में एक और गीत है जिसमें हमें भाषाई विविधता देखने को मिलती है –

गलियारा सकेर आई री के भाती आवैंगे
मेरा चूंडा मड़के री के चुन्दड़ ल्यावैगे।

हरियाणा प्रदेश की पश्चिमी सीमा राजस्थान से लगने के कारण उस प्रदेश की संस्कृति व भाषाई विविधता हरियाणवी संस्कृति में समाई हुई है। इस कारण से हरियाणा के इस भाग को बागड़ तथा बोली को 'बागड़ी' की संज्ञा दी गई है। इस बोली में 'ऋ' स्वर की जगह 'रि' 'य' को 'ज' और 'ब' को 'ब' बोला जाता है। जैसे– काणा–काणो, याणा–याणो, दादा–दादी आदि। इसी से सम्बन्धित एक गीत देखिए –

बन्ने को दादो बाग लगावै बढ़िया
उसमें क्या–क्या चीज लगाई बढ़िया
आम नोरंजी अनार बढ़िया
घूम रह्यो बनड़ी लगाऐं चश्मां
लेट रही बनड़ी लगाएं तकिया
बन्ने को चाचो बाग लगावै बढ़िया
..... । [7]

हरियाणा प्रदेश के इस क्षेत्र में मुख्य रूप से रागनी, फाग गीत, झूलना, रसिया और बधावा गीत प्रचलित है। इन गीतों में हम देहाती जीवन के रंग व बागड़ी बोली का मिश्रण बखूबी देख सकते हैं। इसी से सम्बन्धित एक गीत देखिए –

राजस्थान म्हं छोरी मत ब्याहियों
छोरी ब्याहियो हरियाणे म्हं ।
राजस्थान म्ह बाजरी गो जीमणो
नाली कणक हरियाणै म्हं।। [8]

हरियाणा प्रदेश की सीमा ब्रज क्षेत्र से लगने के कारण यहां की बोली में ब्रज भाषा का प्रभाव भी हमें देखने को मिलता है। इस बोली में कटु ध्वनियों का अभाव होने के कारण माधुर्य रस भरा होता है। यह बोली मुख्य रूप से पलवल, हसनपुर होडल, फरीदाबाद, आदि में बोली जाती है। इस यह बोली बोलने में मधुर तथा सहज हैं, जो सुनने वालों के कानों में मिश्री सी घोल देती है। ब्रज भाषा और हरियाणवी बोली का यह मेल सांस्कृतिक एकता को दर्शाता है।

इसी सांस्कृतिक मेल का एक गीत देखिए –

राजा नंद के द्वार मची होली
कै मण लाल गुलाल उड़ी रोली
दस मण लाल गुलाल उड़ी रोली
पहलम तै राधा किसन बहोत खिलार

राजा नंद के द्वार मची होली
भर पिचकारी गोरी मुख, मारी
तै भीज गई पचरंग साड़ी। [9]

हरियाणवी लोकगीतों में गाए जाने वाले फागुन के गीतों में गोपियों को मस्ती और राधा–कृष्ण के प्रेम का चित्रण हमें देखने को मिलता है। इन गीतों में बृज भाषा के ये शब्द 'मोरी', 'मोहन', 'कान्हा' गुजरिया आदि बहुतायत मिलते हैं। इन्हीं शब्दों से सम्बन्धित एक गीत देखिए –

गोकुलगढ़ तै चली गुजरिया
सिर घर मटकी दहियन की
आगे मिल गया कुँवर कन्हैया
खड़ी रहो ए गुजरी घर की। [10]

हरियाणा प्रदेश का कुछ सीमावर्ती भाग राजस्थान के भरतपुर तथा अलवर जिलों से लगता है। इसमें प्रमुख रूप से गुरुग्राम जनपद की फिरोजपुर झिरका तथा नूंह तहसील आते हैं। इसी सीमावर्ती क्षेत्र को हम मेवात के नाम से जानते हैं। [11]

यहाँ पर मुख्य रूप से मेव जाति के लोग रहते हैं। यह क्षेत्र अपनी विशेष संस्कृति के लिए जाना जाता है। मेव जाति के लोग मुस्लिम धर्म में आस्था रखते हैं। परन्तु इस जाति ने दूसरे धर्मों के साथ भी सदैव सहानुभूति और अनुराग दिखाया है। उस जाति के फकीरों ने एक ऐसे दर्शन को जन्म दिया जिसमें हिन्दू व मुस्लिम संस्कृति का संगम है। यहां की उपभाषा मेवाती है। [12]

इनकी बोली में अनेक उर्दू शब्दों का समन्वय देखने को मिलता है। उर्दू के साथ–साथ अरबी व फारसी शब्दों का भी हरियाणवी बोली में मिश्रण मिलता है। हरियाणवी लोकगीतों में भाषाई विविधता का यह प्रभाव बखूबी देखा जा सकता है। ये शब्द 'दर्द', 'आशिक', 'लोग', 'प्यारी', 'दिल', 'यार', 'बहार', गुलशन' आदि काफी प्रचलित है जैसे –

जिठाणी दिल की प्यारी हे जेठ बेईमान
जिठाणी नीचे सौवे हे जेठ असमान
भीतर की सांकल मूँदी हे मनै लिया मोगरा हाथ
.....
तेरी भाभी दिल की प्यारी तेरा भाई बेईमान। [13]

फागुन के गीतों में लड़के को नवाब कहना उर्दू व हरियाणवी संस्कृति के मिश्रण को दर्शाता है जैसे–

होली खेलन आवै नवाब कहियो री मरहैटन तै
होली भी खेल्लै, डमरू भी बजावै
चालता उड़ावै गुलाल,
कहियो री मरहैटन तै [14]

लोकगीतों में अब पंजाबी, राजस्थानी, ब्रज व उर्दू भाषा के साथ–साथ हमें कुछ अन्य भाषाओं के शब्दों का देखने को मिलता है। ऐसा देखा गया है कि क्षेत्रीय प्रभाव के कारण एक ही गीत को कई रूपों में गाया जाता है। सावन मास में गाया जाने वाले एक गीत जो दो अलग–अलग रूप में गाया गया है –

आया री सासड़ सामण मास,
ईंढा गड़ा द्यो जी चम्पा बाग म्हं
म्हारे तो बहू चम्पा ने बाग
जाय गड़ाइयो जी अपणे बाप कै [15]

इसी गीत का दूसरा रूप देखिए–

री आया सासड़ सावन मास
बेड़ा बटा दे री पीले पाट का।
म्हारे तो री लच्छो। बेड़े की आन
जाए बटाइयो री अपने बाप के। [16]

लोकगीतों में अंग्रेजी भाषा के साथ देशष के शब्दों को भी शामिल किया गया। भाषाई विविधता का यह बेजोड़ मिश्रण गीतों की मनमोहकता को बढ़ा देता है जैसे –

जेठ मेरा दस पढ़र्या सै ए,
ऐ मेरा देवर बी.ए. पास
उतणी का अनपढ़ रहग्या ऐ
ए जाए रोए नै रोप दिया चाला

निष्कर्ष –

हरियाणवी लोकगीतों में पाया जाने वाला सांस्कृतिक समन्वय और भाषाई विविधता बेजोड़ संगम इनकी लोकप्रियता का मुख्य आधार है। हरियाणवी बोली के साथ अन्य भाषा शब्दों का मिश्रण होने पर भी इन लोकगीतों की भाषा सहज, सरल, स्वाभाविक एवं कोमलकान्त है। भाषाई विविधता होने के कारण इन गीतों की पदावली इतनी संगठित है कि हम किसी भी शब्द को अलग नहीं कर सकते। हमें कहीं भी ऐसे शब्दों का प्रयोग देखने को नहीं मिलता जो हमे कर्णप्रिय न हो ।

संस्कृति और भाषा का यह मिश्रण दर्शाता है कि हरियाणवी लोकगीतों ने अन्य भाषाओं को अपने देशी अंदाज में रखा बसा लिया है। इन गीतों के द्वारा न केवल भाषा का संरक्षण हुआ है बल्कि सांस्कृतिक पहचान को संरक्षित किया गया है। इस मिश्रित संस्कृति के कारण ही लोकगीतों में भावों की अभिव्यक्ति

और अधिक कोमल और आकर्षक हो गई है।

लोकगीत हमारी सांस्कृतिक विरासत है। हमें अपनी संस्कृति को समृद्ध रखने के लिए इन्हें संजोकर रखना चाहिए। लोकगीतों को हम लोक साहित्य की आत्मा कह सकते हैं क्योंकि जिस तरह शरीर से आत्मा के बिना निष्क्रिय है; ठीक वैसे ही लोकसाहित्य लोकगीतों के बिना निष्प्राण है। लोकगीतों में समाहित संस्कृति और भाषाई विविधता लोकसहित्य को समृद्ध और जीवंत बनाती है।

संदर्भ सूची

1. डॉ० रमाकांता, भारतीय लोकगीतों में हरियाणा का योगदान, पृ०सं०–19
2. डॉ० हरिशंकर शर्मा, भारतीय संस्कृति के आधार पृ०सं०–4
3. डॉ० हरिशरन वर्मा, हरियाणवी संस्कार गीतों की सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि, पृ० सं०–11
4. डॉ० भीम सिंह मलिक, हरियाणा ब्लॉक साहित्य, सांस्कृतिक दिग्दर्शन, पृ० स०–76
5. ओम प्रकाश काद्यान, हरियाणा के लोकगीत भाग–2, पृ० सं०–9
6. वही, पृ० सं०–29
7. वही पृ० सं० 52
8. वही पृ० सं०–240
9. वही पृ० सं०–224
10. वही पृ० सं०–170
11. डॉ० हरिशरन वर्मा, हरियाणवी संस्कार गीतों की सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि, पृ० सं०–5
12. डॉ० देवी शंकर प्रभाकर हरियाणवीः एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० सं०–35
13. जनार्दन शर्मा लोक रंग जकड़ी गीत, पृ०सं०–60
14. वही पृ० सं०–225
15. ओम प्रकाश काद्यान हरियाणा के लोकगीत भाग 2, पृ०सं०–189
16. वहीं, पृ० सं०–190

डॉ० रेखा
सहायक प्रोफेसर
हिन्दू गर्ल्स कॉलेज
सोनीपत (हरियाणा)
Email : rekhadahiya9609@gmail.com

6

Education and Women Empowerment

Mohini

Abstract

Education is a fundamental pathway to women's empowerment and a critical foundation for inclusive and sustainable development. Beyond the acquisition of literacy and academic knowledge, education enhances women's capabilities to make informed decisions, access economic opportunities, participate in public life, and exercise their rights. This paper examines the multidimensional relationship between education and women's empowerment, with particular attention to social, economic, political, and digital dimensions.

The study explores how access to quality and equitable education can strengthen women's agency, confidence, employability, and participation in decision-making. It also considers persistent barriers, including poverty, gender discrimination, early marriage, inadequate educational infrastructure, limited access to technology, and socio-cultural constraints. These challenges are particularly significant for women from rural, economically disadvantaged, and socially marginalized communities. The paper further highlights the importance of higher education, skill development, digital literacy, and supportive educational environments in expanding women's opportunities.

Using a conceptual and analytical approach based on secondary sources, the paper reviews relevant research, policy perspectives, and international development frameworks concerning women's education and empowerment. It argues that educational access alone is insufficient unless it is accompanied by quality, safety, affordability, relevance, and equal opportunities for progression into employment and leadership.

The paper concludes that investing in women's education generates benefits beyond individual advancement by contributing to gender equality, household well-being, social transformation, economic participation, and sustainable development. Strengthening inclusive educational policies and removing structural barriers can therefore play a decisive role in creating a more equitable and empowered society.

Keywords: Education, Women Empowerment, Gender Equality, Inclusive Development, Digital Literacy, Social Transformation

Introduction

Education and Women Empowerment

Education is closely connected with the development of individuals and the transformation of society. It provides knowledge, develops skills, shapes attitudes, and creates opportunities for people to participate meaningfully in social and economic life. In the case of women, education holds wider significance because it influences not only individual development but also family welfare, community participation, economic activity, and broader social progress. A woman who gains access to meaningful educational opportunities is better positioned to acquire knowledge, build confidence, understand her rights, and make informed choices about different aspects of her life—from health and family planning to career paths and civic engagement.

Women's empowerment is a multidimensional process. It involves greater agency (the capacity to define goals and act on them), improved access to and control over resources, meaningful participation in decision-making at household, community, and institutional levels, and the ability to influence matters that affect one's life and the lives of others. Education contributes to this process by expanding the range of available choices and strengthening women's capacity to respond to social, economic, and institutional opportunities. It helps develop communication, critical thinking, and problem-solving skills; enables the acquisition of professional qualifications; and supports more active participation in employment and public life. Importantly, education can also create spaces—classrooms, peer groups, and curricula—where traditional assumptions about gender roles are examined, questioned, and gradually transformed, making alternative possibilities visible and attainable.

Economic Independence and the Education

The importance of women's education becomes particularly evident in its relationship with economic independence. Educational qualifications and vocational skills improve access to formal employment, entrepreneurship, professional careers, and other income-generating activities.

Evidence consistently shows that each additional year of schooling can raise a woman's earnings substantially—often by up to 20 percent—and that secondary and tertiary education significantly increase the likelihood of labour-force participation. Women with secondary education are considerably more likely to work than those with only primary education or less, and the effect is even stronger with tertiary qualifications. Economic participation, in turn, often translates into greater involvement in financial decision-making within households and communities, enhancing bargaining power and reducing vulnerability.

However, the transition from education to meaningful employment is rarely automatic or equal. Social expectations about women's primary responsibility for unpaid care and domestic work, unequal distribution of household labour, gender-based discrimination in hiring and promotion, occupational segregation, and limited availability of quality jobs can prevent women from fully converting educational achievements into economic returns. Globally, while educational attainment gaps have narrowed substantially—approaching or achieving parity in many regions at primary and secondary levels—large gaps persist in economic participation and opportunity. Women remain underrepresented in higher-paying sectors, leadership positions, and STEM-related fields (where they constitute only around 35 percent of graduates and a smaller share of the workforce).

Social Dimensions and Intergenerational Effects The "drop to the top" is pronounced: women's representation often halves as one moves from entry-level to senior leadership roles. These structural barriers mean that education is a necessary but not sufficient condition for economic empowerment; complementary measures addressing childcare, workplace discrimination, flexible work arrangements, and skills matching are essential.

Education also carries a profound social dimension. It increases awareness of legal rights, health information, citizenship, public institutions, and social responsibilities. Greater awareness encourages women to participate in community activities, express views on matters affecting their families and localities, and engage with formal systems of governance and justice. In this sense, women's education contributes to gradual shifts in social attitudes, gender norms, and power relationships. The benefits extend well beyond the individual: educated women tend to invest more in their children's health, nutrition, and education, creating positive intergenerational effects. Maternal education is particularly influential; it is associated with higher educational attainment among offspring, delayed marriage and childbearing, lower fertility rates, and improved child survival and development outcomes. Studies of large-scale school construction programmes and compulsory schooling reforms demonstrate that gains in women's education raise the educational aspirations and outcomes of the next generation, with especially strong effects for daughters. These intergenerational returns amplify the social value of investing in girls' and women's education.

Persistent Barriers and Uneven Access

Despite considerable progress—global gender parity has largely been achieved or approached in primary enrolment, and secondary completion rates for girls have risen significantly in many regions—access remains uneven. Women and girls from poor households, rural communities, socially disadvantaged or marginalized groups, and geographically isolated or conflict-affected areas face compounded difficulties. Poverty, early marriage and childbearing, gender discrimination, inadequate school facilities (including lack of separate sanitation), safety concerns during travel to school, family care responsibilities, and limited transport continue to interrupt or restrict educational pathways. In low-income settings, completion rates remain markedly lower for girls from the poorest rural households. Conflict further exacerbates exclusion: girls in fragile contexts are substantially more likely to be out of school than boys.

The expansion of digital education has opened new possibilities for flexible, remote, and lifelong learning. Online platforms, open educational resources, and micro-credentials can help women balance studies with care responsibilities and reach those previously excluded by geography or institutional barriers. Yet the digital divide introduces another layer of disadvantage. Unequal access to devices, reliable internet connectivity, electricity, and foundational digital skills disproportionately affects women and girls, especially in rural and low-income areas. Gender norms sometimes restrict women's

ownership or use of mobile phones and computers; concerns about online safety further deter participation. Globally, significant numbers of women remain offline relative to men, and gaps in digital skills widen as tasks become more advanced. Without deliberate efforts to close these gaps—through affordable connectivity, gender-responsive digital literacy programmes, and safe online environments—digital education risks reinforcing rather than reducing existing inequalities.

Higher Education, Skills Development, and Lifelong Learning

and In the contemporary knowledge economy, higher education and continuous skill development have become increasingly critical. Universities, colleges, vocational and technical institutions, and online learning platforms equip women with specialized knowledge, professional credentials, and adaptable skills needed for evolving labour markets. Digital and hybrid learning modalities expand access beyond traditional classroom constraints, offering pathways for women returning to education after career breaks or those balancing multiple responsibilities. Micro-credentials and industry-aligned short courses in areas such as data analysis, digital marketing, and user-experience design have shown particular promise in enabling rapid upskilling transitions into higher-productivity roles.

Yet quality and relevance matter as much as access. Curricula must challenge gender stereotypes, provide role models, and prepare women for high-growth sectors rather than channelling them predominantly into traditionally female fields. Mentorship, career guidance, and support for STEM participation are vital, given persistent underrepresentation. Lifelong learning opportunities are especially important for women who may exit and re-enter the workforce due to care responsibilities; flexible, affordable, and recognized programmes can mitigate the scarring effects of career interruptions.

Beyond Enrolment: A Holistic Understanding

The relationship between education and empowerment must therefore be understood as far broader than school enrolment or basic literacy rates. Quality of learning (including foundational literacy, numeracy, and socio-emotional skills), continuity through secondary and tertiary levels, affordability, physical and psychological safety, curricular relevance to local and global opportunities, and the availability of post-education pathways into decent work and public life are equally decisive. Education systems that are gender-transformative—actively challenging discriminatory norms, ensuring inclusive pedagogy, and linking learning to agency and economic opportunity—generate the strongest empowerment outcomes.

In sum, education remains one of the most powerful instruments for advancing women's empowerment and, through it, broader societal transformation. Realizing its full potential requires sustained investment not only in expanding access but also in removing the interlocking barriers of poverty, discrimination, care burdens, and digital exclusion, while ensuring that educational gains translate into genuine agency, economic security, and intergenerational progress. When women are educated, families, communities, and nations benefit—making the pursuit of equitable, high-quality education for all women and girls both a matter of rights and a strategic imperative for inclusive development.

Objectives of the Study

1. To examine the role of education in strengthening women's social, economic, and personal empowerment.
2. To explore the contribution of education to women's employment, skill development, and economic independence.

Literature Review

The relationship between education and women's empowerment has received considerable attention in development studies, gender studies, and education research. Existing scholarship generally views education as an important means of expanding women's knowledge, capabilities, confidence, and opportunities. At the same time, the literature indicates that educational access by itself does not guarantee empowerment; social norms, economic conditions, institutional structures, and access to employment also influence women's ability to benefit from education.

Kabeer (1999) examined an important conceptual framework for understanding women's empowerment through the dimensions of resources, agency, and achievements. Her approach suggested that

empowerment involves an expansion of women's ability to make meaningful choices and act upon them. In this context, education can function as an important resource by developing knowledge, skills, awareness, and the capacity to participate in decision-making.

Sen (1999). provided a useful foundation for examining education and empowerment. From this perspective, development involves expanding people's substantive freedoms and opportunities. Education can therefore be understood not simply as the acquisition of qualifications but as a means of enlarging the choices available to women in different areas of life.

UNESCO (2024). Highlighted importance of investing in girl's and women's education for gender equality and inclusive development. Its report emphasizes that education can benefit women, their families, communities, and wider society. However, unequal access to quality education remains a significant concern in many contexts.

Recent literature also draws attention to the changing role of digital education. Access to digital learning and technology can create new opportunities for women to acquire knowledge, develop skills, and participate in economic and social activities. At the same time, differences in digital access and skills can reproduce existing inequalities.

Overall, the literature establishes a strong relationship between education and women's empowerment while also showing that the relationship is influenced by wider social and economic conditions. The presented study therefore considers education as a multidimensional process that can contribute to women's agency, decision-making, economic participation, and social transformation

Results

The analysis of available literature and secondary evidence indicates that education has a significant relationship with different dimensions of women's empowerment. The findings show that education can influence women's lives at personal, family, economic, social, and institutional levels. However, the extent of empowerment depends not only on educational attainment but also on the quality of education, continuity of learning, economic opportunities, social support, and the wider environment in which women live. Recent global data reinforce this nuanced picture: while educational attainment gaps have narrowed substantially (with the Educational Attainment subindex of the Global Gender Gap Index reaching 96.9% closed in 2026), large disparities persist in economic participation (61.7%) and political empowerment (22.1%).

1. Education and Personal Empowerment

Education contributes to the development of confidence, communication skills, awareness, and independent thinking among women. Educational experiences provide opportunities to acquire information and develop the ability to evaluate different choices. This strengthens participation in decisions related to education, employment, health, family responsibilities, and personal development.

Education also fosters greater awareness of rights and responsibilities. Knowledge of legal provisions, public institutions, health services, and available opportunities enables women to interact more effectively with institutions and make informed decisions. Programme evaluations illustrate these effects: in the British Council's EDGE programme across several South Asian and African countries, approximately 98% of adolescent girl participants reported increased self-confidence, and around 90% felt empowered to make their own decisions.

UNESCO's strategy for gender equality in and through education (2026–2029) emphasises moving “from access to agency,” highlighting that quality education builds the cognitive and socio-emotional foundations for personal empowerment. Globally, women still account for almost two-thirds of the 739 million adults lacking basic literacy skills, underscoring the foundational role of education in enabling agency.

2. Education and Decision-Making

A major finding is the connection between education and women's participation in decision-making. Education strengthens the ability to express opinions and participate in discussions concerning household and community matters. Women with educational exposure generally have greater access to information and are better prepared to assess alternatives.

Empirical studies confirm positive associations. In analyses of household decision-making in low- and middle-income countries, higher education is consistently

linked to greater involvement in decisions about healthcare, large household purchases, and visits to family. For example, research in Cameroon found that women with higher education were significantly more likely to participate in household decisions than those with no or only primary education. Cross-national latent class analyses further show that education and work often align with higher decision-making power, though the relationship is context-dependent and not automatic.

However, education does not automatically produce equal decision-making power. Family structures, economic dependence, social expectations, and cultural practices continue to shape autonomy. Supportive social conditions—including shifts in gender norms and economic independence—are necessary for educational gains to translate fully into decision-making authority.

3. Education and Economic Empowerment

Economic participation is a key domain in which education contributes to women's empowerment. School education, higher education, vocational training, and professional qualifications improve access to employment and income-generating opportunities. Skill-oriented education is particularly relevant because it connects learning with practical employment.

Evidence shows substantial returns: an additional year of schooling can increase a woman's earnings by up to 20%, and secondary or tertiary education markedly raises labour-force participation. Globally, women's workforce presence rose from 39.9% in 2015 to 41.8% by mid-2026, with senior leadership roles increasing from 26.7% to 29.6%. In India, the female labour force participation rate climbed from approximately 23% in 2017–18 to around 40% by 2025, accompanied by rising credit access among women entrepreneurs.

Yet the transition from education to employment remains challenging. Women now outperform men in tertiary enrolment in many regions (113 women enrolled per 100 men globally in recent UNESCO data), yet they remain underrepresented in the workforce and leadership. The "drop to the top" is stark: women's representation falls by roughly half from entry-level (around 46%) to C-suite positions (around 23%). Women constitute only about 35% of STEM graduates and hold far smaller shares of technology and senior technical roles. Limited employment opportunities, unequal treatment, family care responsibilities, mobility restrictions, and social expectations prevent many from fully benefiting from their qualifications. Employment, rather than schooling itself, accounts for most of the remaining gender gap in human capital outcomes.

4. Education and Social Empowerment

Education contributes to social empowerment by increasing awareness of equality, rights, health, citizenship, and social responsibilities. It encourages participation in community activities and engagement with public institutions. Exposure to education can provide alternative perspectives and encourage questioning of restrictive gender practices. Such changes often occur gradually through families, educational institutions, workplaces, and communities.

Intergenerational effects are particularly strong. Maternal education is associated with better child health, nutrition, cognitive development, and educational attainment. Studies of compulsory schooling reforms and school expansion programmes show that gains in women's education raise children's outcomes and reduce intergenerational transmission of disadvantage, with especially pronounced effects for daughters in many contexts. Educated mothers tend to invest more in children's learning and delay marriage and childbearing, contributing to broader social progress.

5. Education and Political Participation

Education strengthens awareness of democratic processes and public institutions. Knowledge of voting, government programmes, civic rights, and public policies can encourage more active participation in public life. It also supports the development of leadership and communication skills essential for political engagement.

Despite educational advances, political representation lags. As of 2026, women hold approximately 27.5% of seats in national parliaments worldwide and 22.4% of cabinet ministerial positions. Only 28 countries have women serving as Heads of State or Government, and gender parity in the highest positions of power is estimated to be more than a century away at current rates. The Political Empowerment subindex of the Global Gender Gap Index stands at only 22.1% closed.

Education correlates with higher civic knowledge and engagement, and countries with greater female parliamentary representation often show improved outcomes in areas such as health and education policy. However, structural barriers—including gender norms, unequal access to political networks, violence against women in politics, and the concentration of high-influence portfolios among men—limit translation of educational gains into political power. Evidence also indicates that women's leadership in education institutions themselves can improve learning outcomes and promote gender-equitable environments.

In conclusion, education is a powerful but incomplete driver of women's empowerment. Its benefits across personal, decision-making, economic, social, and political dimensions are well-documented, yet realisation depends on complementary changes in labour markets, social norms, care infrastructure, digital access, and institutional opportunities. Sustained progress requires gender-transformative education systems that not only expand access and quality but actively build agency and link learning to real-world opportunities for influence and independence.

Conclusion

Education has a central role in the process of women's empowerment and in the broader transformation of society. The discussion in this study shows that education is not limited to literacy or the acquisition of academic qualifications. It can strengthen women's knowledge, confidence, skills, awareness, and ability to participate in decisions that affect their lives. When women receive meaningful and continuous educational opportunities, they are better positioned to understand their rights, explore professional possibilities, communicate their views, and participate in social and economic activities.

The relationship between education and economic empowerment is particularly important. Education and skill development can improve women's access to employment, entrepreneurship, professional careers, and income-generating activities. Economic participation may increase women's contribution to household resources and strengthen their involvement in financial decisions. Nevertheless, educational qualifications do not automatically result in economic independence. Employment discrimination, unequal wages, family responsibilities, limited mobility, and social expectations may restrict women's ability to convert educational achievements into economic opportunities. Therefore, education policies need to be supported by measures that create fair and accessible pathways from learning to employment.

Education also contributes to social empowerment by increasing awareness of rights, health, legal provisions, citizenship, and social responsibilities. It can encourage women to participate in community activities and public institutions and can provide opportunities to question practices that restrict their choices. In this respect, education has the potential to influence not only individual lives but also attitudes within families and communities. Educated women can also contribute to creating a positive learning environment for younger generations, thereby extending the benefits of education beyond one generation.

At the same time, the study recognizes that women do not experience education in the same way. Poverty, rural location, social disadvantage, gender discrimination, early marriage, inadequate infrastructure, safety concerns, household responsibilities, and limited access to technology can affect educational participation and outcomes. These challenges demonstrate that increasing enrolment alone is not sufficient. Educational institutions must provide quality learning, safe environments, affordable access, appropriate infrastructure, and opportunities for continued study.

Higher education, vocational education, and digital learning have created additional possibilities for women's development. They can provide specialized knowledge, professional skills, technological competencies, and access to wider employment opportunities. However, the digital divide must be addressed so that technological progress does not create further inequalities. Women from rural and economically disadvantaged communities require particular support in accessing devices, internet connectivity, digital skills, and relevant training.

The study therefore emphasizes the need for a comprehensive approach to women's empowerment. Educational policies should be connected with employment opportunities, skill development, financial inclusion, healthcare, safety, digital access, and social

protection. Families, educational institutions, communities, governments, and other stakeholders have complementary roles in creating an environment in which women can continue their education and use their knowledge and skills in meaningful ways.

Ultimately, women's empowerment through education should be understood as a long-term process rather than a single educational outcome. The real impact of education becomes visible when women are able to transform knowledge and skills into greater choice, participation, opportunity, and agency. Ensuring equitable access to quality education for every girl and woman can contribute to stronger familie.

References

Inter-Parliamentary Union & UN Women. (2026). Women in politics data (as of January/September 2026).

Kabeer, N. (1999). Resources, agency, achievements: *Reflections on the measurement of women's empowerment. Development and Change*, **30**(3), 435–464.

Mir, A. A., Satpathy, B., Iqbal, S., & Chiu, B. (2025). *Empowering girls through education: A long-term impact evaluation of the English and Digital for Girls' Education (EDGE) project*. British Council. https://doi.org/10.57884/0EJ3-Z654

Sen, A. (1999). Development as freedom. Oxford University Press.

UN Women & United Nations Department of Economic and Social Affairs. (2026). *Progress on the Sustainable Development Goals:* The gender snapshot 2026.

UN Women, & United Nations Department of Economic and Social Affairs. (2024). *Progress on the Sustainable Development Goals*: The gender snapshot 2024. United Nations.

UN Women. (2026). *Facts and figures*: Women's leadership and political participation.

UNESCO. (2024). *Her Education Our Future: Investing in girls' and women's education*: A smart investment to accelerate development. Global Education Monitoring Report.

UNESCO. (2026). *From access to agency: UNESCO strategy for gender equality in and through education 2026–2029*. https://www.unesco.org/en/gender-equality/education

World Bank. (2026). *Human Capital Index Plus (HCI+)* [Data set]. World Bank Data Catalog. https://datacatalog.worldbank.org/search/dataset/0067030/human-capital-index-plus

World Economic Forum. (2026). *Global gender gap report 2026*. https://www.weforum.org/publications/global-gender-gap-report-2026/

Yu, S., Chen, F., & Desai, S. (2023). Aligning household decision-making with work and education: A comparative analysis of women's empowerment. *Demographic Research, **48***, 513–548. . https://doi.org/10.4054/DemRes.2023.48.19

MOHINI

PG Student,

Department of Anicient Indian History ,

Culture and Archaeology,

Kurukshetra University ,

Kurukshetra, Haryana

Corresponding Author Email:mohininehra@gmail.com

Ph. No 8950864540

7

Silence, Female Identity and Patriarchal Structures in Shashi Deshpande's That Long Silence

Dr. Poonam Rani

Abstract

Shashi Deshpande's That Long Silence is an important work of Indian English fiction that explores the complex relationship between gender, marriage, silence and female identity. The novel presents the psychological journey of Jaya, an educated middle-class Indian woman who gradually becomes conscious of the ways in which patriarchal expectations have shaped her personality, relationships and choices. Her silence is not merely an absence of speech; it is the consequence of social conditioning, marital expectations and the pressure to fulfil conventional roles as wife and mother. This paper examines silence as both a form of oppression and a psychological space through which self-awareness develops. It analyses Jaya's relationship with Mohan, the significance of Kamat, the role of writing in the construction of female identity, and the influence of traditional ideals of womanhood. The study argues that Jaya's movement from silence towards articulation represents a movement from self-effacement to self-recognition. Deshpande does not offer a simplistic rejection of marriage or family. Instead, she explores the possibility of an authentic female identity within complicated social and domestic relationships. The novel consequently makes a significant contribution to Indian English women's writing and feminist literary discourse.

Keywords

Shashi Deshpande; That Long Silence; Jaya; female identity; patriarchy; silence; marriage; women's writing; self-expression; Indian English literature

1. Introduction

Shashi Deshpande occupies an important place in Indian English literature, particularly for her sensitive portrayal of women's psychological experiences. Her fiction focuses on the lives of ordinary middle-class women and examines the tensions between individual desires and social expectations. Unlike narratives that represent women's oppression only through extraordinary events, Deshpande frequently locates conflict within everyday domestic life.

That Long Silence is one of Deshpande's significant novels in this respect. The protagonist, Jaya, is an educated woman, a wife, a mother and a writer. Yet these identities do not provide her with complete emotional or intellectual fulfilment. Her life reveals the contradiction between being educated and being socially conditioned to remain silent.

The novel begins during a period of crisis in Jaya's married life. Her husband Mohan faces an investigation connected with his professional activities, and the family temporarily moves to their Dadar flat. This physical displacement gives Jaya an opportunity to reflect upon her past. Memories of childhood, marriage, motherhood and relationships emerge through an introspective narrative.

The title That Long Silence is central to an understanding of the novel. It refers not merely to Jaya's personal inability to speak but to the wider cultural silence imposed upon women. The novel's epigraph, derived from Elizabeth Robins's 1907 speech to the Women's Writers' Suffrage League, associates women's silence with the historical marginalization of half of humanity. The title therefore establishes a connection between Jaya's individual experience and the wider condition of women.

The present study examines how Deshpande uses silence to represent patriarchal conditioning and how Jaya gradually develops a greater awareness of her own identity.

2. Research Objectives

The major objectives of this research are:

1. To examine the significance of silence in That Long since
2. To analyse Jaya's struggle for an independent female identity
3. To examine the influence of patriarchy on marriage and domestic relationships.
4. To study writing as a means of female self-expression.
5. To analyse the roles of Mohan and Kamat in Jaya's psychological development.
6. To examine the relationship between traditional ideals of womanhood and female silence.

3. Research Questions

The study seeks to answer the following questions: How does silence function as a form of patriarchal conditioning?

How does marriage influence Jaya's sense of identity? What role does writing play in Jaya's self-realization? How does Deshpande question conventional ideals of

female sacrifice?

Does Jaya's movement towards articulation represent a form of liberation?

4. Research Methodology

This paper employs a qualitative textual and interpretative methodology. The primary text is Shashi Deshpande's That Long Silence. The novel is examined through feminist literary criticism, with particular attention to gender roles, patriarchy, female subjectivity, domesticity and voice. Secondary critical discussions are used to place the novel within the broader field of Indian English women's writing. The approach is primarily close reading, concentrating on characterization, narrative technique, recurring images and the symbolic significance of silence.

5. Literature Review

Critical discussions of Shashi Deshpande's fiction have frequently concentrated on female identity, domestic relationships, silence and the psychological conflicts experienced by educated Indian women. Scholars have also emphasized the importance of narrative form in understanding Deshpande's treatment of women's experiences.

A feminist narratological reading of That Long Silence emphasizes the importance of the female first-person narrator and the relationship between women's writing and women's experience. The novel's narrative voice enables Jaya to become both the subject and interpreter of her own story. Such an approach is particularly significant because the novel is concerned with the process through which a woman moves from being spoken about to speaking for herself.

Critical studies focusing specifically on the theme of silence argue that silence in the novel has several dimensions. It is associated with discrimination, subordination, marital adjustment and the psychological consequences of patriarchal expectations. The women surrounding Jaya also demonstrate different forms of silence, suggesting that her experience is part of a broader social pattern.

Other critical discussions have examined the relationship between Jaya and Mohan and have pointed out that their marriage is characterized by emotional distance and unequal expectations. Jaya's gradual withdrawal from open communication demonstrates how silence can become habitual within a marriage. Her inability to question Mohan is therefore not simply a personal weakness but the result of a social structure in which the husband's authority is given greater legitimacy.

The existing scholarship provides a useful foundation, but the present paper brings together three closely connected aspects—silence, female identity and writing—to argue that Jaya's journey is fundamentally a movement towards self-recognition. Her final awareness is not an uncomplicated rejection of family life but an attempt to recover an individual voice within it.

6. Jaya and the Problem of Female Identity

Jaya is the central consciousness of the novel. She is educated and intellectually capable, yet she gradually loses confidence in expressing her own desires. Her transformation after marriage is symbolized by the alternative name “Suhasini,” associated with the ideal wife.

The distinction between Jaya and Suhasini is important. Jaya represents the woman with questions, desires and intellectual interests, whereas Suhasini represents the socially acceptable wife who is expected to be agreeable and accommodating.

Jaya's difficulty is not simply that Mohan prevents her from making choices. More subtly, she has internalized the expectation that her choices must fit his expectations. She gradually stops asking what she herself wants.

7. Silence as Patriarchal Conditioning

Silence is the central metaphor of the novel. Jaya learns that speaking openly may disturb domestic harmony. She therefore chooses accommodation over confrontation.

One of the strongest expressions of this condition occurs when Jaya realizes that she has learnt a set of rules governing communication: “No questions, no retorts. Only silence” (Deshpande 143). The statement is significant because it presents silence almost as a social code.

The silence is not confined to Jaya. Other women in the novel also demonstrate the consequences of suppressing their feelings. Mohan's mother, Vimla and other women provide different examples of endurance, suffering and accommodation. Jaya gradually recognizes that what is often described as women's “strength” may actually conceal considerable emotional suffering.

Thus Deshpande questions the conventional

glorification of female endurance. A woman who never protests may be praised as patient and ideal, but her silence may also indicate that she has been denied a meaningful opportunity to express herself.

8. Marriage and Patriarchal Expectations

Marriage is one of the most important social institutions examined in the novel. Deshpande avoids presenting Mohan as a simple villain. Instead, Mohan himself is shaped by conventional ideas of masculinity and marital authority.

The conflict between Jaya and Mohan arises partly because their expectations of marriage are different. Jaya desires emotional understanding and intellectual companionship, while Mohan is more comfortable with established roles.

The result is a marriage in which both individuals gradually suppress aspects of themselves. Jaya describes their relationship as one in which parts of themselves have been removed to maintain balance. The apparent stability of the marriage therefore hides emotional dissatisfaction.

Jaya's silence also becomes connected with her fear of damaging Mohan's self-esteem. She learns that disagreement can threaten the emotional equilibrium of the household. Consequently, she frequently chooses silence even when she possesses a strong opinion.

The novel demonstrates that patriarchy does not always operate through explicit commands. It can function through expectations, habits and the internal belief that preserving family harmony is primarily the woman's responsibility.

9. Kamat and the Possibility of Dialogue

Kamat plays a significant role in Jaya's psychological development. He represents a relationship based more on conversation and intellectual understanding than on conventional marital roles.

Through Kamat, Jaya experiences the possibility of being recognized as an individual. His presence contrasts with the emotional distance that she experiences in her marriage.

Kamat's significance is therefore not merely personal. He represents the possibility of dialogue. His relationship with Jaya makes her conscious of the importance of communication and intellectual freedom.

His death also becomes significant because it forces Jaya to reflect upon her inability to respond openly. The memory becomes part of her larger recognition that silence has shaped much of her life.

10. Writing as Self-Expression

Writing is central to Jaya's identity. Before marriage, she possesses literary ambitions, but after marriage her writing becomes increasingly restricted by her concern about Mohan's reaction.

When Mohan objects to one of her published stories, Jaya feels guilty. Although he does not explicitly order her to stop writing, she internalizes his disapproval and abandons writing for a period.

The psychological significance of this decision is considerable. Writing is not merely a profession or hobby for Jaya. It is one of the few spaces in which she can construct an identity independent of her domestic role.

Her realization that she has abandoned writing because of her husband's expectations becomes an important moment of self-awareness. She remembers that “I had stopped writing” (Deshpande 144).

The statement is deceptively simple. Its significance lies in Jaya's recognition that she herself participated in the suppression of her own voice. She had allowed social expectations to become internal restrictions.

Writing therefore becomes a metaphor for speech. To write honestly is to recover the right to interpret one's own life.

11. Emotional Distance in Marriage

Jaya's reflections reveal that physical and emotional intimacy are not necessarily identical. Her marriage contains moments of physical closeness but lacks sufficient emotional communication.

Jaya's description of the relationship is particularly revealing when she says that “our bodies had done that” (Deshpande 98). The statement conveys her feeling that physical union has not necessarily produced emotional unity.

This distinction is important to Deshpande's representation of marriage. The author does not reduce marital conflict to sexual incompatibility. Instead, she shows that emotional communication, recognition and mutual respect are equally important.

The silence between husband and wife becomes a form of emotional separation. They inhabit the same domestic structure but do not always share the same

emotional world.

12. Myth and the Ideal Indian Woman

Deshpande uses references to Indian mythology to question traditional concepts of ideal womanhood. Figures such as Sita, Savitri, Draupadi and Gandhari form part of the cultural framework through which women have historically been understood.

The ideal woman is frequently associated with qualities such as patience, sacrifice, loyalty and endurance. Jaya gradually realizes that these qualities can become oppressive when they are treated as compulsory requirements.

The figure of Gandhari is particularly relevant because her voluntary blindness becomes a metaphor for the way women may close their eyes to uncomfortable realities in order to preserve relationships.

Jaya recognizes that she too has practiced a form of emotional blindness. She has often known that something is wrong but has chosen not to confront it.

Deshpande therefore reinterprets traditional female virtues from the perspective of the woman who has to live them.

13. Narrative Technique and Female Consciousness

The first-person narrative is essential to the novel's feminist significance. Jaya is not merely the object of somebody else's description; she becomes the narrator of her own experiences.

The narrative moves between past and present, reflecting the functioning of memory. The fragmented structure mirrors Jaya's psychological state. Memories that appear disconnected gradually become part of a larger understanding of her identity.

This technique also allows the reader to experience the difference between external appearance and internal reality. From outside, Jaya may appear to be an ordinary wife and mother. From inside her consciousness, however, her life contains conflicts, ambitions, frustrations and unanswered questions.

The narrative voice consequently becomes an instrument of resistance. By telling her own story, Jaya begins to challenge the silence that has previously defined her.

14. From Silence to Self-Recognition

The conclusion of the novel should not be interpreted as a sudden or complete liberation. Jaya does not simply reject her marriage, family or social responsibilities. Instead, she reaches a deeper understanding of herself.

Her major achievement is psychological: she recognizes that accommodation cannot be the sole foundation of her identity.

The movement from silence to speech is therefore gradual. Jaya first needs to hear her own thoughts before she can communicate them to others. Her writing becomes an important space for this internal dialogue.

Deshpande's approach is consequently more complex than a simple opposition between tradition and modernity. The novel asks whether an individual can maintain relationships while also retaining a distinct sense of self.

15. Conclusion

Shashi Deshpande's That Long Silence is a significant exploration of female identity, marital relationships and patriarchal conditioning. Through Jaya's introspective journey, Deshpande demonstrates that women's silence may be produced by social expectations as much as by direct oppression.

Jaya's marriage to Mohan reveals the subtle mechanisms through which patriarchy operates. She learns to accommodate, to avoid questions and to protect her husband's feelings. Gradually, these habits become part of her own psychological structure.

The novel's importance lies in its refusal to provide an easy solution. Deshpande does not suggest that freedom necessarily requires the destruction of marriage or family. Instead, she argues implicitly for the recognition of women's individuality within relationships. Writing becomes central to this process. Jaya's movement towards writing and self-expression represents a movement towards reclaiming her own experience. Her silence is gradually transformed into an awareness that she possesses a voice.

Ultimately, That Long Silence is not simply the story of an unhappy marriage. It is the story of a woman learning to recognize herself after years of defining herself through the expectations of others. Deshpande's achievement is to make this private process a larger literary statement about women's voices. Jaya's journey from silence towards self-awareness consequently

represents an important contribution to feminist Indian English fiction.

Works Cited

Deshpande, Shashi. That Long Silence. Penguin Books, 1989.

Jha, Pashupati, and Nagendra Kumar. "Looking Back in Anger: Shashi Deshpande's That Long Silence." Writing the Female: Akademi Awarded Novels in English, edited by M. K. Pandey, Sarup & Sons, 2004, pp. 149–159.

Kapoor, Maninder, and Seema Singh. "After That Long Silence: A Feminist Narratological Study of Shashi Deshpande." Journal of Postcolonial Cultures and Societies, vol. 3, no. 2, 2012, pp. 68–87.

Kane, P. V. History of Dharmaśāstra. Bhandarkar Oriental Research Institute, 1941–1977.

"Silence and Survival: A Study of Shashi Deshpande's That Long Silence." International Journal of Trend in Scientific Research and Development, vol. 7, no. 1, 2023, pp. 769–771.

Dr. Poonam Rani
Associate Professor
Department of English
Hindu Girls College, Sonepat
Email: phogatpoonam111@gmail.com

8

A Study of Hindu Religious Values in the work of Amish Tripathi

Sonam Mahiwal, Dr. Raja

Abstract

The title of this research paper is 'A Study of Hindu Religious Values in Amish Tripathi's Works'. Lord Shiva is worshipped by people across the globe, and this tradition has endured for thousands of years. Through his trilogy (a three-book series), Amish portrays Shiva's journey while also incorporating other divine figures such as Sati, Kali, Ganesha, Nandi, and Kartikeya. His ideology is grounded in the divine principle of equality. He took an imagined Indian culture as his ideal and elevated it to the stature of the world's greatest civilizations. Amish narrated the story of the most multifaceted deity in Hindu mythology and presented the *Shiva Purana* in a fresh light; in doing so, he portrayed Lord Shiva as a flesh-and-blood human being who ultimately attains divinity through his deeds. He depicted divine figures as ordinary humans like us, devoid of any supernatural powers. His characters possess human qualities, flaws, and uncertainties; yet, what makes them truly distinct and divine is a fundamental aspect of Amish's writing style that even without supernatural powers, they remain ordinary human beings. Amish have woven an element of humanity into his works that sets them apart from characters who are purely divine.

Keywords: Gods, Goddesses, Portrayed, Hindu Religion

Introduction:

He believes that Lord Shiva worshipped by many across the world as a deity—was an ordinary human being 4,000 years ago, but his deeds transformed him into who he is today. In his trilogy, Amish presents Shiva's journey alongside other divine figures such as Sati, Kali, Ganesha, Nandi, and Kartikeya. Through the Ramchandra series, he portrayed the life journeys of Ram, Sita, Lakshman, and many other devoted individuals. Despite being born into royalty, they had to confront extremely unfortunate circumstances, hardships, and struggle to make this earth a better place for future generations. Amish Tripathi is now one of India's most famous authors. The popularity of his debut novel, *The Immortals of Meluha*, earned him the status of a best-selling author. He was born on October 18, 1974, in Mumbai. He grew up in Rourkela, Odisha, and graduated from St. Xavier's College, Kolkata, and the Indian Institute of Management. He had considered building a career in the field of history. Initially, he worked in the finance sector and possesses over 14 years of experience in this field. Over the past 14 years, he has worked with Standard Chartered, DBS Bank, and IDBI Federal Life Insurance.

The Shiva Trilogy also includes *The Secret of the Nagas* (published in August 2011) and *The Oath of the Vayuputras* (published in February 2013). Following the tremendous success of his Shiva Trilogy, Amish decided to launch a new novel series titled the 'Ram Chandra Series'. Amish notes that he had originally intended to retell the story of the *Mahabharata* in the final novel of the Shiva Trilogy, but he chose to begin with the *Ramayana* before moving on to the *Mahabharata*. In August 2017, he also published a non-fiction book titled 'Immortal India'. Since 2010, over 4 million copies of Amish Tripathi's novels have been sold. His novels have been translated into Marathi, Hindi, Gujarati, Tamil, Telugu, Assamese, Malayalam, Kannada, Estonian, Spanish, Portuguese, Polish, Indonesian, and Odia. Amish assert that he planned for his novels to be translated into many languages since the traditionally western-oriented Indian publishing sector is progressively assimilating Indian cultural sensitivity. Tripathi expressed the conviction that, in five years, sales of novels in different languages other than English would surpass those in English. He notes that this is a massive change in publishing as individuals take pride in their local culture regarding the media; he says that another analogous example is regional language channels on television, which get more viewers. Dharma Productions acquired the film rights to The Immortals of Meluhain 2012.

In India, where large-scale novel sales are not the norm, Tripathi's books are immensely popular. His success in the Indian market can be attributed to his marketing skills and strategies. Amish believe that marketing is essential to get most Indians to buy his books; according to him, it is a mistake to think that an excellent novel will sell itself. He says there are many books that could have become bestsellers but were not promoted properly; consequently, very few people know about them.

He understands India's geography through the lens

of its historical transformations, and this narrative portrays India's golden past as the finest place on earth. Their ideology is rooted in the divine principle of equality. He took an imagined Indian culture as his ideal and elevated it to the level of the world's greatest civilizations. Amish narrated the story of the deity with the most diverse facets in Hindu mythology and presented the *Shiva Purana* in a new light; in doing so, he portrayed Lord Shiva as a flesh-and-blood human being who ultimately attains divinity through his deeds. Throughout the novel, the author adopts a humanistic approach to present the 'Shiva Trilogy' as a "spiritual guide for the next generation," enabling readers to learn about Mahadev and embrace goodness while understanding evil. (Bulfinch 76)

Every great civilization possesses a vast treasure trove of mythology; Egypt, Rome, Greece, India, and China are prominent examples. Throughout history, these civilizations gave rise to folklore, communal celebrations, and cultural beliefs, which eventually formed a massive repository of myths. India possesses the world's largest collection of mythology and folklore. Its sources of inspiration include the four Vedas, the Upanishads, the two great epics, the eighteen major Puranas, and a wide array of mantras, plays, poems, sculptures, dances, and folktales. India's mythological history can be traced back to "Dravidian and pre-Dravidian tribal groups" that existed prior to the arrival of the Aryans (Bulfinch 77).

Human endeavors have become the subject of mythological tales, with the Ramayana and the Mahabharata being the most prominent examples. These stories are grounded, to some extent, in actual events and vividly portray the interplay of human qualities and personalities. Contemporary Indian authors such as Amish Tripathi, Ashok Banker, and Ashwin Sanghi have initiated a new chapter in this tradition by blending ancient mythology with modern realities. In this way, these authors are modernizing Indian fiction. Amish said that Hindu gods were originally human beings like us, not mythical creatures or imaginary creations, and he gave a human touch to each character and place in the books. According to Clarke,

People's misconceptions about religion may stem from their social status and their tendency towards isolation. Ananthamurthy's work *Samskara* illustrates that there is no room for universality within Hinduism. *Moksha* (liberation) is the foundation of human existence; to attain it, people follow various traditions and lead virtuous lives. When people first come into contact with the world, religion influences their lives. This research examines the impact of'frame of reference' on people's thinking. The Manusmriti, Ramayana, and Mahabharata are discussed in detail at the end of the essay (Clark 54).

Furthermore, there is also a debate regarding the concept of rank in the Rigveda. The prevailing view concerning *samskaras* is that rituals should be observed in the traditional manner, and that they are not performed merely for the sake of tradition. This article is written in very simple, conversational language; this is highly significant for me as it relates to my paper. Initially, he considered writing a philosophical treatise on the subject, but later abandoned the idea and contemplated publishing a novel, as his primary interest lay in history and mythology. The author's experience is highly illuminating in the context of this research. The harsh world of banking opened the author's eyes and introduced them to a lifestyle vastly different from that rat race. They rekindled their long-standing interest in history and culture and began studying various mythologies, particularly Indian or Hindu mythology.

After studying and discussing various religions and mythologies, he realized that the ancient religion of Persia Zoroastrianism was the exact opposite of the religion of Vedic India Hinduism. He discovered that in ancient Persia, gods were referred to as 'Ahuras' and demons as 'Devtas' the precise reverse of Indian mythology; indeed, the supreme deity of Zoroastrianism is known as 'Ahura Mazda'. He has employed this very concept of deities in the 'Shiva Trilogy', wherein the supreme deity of the 'Parihans' is 'Ahura Mazda'—who is formless and bears a strong resemblance to our concept of 'Parramatta' (the Supreme Soul)—and the leader of the 'Vayuputras' represents him on Earth. He attributed this to the fact that there is no place for the's' sound in the ancient Parihan language; it would transform into either 'sh' or 'h'. Consequently, 'gods' are referred to as 'Ahuras' and 'demons' as 'Daevas' in their culture much like in the Zoroastrian religion. (Tripathi 372)

His family convinced him that a thriller and adventure

story based on Indian mythology would have a better chance of success, so he decided to write 'The Immortals of Meluha' instead. Amish worshipped Lord Shiva more than any other deity and decided to make Shiva the protagonist of his first novel. Although he was deeply interested in mythology, he was firmly convinced that the heroes of Hindu mythology were actually human beings who had ascended to the status of gods through their extraordinary deeds. During a series of unfortunate events, Lord Shiva drinks poison, and his throat turns blue. The secret of *Somras* is crucial to the story of *The Immortals of Meluha*, and much of the narrative revolves around it.

Throughout the novel, Shiva encounters several unexpected situations that cause him to question the stories of the Suryavanshis. He also comes face-to-face with the 'Naga' clan—figures of cruelty and hatred who spell trouble for the Suryavanshis and the story culminate when a Naga attacks Sati and Shiva saves her. 'The Secret of the Nagas', the second novel in the famous trilogy, opens with a chapter describing how Shiva saved Sati from an attack by the Nagas. Subsequent events reveal to him the alliance between the dangerous Nagas and the kingdom of Branga.

The Nagas are warriors who wear masks resembling snakes; hence the name. However, as the story unfolds, Shiva discovers that the Nagas are people born with physical deformities that the perfectionist Suryavanshis adherents of the 'Maika' system had abandoned in the forests to die. Under this system, only physically perfect children were permitted to survive. Those who were adopted and raised as one's own children were perfectly suited for their assigned roles. During the battle with the Nagas, Shiva realizes they are formidable warriors and develops respect for them. The Naga capital, Panchavati, is situated on the other side of the Godavari—a massive river that Shiva likens to the Ganga. Shiva also meets Kali, a Naga and Ganesha's aunt; he had previously suspected her of abducting Sati.

The story reveals that Ganesha is actually Sati's lost son, who had been abandoned at birth due to physical deformities. Similarly, Kali is Sati's sister, who embodies a distorted form. Drawing upon ancient tales, mythological families, avatars, and deities, Amish Tripathi weaves a narrative that reflects contemporary Indian issues through a complex storyline. Discussing the expulsion of the Nagas from the paradise of the so-called Suryavanshis of Meluha due to their physical abnormalities, the author aligns with Dr. Ambedkar's perspective. *The Oath of the Vayuputras* illustrates that Shiva eventually became a "deity" precisely because of his extraordinary exploits (Frye 54).

Emboldened by his decisions and the audacity to defy the great King Daksha, he defeated the enemy; however, during the battle with Daksha, Sati was killed by a suicide warrior from Western India. Enraged by this, Shiva unleashed a 'divine weapon' upon Meluha, obliterating the city and its civilization forever.

References:

Bulfinch. Bulfinch's Mythology. Whitefish: Kessinger, 2004

Campbell, Joseph. The Hero with a Thousand Faces. Princeton University Press, N.J, 1949

Gokhale, Namita. In Search of Sita: Revisiting Mythology, edited by Malashri Lal Penguin, London, 2009

Clark. The novel in India: its birth and development. Cambridge University Press, 2nd ed., 2009 Fry.

Anatomy of Criticism. Longman, London, 2003

Tripathi, Amish. The Immortals of Meluha, Westland publishers, 2010

Tripathi, Amish. The Secret of the Nagas, Westland Publishers, 2012.

Sonam Mahiwal
Phd Scholar
Department of English
Om Sterling Global University,
Hisar (Haryana)

Dr. Raja
Assistant Professor
Department of English Om
Sterling Global University,
Hisar (Haryana)

9

THE SOCIAL DETERMINANTS OF HEALTH IN INDIA

Dr. Arvind Sirohi* Dr. Himanshu Kumar**

Abstract

In India, scholars have adapted this framework to highlight how caste, tribe, religion, gender, and rural–urban divides operate as structural axes that condition exposure to risk and access to protective resources. The social determinants of health in India refer to the non-medical conditions in which people are born, grow, live, work, and age that systematically shape health outcomes and produce avoidable inequities across social groups. In the Indian context, these determinants are deeply intertwined with historical structures of social stratification—especially caste, tribe, gender, class, and region—and with contemporary processes of economic change, urbanisation, and policy reform. Understanding SDH in India therefore requires moving beyond individual risk factors to analyse how power, resources, and institutions distribute opportunities for health unequally across the life course.

The World Health Organization's Commission on Social Determinants of Health (CSDH) defines SDH as the conditions "in which people are born, grow, live, work, and age," shaped by the distribution of money, power, and resources at global, national, and local levels. Climate change has direct health impacts and damages the social determinants of health and livelihoods unequally. People with the lowest incomes more often depend on resources provided by nature. In low-income countries, girls and women often collect water and fuel and must travel farther to obtain them. Social determinants of health refer to non-medical factors like socioeconomic status, education, housing, and environment that shape health outcomes more than clinical care alone. In sociology, medicine plays a key role in society by treating illness and promoting health, but it must address these broader social contexts to be effective. Social determinants of health encompass the circumstances where people are born, grow, live, work, and age, including economic stability, education access, neighbourhood quality, and social support networks. These factors create health gradients, where lower socioeconomic positions correlate with poorer health due to limited resources and higher risks. Health follows a social gradient whereby the more deprived the area in which people live, the lower their income, the fewer their years of education, the worse their health, and the fewer healthy years they can expect to live. Governance processes need to ensure that policies and systems are developed and implemented to ensure everyone can realize the conditions needed for a healthy and decent life.

Sociological Role of Medicine

Medicine functions as a social institution essential for societal stability, per functionalist views, through doctor-patient hierarchies that enable recovery and role resumption. Medical sociology examines how social structures influence healthcare delivery, doctor-patient interactions, and health disparities. It highlights medicine's limits, urging clinicians to consider social factors beyond biology for holistic care.

Caste remains one of the most powerful social determinants of health in India. Disaggregated data from the National Family Health Survey (NFHS) show persistent gradients in child mortality, maternal health, nutrition, and access to care across caste groups. It includes economic stability, access to education, social support networks, healthcare quality, neighbourhood safety, and food security. These factors create health inequities; for instance, low-income groups face higher disease risks due to poor housing and limited nutrition. Diderichsen's model, developed by Finn Diderichsen, Tim Evans, and Margaret Whitehead, explains how societies produce and sustain health inequities through social processes. Stratification leads to differential exposure to health risks, vulnerability, and consequences, perpetuating inequities across social layers. Lower strata face compounded disadvantages, amplifying health disparities through limited protections and higher risk burdens.

Role of Medicine in Society: Medicine is not limited to curing disease; it plays a **broader social role** in improving the quality of life and promoting social welfare.

- **Disease Prevention and Health Promotion:** Through vaccination, sanitation, nutrition programs, and health education, medicine helps prevent illness before it occurs.
- **Diagnosis and Treatment**: Medical science provides tools to diagnose diseases and treat them

Indian Journal of Social Concerns, Volume-15, Issue -74, Sep. -Oct.. 2026,
(An International Peer-Reviewed & Refereed Journal)
(RNI-UPBIL/2011/38102, ISSN-2231-5837)
JOURNAL IMPACT FACTOR NO. 8.01
DOI - REF. No. IIJIF241001

effectively, reducing suffering and mortality.

- **Reducing Health Inequalities:** Public health programs aim to reach vulnerable populations and reduce disparities in healthcare access.
- **Social Control and Regulation**: Medicine helps regulate harmful behaviours (e.g., substance abuse), occupational safety, and epidemic control.
- **Medical Ethics and Human Values:** Medicine promotes ethical practices such as patient rights, informed consent, and respect for human dignity.
- **Support for Social Development**: A healthy population contributes to economic productivity and national development.
- **Rehabilitation and Social Reintegration**: Medical care helps disabled and chronically ill individuals return to a productive social life.

Social Determinants of Health: **Social determinants of health** are the social, economic, cultural, and environmental conditions in which people are **born, grow, live, work, and age**. These factors strongly influence a person's health status—often **more than medical treatment itself**. The social determinants of health are the conditions in which people are born, grow, work, live, and age, and the wider forces that shape the conditions of daily life. Most health outcomes stem from non-medical root causes rather than clinical care alone. Estimates indicate medical care accounts for only 10-20% of health, with the remaining 80-90% driven by social, environmental, behavioural, and genetic factors. Wider forces include economic policies and systems, development agendas, social norms, social policies, and political systems. Social determinants of health matter because addressing them not only helps prevent illness but also promotes healthy lives and equity.

- **Income & Poverty:** Income affects nutrition, housing, sanitation, and access to healthcare. Poverty is closely linked with malnutrition, infectious diseases, and higher mortality.
- **Education:** Education improves health awareness, hygiene practices, and use of health services. Literate individuals are more likely to adopt preventive health behaviours.
- **Occupation and Working Conditions:** Unsafe working environments expose workers to physical, chemical, and psychological hazards, leading to occupational diseases.
- **Housing and Environment:** Overcrowding, poor ventilation, polluted water, and poor sanitation increase the risk of communicable diseases.
- **Social Inequality and Caste/Gender:** Discrimination based on caste, gender, or class leads to unequal access to nutrition, healthcare, and social support.
- **Culture and Lifestyle:** Food habits, addiction, traditional beliefs, and customs influence health-seeking behaviour and disease patterns.
- **Social Support and Community:** Strong family and community networks promote mental health and quicker recovery from illness.

Non-medical aspects of health

Social injustice continues to kill on a grand scale, in both high- and low-income countries, as the world fails to tackle the non-medical root causes of ill health. Social determinants of health equity outweigh genetic influences or health-care access in influencing health outcomes.

- Within countries, life expectancy varies by decades, depending on which area you live in and the social group to which you belong. Where data are available, within-country health inequities are often growing.
- The social gradient in health means that health outcomes are closely linked with degrees of social disadvantage.
- Indigenous populations have lower life expectancy than non-Indigenous populations in rich and poor countries alike.
- Children born in low-income countries are 13 times more likely to die before the age of 5 than in high-income countries.

Health inequities

Health inequities stem from how society allocates resources and opportunities, reinforced by political choices and leadership.

- address economic inequality and invest in social

infrastructure and universal public services.

- overcome structural discrimination and the determinants and impacts of conflicts, emergencies, and forced migration, such as by ensuring displaced people can access health and social services;
- manage the challenges and opportunities posed by the mega-trends of climate change and the digital transformation to promote health equity co-benefits; and
- promote governance arrangements that devolve money, power, and resources to local government, empower community engagement and civil society, and prioritize action on the social determinants of health equity in cross-government policy platforms and strategies.

Conclusion

For sociology and public health in India, the SDH framework offers both an analytical lens and a normative agenda: to understand how power and structure produce health inequities, and to act collectively to transform those structures in the pursuit of social justice and the right to health. Health is not merely a biological condition but a **social phenomenon**. Social determinants shape health outcomes, while medicine acts as a powerful social institution that works to prevent disease, promote health, reduce inequality, and support social development. Effective healthcare requires addressing **both medical and social factors.**

References

1. Wu Y-T, Daskalopoulou C, Muniz Terrera G, Sanchez Niubo A, Rodríguez-Artalejo F, Ayuso-Mateos JL et al. Education and wealth inequalities in healthy ageing in eight harmonised cohorts in the ATHLOS consortium: a population-based study. Lancet Public Health 2020;5: e386–e394.
2. Moreno-Agostino D, Daskalopoulou C, Wu Y-T, Koukounari A, Haro JM, Tyrovolas S et al. The impact of physical activity on healthy ageing trajectories: evidence from eight cohort studies. Int J Behav Nutr Phys Act 2020; 17:92.
3. Chancel L, Piketty T, Saez E, Zucman G, Duflo E, Banerjee AV, editors. *World Inequality Report 2022*. Cambridge, Massachusetts; London, England, The Belknap Press of Harvard University Press, 2022.
4. Pickett KE, Wilkinson RG. Income inequality and health: a causal review. Social science & medicine. 2015 Mar 1; 128:316-26.
5. International Labour Office. *World Social Protection Report 2024-26: Universal social protection for climate action and a just transition*, 1st ed. Geneva, International Labour Office, 2024.
6. Nearly 2.4 Billion Women Globally Don't Have Same Economic Rights as Men. https://www.worldbank.org/en/news/press-release/2022/03/01/nearly-2-4-billion-women-globally-don-t-have-same-economic-rights-as-men.
7. World Bank. 2024. *International Debt Report 2024*. Washington, DC: World Bank. doi:10.1596/978-1-4648-2148-6. License: Creative Commons Attribution CC BY 3.0 IGO.
8. UN Women. Explainer: How gender inequality and climate change are interconnected. 2022. https://www.unwomen.org/ en/news-stories/explainer/2022/02/explainer-how-gender-inequality-and-climate-change-are-interconnected.
9. UNHCR. Figures at a glance. https://www.unhcr.org/about-unhcr/who-we-are/figures-glance.

Dr. Arvind Sirohi*

*Assistant Professor,

Department of Sociology,

C.C.S. University, Campus, Meerut

Dr. Himanshu Kumar**

**Assistant Professor,

Department of Sociology,

C.L.M. Landaura, Roorkee, Haridwar

10

AI-Driven Digital Transformation and the Future of Work: A Sociological Perspective

Dr. Rakhi Gupta

Abstract

Artificial intelligence (AI) is reshaping the organization of work, employment relations, occupational structures, and everyday workplace interactions. Beyond its technological and economic implications, AI-driven digital transformation represents a significant sociological shift in how individuals experience employment, authority, skill, identity, and social inequality. This paper examines the changing relationship between technology and society by exploring how AI, automation, algorithmic management, and data-driven decision-making are transforming contemporary workplaces. From a sociological perspective, the study investigates the redistribution of tasks between humans and intelligent systems and considers its consequences for employment security, occupational autonomy, workplace power, and professional identity. Particular attention is given to the emergence of new forms of digital labour, changing skill requirements, workforce polarization, and disparities in access to technological opportunities. The paper also considers how algorithmic systems may reproduce or intensify existing inequalities related to socioeconomic position, gender, education, and occupational status. The study argues that the future of work should not be understood solely in terms of technological substitution or productivity gains. It is equally a question of social relations, institutional arrangements, human agency, and inclusion. The paper therefore advocates a human-centred approach to digital transformation that combines technological innovation with social protection, ethical governance, workforce participation, and equitable access to skills. By placing AI within a broader sociological framework, the study contributes to understanding how technological change is redefining the structure and experience of work in contemporary society.

Keywords: Artificial intelligence, Digital transformation, decision-making, social inequality.

1. Introduction

Artificial intelligence has evolved from a specialized area of technology to a crucial part of modern economic and social structures. Generative AI, machine learning, automated decision systems, predictive analytics, robotics, and algorithmic management are being incorporated into workplaces ranging from manufacturing and logistics to banking, education, healthcare, information technology, retail, and platform-based services. As a result, the way that people interact with technology is changing at the level of individual jobs, professions, organizations, and labor markets.

Because AI is becoming more capable of handling activities including language, prediction, classification, pattern recognition, content creation, and decision support, the current revolution is different from previous waves of mechanization. This indicates that ordinary physical activities are no longer the primary focus of technology advancement. Significant task transformation can also occur in professional and cognitive activities. According to the International Labor Organization's 2025 global assessment, only a comparatively tiny percentage of global employment (about 3.3%) falls into the highest exposure category, whereas one in four workers globally are in occupations with some degree of exposure to generative AI. Since most occupations still involve human labor, the ILO emphasizes that employment transformation is more likely than total replacement (Gmyrek et al., 2025; International Labor Organization, 2025).

However, from a sociological standpoint, the main question is not just whether AI will generate or eliminate a specific number of employment. The most basic issues include who is in charge of technology systems, who gets from increased productivity, whose abilities become valuable, whose work is supervised, and how opportunities and dangers are distributed. AI has the potential to both increase worker productivity and decrease worker autonomy. It might damage established occupational identities while creating new occupations. It might increase performance pressure and surveillance while decreasing repetitious work.

India's labor market, which includes a sizable working-age population, substantial informal employment, gender differences in labor force participation, rural-urban disparities, and rapid growth in digitally mediated services, makes these questions especially crucial. Based on an IMF assessment, India's Economic Survey has identified artificial

intelligence (AI) as a significant factor that is likely to change employment. It has found that about 26% of Indian jobs are highly exposed to AI, though the type and degree of that exposure vary depending on the occupation (Government of India, 2024; International Monetary Fund, 2024).

India Budget

However, current government labor statistics show that exposure to AI alone is insufficient to comprehend India's labor market. The worker population ratio (WPR) was 57.7%, the unemployment rate was 3.2%, and the all-India usual-status labor force participation rate (LFPR) for individuals aged 15 and over was 59.6%, according to the Ministry of Statistics and Program Implementation's Periodic Labor Force Survey (PLFS) for the year 2024. The gender component of labor-market participation is still present, as evidenced by the corresponding female LFPR of 40.3% vs 79.2% for males (Ministry of Statistics and Program Implementation, 2025).

Ministry of Statistics

AI is joining a labor market that is already institutionally divided and uneven. Education, occupation, gender, geography, organizational position, access to digital resources, and negotiating power are all likely to have different effects.

Therefore, rather of viewing AI-driven digital transformation as just a technological or economic event, this article views it as a sociological transformation of work (Gmyrek et al., 2025; International Labor Organization, 2025).

2. Research Problem

There are conflicting expectations as a result of AI's quick spread. Productivity, innovation, new professions, and improved human capacities are highlighted in one viewpoint. Another focuses on loss of occupational autonomy, inequality, surveillance, deskilling, and job displacement. Evidence now available indicates that the complexity of modern labor-market transformation cannot be fully captured by either technology optimism or te technological pessimism.

Therefore, the gap between technological capabilities and social results is a major research concern. In theory, AI systems might be able to automate specific jobs without really automating those tasks. On the other hand, companies may utilize AI to increase monitoring, standardize tasks, reorganize professions, or disperse decision-making power rather than to replace employees. This study tackles the following research problem: What institutional conditions can support a socially sustainable future of work, and how is employment, occupational structures, workplace authority, skills, and social inequality being reshaped by AI-driven digital transformation?

3. Objectives of the Study

The study has the following objectives:

1. To examine the sociological implications of AI-driven digital transformation for contemporary work.
2. To analyse available official Indian labour-market data in relation to the emerging AI transformation.
3. To examine the implications of AI for employment security, occupational autonomy, skills, workplace power, and social inequality.
4. To identify major institutional challenges associated with AI-enabled workplaces.
5. To propose a human-centred framework for managing AI-driven changes in employment

and work organization.

4. Methodology

4.1 Research Design

A qualitative-descriptive research design using secondary data is used in this study. It blends descriptive analysis of official labor market and policy data with sociological analysis of current literature.

The study makes no claims about estimating a causal relationship between employment and AI adoption. To support such a claim, longitudinal microdata identifying AI adoption at the occupational or workplace level and tracking ensuing job consequences would be necessary. The main official labor-force databases in India do not currently have such nationally representative causal data.

4.2 Sources of Data

The principal sources include:

Periodic Labour Force Survey (PLFS), Ministry of Statistics and Programme Implementation, Government of India.

Economic Survey of India, Ministry of Finance,

Government of India.

Ministry of Electronics and Information Technology reports concerning India's AI ecosystem.

International Labour Organization research on generative AI and employment.

International Monetary Fund research on AI, labour markets, and inequality.

World Economic Forum's Future of Jobs Report 2025.

Recent peer-reviewed literature published during 2024–2025.

The PLFS 2024 provides official national labour-market indicators for January–December 2024.

Ministry of Statistics

4.3 Analytical Approach

The analysis proceeds through four levels:

Macro level: technological change, employment and labour-market restructuring.

Organizational level: algorithmic management, surveillance and managerial authority.

Occupational level: task transformation, skills and professional identity.

Individual/social level: autonomy, inequality, employability and worker agency.

This multilevel approach is consistent with a sociological understanding of work as simultaneously an economic activity, social institution, source of identity, and site of power.

5. Conceptual Framework

The study uses five interrelated elements to conceptualizeAI-driven digital transformation:

5.1 Transformation of Tasks Certain tasks may be automated by AI without the occupation in which they are embedded being eliminated. As a result, the task rather than the work as a whole is often the proper unit of analysis.

5.2 Transformation of Occupations

Occupations may undergo deskilling, reskilling, upgrading, or fragmentation when the makeup of jobs changes significantly. As a result, professional identities may shift.

5.3 Management by Algorithms

Task distribution, performance evaluation, scheduling, coordination, monitoring, and other tasks traditionally performed by managers are increasingly being carried out by algorithms. Algorithmic management extends beyond platform work into traditional organizational settings, according to recent studies.

5.4 Power Redistribution in the Workplace

Digital systems have the potential to transfer decision-making power from employees and managers to companies and technology suppliers. Therefore, one crucial aspect of workplace power is the capacity to comprehend, contest, or alter algorithmic conclusions.

5.5 Inequality in Society

Exposure to AI is not likely to be socially neutral. Workers vary in terms of education, digital skills, income, gender, geography, job status, and training availability. As a result, there may be an unequal distribution of AI's advantages and disadvantages.

6. Literature Review

Salari et al. (2025). This paper examined both positive and negative effects of generative AI on the labour market. Their review emphasizes the potential for productivity enhancement, new employment possibilities, and changes in occupational requirements while also identifying concerns regarding displacement and employment insecurity.

6.2 Algorithmic Management and Workplace Authority

Wood (2024). argues that algorithmic management has become an important analytical framework for understanding the use of computer algorithms to perform managerial functions in both platform and conventional workplaces. The literature raises questions about collective bargaining, managerial authority, worker control, and organizational power.

Rani et al. (2024). in an ILO/JRC studied logistics and healthcare, found that algorithmic management is present in traditional sectors as well as platform work. The study identifies potential efficiency benefits alongside concerns about job quality and intrusive worker surveillance. Its inclusion of India and South Africa is particularly relevant to understanding algorithmic management outside high-income economies.

Rottgen et al. (2024). further examined algorithmic management with human-centred task design and worker well-being. Their conceptual synthesis emphasizes that the design of AI-supported work systems can influence the psychological and organizational characteristics of work.

6.3 AI, Inequality and Occupational Polarization

A third literature stream examines distributional consequences. The IMF's 2024 analysis estimates that AI exposure is particularly substantial in advanced economies and among highly educated workers. It also identifies gender differences in exposure and warns that labour-income inequality may increase when AI complements high-income workers more strongly than lower-income workers. At the same time, substantial productivity gains could increase income for many workers.

The Indian Economic Survey 2023–24 similarly estimated that approximately 26% of Indian employment was exposed to AI, distinguishing occupations according to potential complementarity and substitution. The Survey notes that India's service sector, including business-process outsourcing, may experience significant transformation, while other applications of AI may complement workers in healthcare, education, agriculture, and supply-chain management.

India Budget

This evidence indicates that the social consequences of AI cannot be reduced to aggregate employment. Even where total employment remains stable, inequalities can change through differences in wages, occupational status, bargaining power, access to training, and career progression.

6.4 Human-Centred AI and the Future of Work

A fourth emerging literature focuses on governance and human-centred technological design. The central proposition is that technological systems should be designed around human capabilities and social objectives rather than efficiency alone.

The ILO's 2025 synthesis emphasizes social dialogue and the need to manage AI transitions in ways that protect working conditions while enabling productivity gains.

The World Economic Forum's Future of Jobs Report 2025 projects substantial labour-market restructuring through 2030. Based on employer expectations, it estimates 170 million jobs could be created and 92 million displaced across the major trends examined, producing a projected net increase of 78 million jobs. These are projections rather than observed employment outcomes and should therefore not be interpreted as forecasts of actual employment.

World Economic Forum

The emerging literature consequently favours a transition-oriented perspective: AI should be accompanied by worker participation, lifelong learning, institutional protection, and mechanisms for contesting consequential automated decisions.

7. Results

7.1 India's Labour-Market Context

The most recent official PLFS data used in this analysis show that India's labour market already contains substantial structural differences by gender and location.

Table 1

Selected All-India Labour-Market Indicators, Persons Aged 15 Years and Above

Indicator	2023	2024
LFPR, usual status	59.8%	59.6%
WPR, usual status	58.0%	57.7%
Unemployment rate, usual status	3.1%	3.2%
Female LFPR, usual status	41.3%	40.3%
Male LFPR, usual status	78.3%	79.2%
Female WPR, usual status	40.1%	39.0%
Male WPR, usual status	75.8%	76.6%

Source: Ministry of Statistics and Programme Implementation, PLFS 2024.

Ministry of Statistics

The statistics show that gender disparities are still significant in the labor market where AI is being introduced. Men's usual-status LFPR in 2024 was 79.2%, while women's was 40.3%. Because unequal participation can result in unequal access to new AI-enabled employment prospects, this disparity is significant from a sociological perspective.

7.2 Disparities Between Rural and Urban Areas

Additionally, the PLFS data show persistent rural-urban disparities. For all individuals, the usual-status LFPR in 2024 was 52.2% in urban areas and 62.9% in rural regions. But there were significant differences in the gender composition. The female LFPR in rural areas was 45.8%, whereas in urban areas it was 27.6%.

Statistics Ministry

These numbers warn against viewing "the Indian worker" as a monolithic group. The effects of AI are probably

going to be different for professionals, highly trained technical workers, platform workers, urban service workers, agricultural workers, and informal workers.

7.3 India's AI Exposure

According to the Economic Survey 2023–2024, AI was used in 26% of Indian jobs. It separated this exposure into roughly 12% of jobs with comparatively low complementarity and 14% of jobs with comparatively high potential complementarity.

India's Budget

This finding is important for the sociological argument of the paper. Exposure should not be interpreted as equivalent to unemployment. A worker can be highly exposed to AI because AI changes how the worker performs tasks rather than because the occupation disappears.

AI exposure - task transformation- possible occupational restructuring - potentially different employment, skill and power outcomes.

7.4 International Evidence as Comparative Context

The ILO's 2025 assessment estimates that 25% of global employment is in occupations with some degree of GenAI exposure, with approximately 3.3% of global employment in the highest exposure category. The highest-exposure category is also gender differentiated: the ILO reports 4.7% of female employment versus 2.4% of male employment in that category globally.

International Labour Organization

The findings reinforce the importance of analysing AI through a gender and occupational lens rather than relying exclusively on aggregate employment figures.

7.5 India's Institutional Response

India has also expanded its institutional infrastructure for AI. The Ministry of Electronics and Information Technology's 2025-26 annual report describes the IndiaAI Mission as a national programme built around computing capacity, datasets, foundation models, applications, future skills, startup financing, and safe and trusted AI. The report states that more than 38,000 GPUs and 14 cloud partners had been established under the AI ecosystem described in the report, alongside programmes involving students, researchers, laboratories and AI applications.

This indicates that India's AI transformation is not simply market driven. It is increasingly supported by public investment in computing, skills, research and institutional infrastructure.

8. Sociological Interpretation of the Findings

8.1 AI and the Transformation of Occupational Identity

Work is not merely a means of earning income. Occupations provide individuals with identity, social status, professional recognition, networks and a sense of purpose. When AI assumes tasks previously associated with professional expertise, the meaning of occupational competence can change.

For example, when software generates preliminary legal documents, financial analyses, educational material or medical decision-support information, professionals may increasingly be evaluated according to their ability to interpret, verify, supervise and contextualize AI-generated outputs rather than solely produce those outputs themselves.

8.2 Autonomy and Surveillance

Algorithmic management may increase organizational efficiency by allocating tasks and monitoring performance. However, increased monitoring can also alter workers' experience of autonomy.

ILO research on algorithmic management in logistics and healthcare identifies concerns about intrusive surveillance and potential deterioration in job quality alongside efficiency gains.

8.3 Skills and the New Digital Divide

AI creates demand for technical skills, but the transformation also increases the importance of non-technical capabilities such as critical reasoning, communication, creativity, contextual judgment and collaborative problem-solving.

The risk is that access to these skills may become stratified. Workers with higher education, better digital infrastructure and organizational training may use AI as a productivity-enhancing complement. Workers without such access may experience greater substitution pressure or occupational insecurity.

Thus, the future digital divide may increasingly concern not merely access to technology, but capacity to use, understand and influence technology.

8.4 Gender Inequality

Gender is particularly important because AI exposure and labour-market participation intersect. India's PLFS data

show a large gender gap in labour-force participation.

Ministry of Statistics

If new AI-enabled occupations are concentrated in highly educated and digitally connected sectors, existing inequalities in education, employment networks, unpaid care responsibilities and occupational segregation may influence who receives the benefits.

Consequently, AI policy should incorporate gender-sensitive skill development and employment strategies.

8.5 Platformization and Algorithmic Control

AI is also accelerating the platformization of work. Digital platforms can allocate jobs, determine prices, evaluate performance and mediate communication through algorithms.

This changes the traditional employment relationship. Instead of a visible human supervisor, workers may interact with a digital system whose decision-making processes are partially opaque.

9. Discussion

The findings support a central sociological proposition: AI is transforming work primarily through the reorganization of tasks, authority and social relations, not simply through the elimination of jobs. Three major patterns emerge.

First, available evidence indicates that AI exposure is widespread but uneven. The ILO's global findings and India's Economic Survey both indicate substantial exposure, but exposure varies according to occupation and task composition.

Second, the consequences depend upon institutional context. The same technology can complement workers in one organization while replacing or intensifying the work of employees in another. Organizational decisions concerning staffing, training, monitoring and work design mediate technological effects.

Third, inequality is a central concern. Existing inequalities can become embedded in AI systems through differences in access to skills, data, digital infrastructure and organizational power. The IMF's analysis similarly emphasizes that AI can have different distributional consequences depending upon the balance between labour substitution, labour complementarity and productivity growth. The evidence therefore does not support a simple technological-determinist interpretation in which AI automatically produces either mass unemployment or universal prosperity. Rather, technological change interacts with institutions, markets and social relations.

10. Major Challenges

The study identifies the following major challenges:

10.1 Employment insecurity

Workers whose tasks are highly automatable may face restructuring, reassignment or redundancy.

10.2 Skill polarization

Demand may increase for workers capable of designing, managing and evaluating AI systems while reducing demand for certain routine cognitive tasks.

10.3 Algorithmic surveillance

Continuous data collection may increase workplace monitoring and reduce perceived autonomy.

10.4 Unequal access to training

Workers in smaller firms, informal employment and low-income occupations may receive fewer opportunities for AI-related reskilling.

10.5 Accountability

Automated decisions concerning recruitment, promotion, scheduling or performance evaluation can create difficulties in identifying responsibility when errors occur.

10.6 Occupational identity

Professionals may experience uncertainty when AI performs tasks traditionally considered central to their expertise.

10.7 Gender and regional inequality

Existing differences in labour-force participation and digital access can affect who benefits from AI-enabled opportunities.

11. Suggestions and Policy Recommendations

11.1 Develop a National AI-and-Employment Data System

India should strengthen official data collection concerning AI adoption at the workplace and occupational levels. Future labour surveys could include indicators concerning:

1. AI use by occupation
2. Tasks automated or augmented by AI
3. Worker access to AI-related training
4. Algorithmic performance monitoring
5. Changes in hours and earnings following AI

adoption

6.Occupational transitions

11.2 Promote Lifelong Learning

AI-related training should not be limited to elite technology professionals. Public and private institutions should provide modular training accessible to workers at different educational levels.

Training should combine:

1. Digital literacy
2. AI literacy
3. Occupational skills
4. Critical evaluation of AI outputs
5. Cybersecurity and data protection
6. Communication and problem-solving

11.3 Establish Worker Participation in AI Deployment

Employees should have opportunities to participate in organizational decisions concerning AI adoption. Worker consultation can improve technological implementation while identifying unintended consequences for workload, safety and job quality.

11.4 Regulate High-Stakes Algorithmic Decisions

Organizations using AI for recruitment, promotion, dismissal, performance evaluation or scheduling should maintain human oversight and provide workers with meaningful mechanisms for explanation and appeal.

11.5 Protect Worker Privacy

AI-enabled workplace monitoring should follow principles of necessity, proportionality, transparency and data minimization.

11.6 Strengthen Social Protection

Workers affected by technological restructuring require mechanisms that support transitions between occupations, including unemployment protection, retraining, career counselling and portable benefits.

11.7 Focus on Women and Underrepresented Groups

AI-skilling programmes should deliberately address barriers affecting women and other groups with historically lower participation in digitally intensive occupations.

11.8 Encourage Human-Centred Work Design

Organizations should evaluate AI systems not solely through productivity metrics but also through indicators of:

1. Job quality
2. Autonomy
3. Worker well-being
4. Learning
5. Safety
6. Fairness
7. Meaningful participation

11.9 Support MSMEs and Informal Workers

Large firms may have greater capacity to invest in AI and worker training. Smaller enterprises and informal workers may therefore require public infrastructure, affordable digital tools and accessible training programmes.

11.10 Promote Social Dialogue

Government, employers, workers, trade unions, educational institutions and civil society organizations should participate in discussions concerning the future organization of work. The ILO's recent work similarly emphasizes social dialogue as part of managing the AI transition.

12. Theoretical Contribution

This paper contributes to the sociology of work by proposing that AI-driven transformation should be examined through a four-dimensional sociological model:

Technology - Tasks - Institutions - Social Outcomes

Technology changes the technical possibilities of work, but it does not independently determine social outcomes.

Tasks determine which parts of an occupation are automated, augmented or newly created.

Institutions determine how technological capabilities are implemented through organizational rules, labour regulation, education, social protection and worker participation.

Social outcomes emerge through the interaction of these processes and include changes in employment, inequality, autonomy, occupational identity and workplace power.

This framework moves beyond technological determinism and economic reductionism by placing human agency and institutions at the centre of the analysis.

13. Limitations of the Study

Several limitations should be acknowledged.

First, this is a secondary-data study and does not contain original worker-level survey data.

Second, official Indian labour statistics currently do not provide a comprehensive longitudinal measure linking individual employment outcomes directly to AI adoption.

Dr. Rakhi Gupta
Department of Sociology,
CDLU, Sirsa, Haryana
*Email:*rakhii.jmd@gmail.com
Ph. No. 8800342172

Third, estimates of AI exposure are not equivalent to actual automation or job displacement.

Fourth, international projections, including employer-based estimates, represent expectations rather than observed future employment outcomes. The World Economic Forum's estimates

References

Gmyrek, P., Berg, J., Kamiński, K., Konopczyński, F., Ładna, A., Nafradi, B., Rosłaniec, K., & Troszyński, M. (2025). Generative AI and jobs: *A refined global index of occupational exposure* (ILO Working Paper 140). International Labour Organization.

Government of India. (2024). Economic survey 2023-24. Ministry of Finance.

International Labour Organization. (2025). Generative AI and jobs: A 2025 update (Research Brief).

International Monetary Fund. (2024). Staff discussion note on generative AI and labour market disruptions (as cited in Economic Survey 2023-24).

Ministry of Statistics and Programme Implementation. (2025). Key employment and unemployment indicators from Periodic Labour Force Survey (PLFS), 2024. Government of India. https://www.mospi.gov.in

Rani, U., Pesole, A., & Gonzalez Vazquez, I. (2024). Algorithmic management practices in regular workplaces: Case studies in logistics and healthcare. International Labour Organization / Joint Research Centre of the European Commission.

Rottgen, C., Herbig, B., Weinmann, T., & Müller, A. (2024). Algorithmic management and human-centered task design: A conceptual synthesis from the perspective of action regulation and sociomaterial systems theory. Frontiers in Artificial Intelligence, 7, Article 1441497.

Salari, N., Beiromvand, M., Hosseinian-Far, A., Faghih Habibi, J., Babajani, F., & Mohammadi, M. (2025). Impacts of generative artificial intelligence on the future of labor market: A systematic review. Computers in Human Behavior Reports.

Wood, A. (2024). Algorithmic management: From technology to politics and theory. Weizenbaum Journal of the Digital Society, 4(3).

11

Nepal Floods and the Global Climate Asymmetry: A Geographic Case for Climate Justice

Ankush

Abstract

Nepal provides a compelling geographical example of the unequal relationship between responsibility for climate change and exposure to its consequences. Its mountainous terrain, monsoon-dependent climate, glacier systems, river networks, and limited economic resources make it highly vulnerable to floods, landslides, glacial hazards, and changing rainfall patterns. Yet Nepal contributes only a very small share of global greenhouse-gas emissions. The severe floods and landslides of September 2024 demonstrated how climatic hazards can combine with poverty, fragile infrastructure, settlement patterns, and limited adaptive capacity to produce extensive social and economic losses. This paper examines Nepal's flood vulnerability through the concept of global climate asymmetry, focusing on the geographical inequality between those who have historically contributed most to atmospheric emissions and those who experience disproportionate impacts. It argues that Nepal's experience strengthens the case for climate justice, particularly through adaptation finance, loss-and-damage support, technology transfer, and equitable international climate governance.

Keywords: Nepal, Floods, Climate Change, Climate Justice, Climate Asymmetry, Himalayas, Vulnerability, Adaptation, Loss and Damage

1. Introduction

Climate change is often discussed as a environmental problem, but its consequences are experienced through particular landscapes, communities, economies, and political systems. Flooding is one of the clearest examples of this uneven geography. Rising temperatures can intensify the hydrological cycle, while changing precipitation patterns, glacier and snow dynamics, land-use change, and rapid urbanisation can alter the conditions under which floods occur. Yet the social consequences of flooding are not determined by physical hazards alone. Poverty, infrastructure, access to information, institutional capacity, settlement patterns, and historical inequalities shape who is exposed and who can recover. Nepal is especially useful for examining this relationship. Situated between India and China and extending from the low-lying Terai to the high Himalayas, the country contains variations in elevation, climate, ecosystems, and human settlement. Its rivers originate in the mountains and pass through densely settled valleys and plains before entering India. The same geographical system that provides water, agriculture, hydropower, and ecological resources also creates exposure to floods and landslides. Climate change is adding another layer of uncertainty to this already complex physical geography. The September 2024 floods and landslides brought this vulnerability into sharp focus. Intense rainfall on 27 and 28 September caused extensive flooding and landslides, killed more than 250 people, affected millions, and damaged transport, agriculture, energy, and other infrastructure. The event therefore provides more than a case study of a natural disaster. It raises a wider question of justice: how should responsibility and financial support be distributed when countries with very low historical contributions to global warming face severe climate-related losses?

2. Nepal's Physical Geography and Flood Vulnerability

Nepal's geographical structure is fundamental to understanding its flood risk. The country stretches from the Himalayan mountains in the north through the middle hills and valleys to the relatively low and flat Terai in the south. Rivers descending from high elevations carry large volumes of water and sediment through steep and unstable terrain before reaching the plains. During the monsoon, intense rainfall can rapidly increase river discharge, while steep slopes can trigger landslides that block or redirect waterways. The World Bank's Climate Risk Country Profile identifies river flooding, drought, heatwaves, and glacial lake outburst floods as important hazards whose risks are expected to intensify. It also notes that climate change is already associated with changing precipitation extremes, glacier retreat, and ecological shifts. The country's geographical vulnerability is therefore not the product of one hazard but of interacting physical processes. Human geography further increases exposure. Rural households dependent upon agriculture can suffer immediate losses when fields, livestock, irrigation systems, roads, and bridges are damaged. Urban expansion can increase exposure when

settlements spread into flood-prone areas. Roads and other infrastructure constructed across steep terrain can also be vulnerable to landslides and erosion. Geography thus operates through a combination of natural processes and human decisions.

3. The September 2024 Floods as a Geographic Case

The September 2024 floods represented one of Nepal's most damaging recent climate-related disasters. According to the International Monetary Fund, record-breaking rainfall on 27–28 September affected central and eastern Nepal, including Kathmandu Valley. More than 250 people were killed and approximately 2.6 million people were affected. Landslides disrupted major roads to Kathmandu, while agriculture, transport, irrigation, and energy infrastructure sustained substantial damage. The disaster demonstrated the interconnected nature of Nepal's geographical systems. A rainfall event in the mountains and valleys rapidly became a national economic problem because roads, bridges, electricity infrastructure, farms, markets, and urban settlements are physically connected. Damage to one part of the network therefore produced consequences elsewhere. The economic consequences were also significant. The IMF reported preliminary total damages of about 61 billion Nepalese rupees and losses of roughly 56.2 billion rupees. The transport sector was particularly affected, while the hydropower sector also experienced disruption. These figures illustrate that floods are not temporary interruptions of daily life; they can reverse development gains and impose costs that are difficult for a relatively poor country to absorb.

4. Climate Change and Changing Flood Risk

It is important not to attribute every individual flood solely to climate change. Floods result from interactions among rainfall, river systems, topography, land use, drainage, infrastructure, and settlement. However, climate change can alter the background conditions under which extreme rainfall and flooding occur. The Intergovernmental Panel on Climate Change reports with high confidence that human-induced warming is intensifying aspects of the hydrological cycle and increasing heavy precipitation in many regions. It also finds that climate change disproportionately affects communities that are already vulnerable because of socioeconomic conditions. For Nepal, the implications are particularly serious. The World Bank projects increasing climate risks, including stronger precipitation extremes and greater flood exposure. Under a medium-range emissions pathway, the World Bank has projected that the number of people annually affected by climate-related river flooding could approximately double to around 350,000 by 2030 from about 157,000 in 2010. Climate change therefore acts as a risk multiplier. It interacts with poverty, inadequate infrastructure, agricultural dependence, and geographical isolation rather than operating independently of them. The same rainfall event can produce very different consequences in a community with strong flood protection and one with limited resources.

5. The Meaning of Global Climate Asymmetry

The concept of climate asymmetry refers to the unequal relationship between contribution to climate change and vulnerability to its effects. Industrialised economies have historically generated a large share of cumulative greenhouse-gas emissions through industrialisation, fossil-fuel use, transportation, and consumption. Many developing countries, by contrast, have contributed relatively little to historical atmospheric accumulation while facing severe impacts. Nepal represents this asymmetry particularly clearly. The World Bank describes Nepal as a country with low per-capita emissions and high climate vulnerability. Its contribution to global emissions is negligible in comparison with major industrial economies, yet its geography exposes it to floods, landslides, glacier-related hazards, and changing water availability. The concept is therefore not simply an argument about morality. It has a geographical and economic basis. Climate impacts occur locally, but greenhouse gases mix globally in the atmosphere. A tonne of carbon dioxide emitted in one country can contribute to warming and climatic changes experienced thousands of kilometres away. Responsibility and consequence are consequently separated spatially. This spatial separation lies at the heart of the climate-justice debate. Those who suffer the consequences may not be the same people, countries, or regions that gained most from the economic activities responsible for historical emissions.

6. Vulnerability, Poverty, and Unequal Capacity

Climate hazards become disasters when physical

exposure intersects with social vulnerability. Nepal's vulnerability is closely connected to poverty, rural livelihoods, limited infrastructure, geographical isolation, and dependence on climate-sensitive sectors. Agriculture remains particularly important. Floods can destroy crops, livestock, seeds, irrigation channels, agricultural equipment, and fertile soil. For households with limited savings, the loss of a single harvest may have consequences extending across several years. Families may borrow money, reduce food consumption, migrate temporarily, or become more dependent on remittances. Infrastructure inequality is another important factor. Wealthier urban areas may have comparatively better access to roads, communication systems, emergency services, and healthcare, whereas remote communities can remain isolated after landslides or bridge failures. The geography of vulnerability is therefore socially differentiated. Recent research on Nepal also shows that climate-related disasters can have gendered and socially unequal consequences. Women, marginalised communities, and households affected by migration may experience different forms of exposure and recovery constraints. Climate justice must consequently consider not only differences between countries but also inequalities within countries.

7. Climate Justice and the Principle of Responsibility

Climate justice challenges the idea that every country should bear the same burden regardless of its contribution or capacity. The principle of common but differentiated responsibilities, embedded in international climate negotiations, recognises that countries have common responsibilities but different historical contributions and capabilities. For Nepal, climate justice has several dimensions. The first is adaptation finance. Countries that are highly vulnerable but have limited fiscal resources require financial assistance to strengthen early-warning systems, flood-resistant infrastructure, resilient agriculture, water management, and disaster preparedness. The second is loss and damage. Some climate impacts cannot be completely avoided through adaptation. When homes, cultural assets, ecosystems, livelihoods, and infrastructure are destroyed, affected countries may require international support to recover. The third is technology transfer. Access to climate information, forecasting systems, resilient infrastructure technologies, satellite monitoring, and appropriate agricultural technologies can substantially improve adaptive capacity. Climate justice therefore involves more than transferring money after disasters. It requires restructuring the international relationship between responsibility, capacity, vulnerability, and decision-making.

8. Adaptation and the Geography of Resilience

Adaptation is essential for Nepal because some climatic changes are already occurring and further changes are expected. Effective adaptation, however, must be geographically specific. A strategy suitable for the Terai may not work in the mountain regions, while urban Kathmandu requires different interventions from remote hill communities. Early-warning systems can reduce deaths by giving communities time to evacuate. However, warnings are effective only when people receive, understand, trust, and can act upon them. Roads, shelters, communication networks, bridges, and emergency services must therefore complement forecasting systems. Nature-based adaptation can also play an important role. Restoring wetlands, protecting river corridors, managing watersheds, stabilising slopes through vegetation, and preserving forests can reduce some forms of flood and erosion risk. Urban planning should discourage construction in highly exposed floodplains while improving drainage where settlements already exist. Adaptation must ultimately be participatory. Local communities possess knowledge of rivers, slopes, weather patterns, and historical hazards. Combining this knowledge with scientific forecasting can create more effective and socially appropriate adaptation strategies.

9. Loss and Damage

The idea of loss and damage has become increasingly important in international climate politics because adaptation has limits. Nepal's experience demonstrates why these limits matter. Even strong preparedness cannot prevent every flood, landslide, or glacier-related disaster. Losses can be economic, such as destroyed roads, homes, crops, bridges, and electricity infrastructure. They can also be non-economic, including cultural heritage, community networks, psychological wellbeing, displacement, and loss of places with social significance. The growing international recognition of loss and damage provides an opportunity to address this dimension of

climate inequality. However, finance must be accessible, predictable, adequate, and responsive to local needs. Complicated procedures can prevent vulnerable countries from obtaining assistance quickly enough. Nepal's case therefore strengthens the argument that climate finance should not be regarded simply as development assistance. It is also connected to questions of historical responsibility, fairness, and the unequal distribution of climate risks.

10. Regional and Transboundary Geography

Nepal's flood geography cannot be separated from the wider geography of South Asia. Most major rivers originating in Nepal flow southward into India. Flood events can therefore affect communities across national borders, while decisions concerning dams, embankments, reservoirs, sediment, and water management can have consequences upstream and downstream. Climate change may intensify this interdependence. Changes in monsoon rainfall, snowmelt, glacier behaviour, and river discharge can influence water availability and flood risk across the Himalayan river basins. Regional cooperation is consequently essential. Nepal, India, Bangladesh, China, and other Himalayan and South Asian countries can benefit from shared hydrological data, coordinated forecasting, basin-level planning, disaster communication, and collaborative research. A geographically informed climate policy should therefore move beyond national boundaries. Rivers, atmospheric systems, glaciers, and ecosystems do not respect political borders. Effective adaptation must reflect this physical reality.

11. Climate Justice and Development

Nepal's climate vulnerability is inseparable from its development needs. A country cannot be expected to sacrifice opportunities for poverty reduction in order to compensate for a global environmental problem it contributed little to creating. At the same time, development itself must become climate resilient. Roads should be designed with changing rainfall and landslide risks in mind. Hydropower projects should consider changing hydrological conditions. Agricultural policy should support climate-resilient crops and water management. Urban development should incorporate flood-risk mapping and effective drainage. This approach can be described as climate-resilient development. It recognises that adaptation should not be treated as a separate environmental programme but incorporated into infrastructure, health, agriculture, education, urban planning, and economic policy. For Nepal, climate justice therefore means creating the conditions in which development can continue without placing disproportionate burdens on vulnerable communities.

12. Towards a More Equitable Climate Order

The Nepal case suggests several priorities for the international climate system. First, adaptation finance should be scaled up for countries facing high vulnerability and limited fiscal capacity. Second, loss-and-damage mechanisms should become accessible and responsive to actual disaster needs. Third, technological cooperation should strengthen local capacity rather than create long-term dependence on external institutions. Fourth, climate governance should pay greater attention to geographical inequality. National averages can conceal highly vulnerable communities, regions, and livelihood groups. Better spatial data can help identify where climate risks overlap with poverty and limited adaptive capacity. Finally, climate action must combine mitigation with justice. Reducing global emissions remains essential because adaptation alone cannot indefinitely compensate for increasing warming. The most equitable approach is therefore one in which major emitters accelerate emissions reductions while supporting vulnerable countries in adapting to unavoidable impacts.

13. Conclusion

Nepal's flood vulnerability illustrates the geographical asymmetry at the centre of the climate-justice debate. The country contributes very little to global greenhouse-gas emissions, yet its mountainous terrain, monsoon climate, river systems, poverty, and infrastructure constraints expose its people to serious climate-related risks. The September 2024 floods demonstrated how extreme rainfall can interact with social and geographical vulnerability to create widespread human and economic losses. The lesson from Nepal is not that every flood can be directly attributed to climate change, but that climate change is altering the conditions under which hazards occur and increasing risks for already vulnerable populations. This makes climate change a question of geography as much as atmospheric science. Climate justice therefore requires more than promises of future

emissions reduction. It requires adaptation finance, effective loss-and-damage support, technological cooperation, resilient infrastructure, and fairer international decision-making. Nepal's experience shows why the people and countries least responsible for climate change should not be left to bear its consequences alone. A just climate order must recognise that the geography of responsibility and the geography of vulnerability are profoundly unequal.

References

1. Intergovernmental Panel on Climate Change. Climate Change 2022: Impacts, Adaptation and Vulnerability. Cambridge UP, 2022.

2. International Monetary Fund. "Nepal: Fifth Review Under the Extended Credit Facility Arrangement and Request for Modification of a Performance Criterion." IMF Country Report, no. 25/66, 2025.

3. National Geographic. "If Climate Change Contributed to Nepal's Floods, Should Polluters Pay?" National Geographic, 16 Sept. 2026.

4. World Bank. Climate Risk Country Profile: Nepal. World Bank Group, 2021.

5. World Bank. Climate Risks, Exposure, Vulnerability and Resilience in Nepal. World Bank Group, 2023.

Ankush

Address: Vidya Nagar, Mehem Road,
Dr. Kajal's Street, Near Ravinder General
Store, Bhiwani, Haryana
Pin Code- 127021
Mobile No. 8168178794

12

The Solidity of Specification: Realism and the International Dialectic in the Novels of Henry James

Dr.Satish Kumar

Abstract

This paper explores the unique landscape of literary realism developed by Henry James, focusing primarily on his signature narrative paradigm: the "International Theme." Rather than restricting his realism to a superficial documentation of external environments, James pioneered a psychological and moral realism governed by what he famously termed the "solidity of specification". By examining his seminal text The Art of Fiction (1884) alongside critical textual mappings of Roderick Hudson, The Portrait of a Lady, The American, and The Golden Bowl, this study investigates how James orchestrates the clash between American innocence and European experience.

The paper demonstrates that Jamesian realism functions as a balanced, disinterested, and deeply critical diagnostic tool. It refuses to sentimentalise the naïve New World protagonist or uncritically validate the ancient, structured elegance of the Old World. Instead, through meticulous dramatic structures, character flaws, and interior monologues—such as Isabel Archer's celebrated "meditative vigil"—James achieves a complex realism where physical settings serve as crucibles for psychological and moral growth. Ultimately, the paper contends that James's transnational settings transcend provincial regionalism to offer a universally applicable commentary on the dualities, self-deceptions, and compromises inherent to the broader human condition

Introduction: "The Air of Reality" as the Supreme Virtue

In the history of late nineteenth-century literature, Henry James occupies a foundational position as both a master practitioner and a formidable theorist of the novel. At a time when the literary landscape was transitioning from the moral certitudes of the Victorian era and the romantic expansiveness of the mid-century toward a more analytical representation of contemporary life, James formulated a theory of fiction that prioritized empirical fidelity to human experience. His most memorable and authoritative manifesto on this methodology appears in his landmark 1884 essay, "The Art of Fiction". In a passage that has come to define his artistic creed, James asserts: "...the air of reality (solidity of specification) seems to me to be the supreme virtue of a novel—the merit on which all its other merits... helplessly and submissively depends. If it be not there, they are all as nothing, and if these be there, they owe their effect to the success with which the author has produced the illusion of life."

For James, cultivating this "illusion of life" was not merely a stylistic exercise; it constituted "the beginning and the end of the art of the novelist". However, James's conceptualization of realism departed significantly from the raw, documentary naturalism of contemporaries like Émile Zola, or the socio-economic inventories found in the works of William Dean Howells. James believed in a fiction that was realistic, disinterested, self-contained, and an artistic representation of life. To achieve this "solidity of specification," he did not simply tally the material furniture of the world. Instead, he mapped out how that furniture impinged upon human consciousness.

The ultimate canvas for this experimentation was the actual socio-cultural intersection where real Americans confronted the European scene. This structural juxtaposition provided James with the ideal medium to project his psychological insights and universal observations about mankind. This research paper examines how James deploys his realistic framework across his major international novels, revealing that his realism is fundamentally an inquiry into the moral choices, self-delusions, and psychological awakenings of characters caught between competing cultural matrices.

Theoretical Framework: The Anatomy of Jamesian Realism. To understand James's realistic aesthetic, one must first recognize that his narratives reject binary moralism. In his international fiction, James does not emerge as an uncritical votary of either American or European culture. He recognized that the art of the novel flourishes primarily on contrast. However, his artistic integrity required that this contrast remain meticulously balanced. He presented the "other side of the coin" in both cultural spheres, ensuring that neither side escaped critical scrutiny.

As the eminent biographer Leon Edel observed, James eventually realized that "perhaps the faults and virtues of the Americans and the English were simply different

(RNI-UPBIL/2011/38102, ISSN-2231-5837)
JOURNAL IMPACT FACTOR NO. 8.01
DOI - REF. No. IIJIF241001

chapters of the same general subject". Consequently, Jamesian realism is characterized by a refusal to idealize. He systematically questions the long-term viability of the good-hearted but fundamentally innocent American when plunged into a complex civilization. Simultaneously, he weighs the distinct merits and deep-seated structural weaknesses of the mannered, aristocratic society of the Old World.

This dialectical approach transforms his characters from romantic archetypes into real human beings. His prominent American protagonists—including Roderick Hudson, Isabel Archer, Maggie Verver, and Lambert Strether—are undeniably upright, well-intentioned, and morally decent at the outset. Yet, in keeping with a realistic view of human psychology, James endows each of them with subtle, realistic weaknesses of character. While these shortcomings may fall short of the catastrophic blindness found in classical Aristotelian tragic flaws, they are directly responsible for the characters' subsequent disillusionment and suffering. The dramatic tension in a Jamesian novel does not emerge from an external battle between pure good and unmitigated evil. Rather, it surfaces when the protagonist's internal vulnerabilities are exposed and accelerated by the pressures of European social life.

Early Experimentation: Roderick Hudson and the Fragility of Genius

James's initial foray into the sustained exploration of this theme occurs in Roderick Hudson, a work he described as his "first attempt at a novel". The narrative charts the trajectory of a brilliant but volatile young American sculptor who is transplanted from the culturally sparse environment of Northampton, Massachusetts, to the artistic landscape of Rome. Through Roderick's experience, James examines the psychological impact of sudden liberation on a provincial mind. At the start of the novel, Roderick is frustrated by the cultural poverty of his native surroundings and the practical necessity of earning a living. When a wealthy, cultured compatriot named Rowland Mallett offers to sponsor his travel to Europe to unshackle his genius, the central thematic problem of the novel is established: What is the correct line of action for a young American artist to pursue?

Initially, Rome acts as a catalyst for Roderick's creative output. He discovers what he describes as "the most breathable air in the world" and wins widespread acclaim for his sculptures of Adam and Eve. This initial success seems to validate his escape from New England. However, James's realism manifests in the psychological cracks that quickly appear in Roderick's temperament. Exposed to the beautiful, enigmatic, and socially sophisticated Christina Light, Roderick finds himself alienated from his simple, provincial fiancée, Mary Garland. Europe presents a landscape of sensory fulfilment that stands in stark opposition to the ascetic frustrations of America.

Yet, Roderick's deep-seated New England sensibilities cannot be entirely eradicated. As he indulges in European social pleasures, he experiences intense pangs of guilt regarding his family obligations and his financial debt to his patron, Rowland Mallett. This internal division ultimately paralyzes his creative faculties. When his artistic inspiration fails, he throws himself into a reckless pursuit of Christina Light. This pursuit fails to satisfy his emotional needs or revive his creative drive; instead, it compounds his psychological guilt.

James brilliantly captures the tragic irony of Roderick's predicament: while the sparse American atmosphere was insufficient to sustain his artistic genius, the rich European culture proves too heavy for his fragile moral framework to withstand. Roderick lacks the refinement of moral perception needed to navigate this complex environment. He callously exploits Mary Garland's financial resources to pursue Christina. When Christina is forced in to a strategic marriage with Prince Casamassima, Roderick's world collapses. He fails to absorb the social graces and coping mechanisms required to survive in a structured society. He remains "an eccentric, selfish, and manner less" figure—failing equally as an artist and as a man.

Roderick's downward spiral culminates in suicide. Toward the end of the text, he acknowledges his failure, admitting that an artist is fundamentally "supposed to be a man of fine perceptions". James ensures that while the reader retains a degree of sympathy for Roderick, his ultimate ruin is understood as the logical consequence of his own extravagance, egotism, and

inability to master his impulses. The exotic Italian setting does not create his flaws; it simply accelerates a psychological doom whose seeds were already present within his character.

The Masterpiece of Psychological Realism: The Portrait of a Lady.

In The Portrait of a Lady, James refines his realistic methodology, softening the stark contrasts found in his earlier fiction and elevating the international theme into a profound moral study. In his preface to the novel, James noted that "the 'international' light lay, in those days, to my sense, thick and rich upon the scene". This specific light illuminates the dramatic contrasts surrounding the protagonist, Isabel Archer, as she interacts with various suitors: the provincial American industrialist Caspar Goodwood, the English aristocrat Lord Warburton, and the Europeanized American dilettante Gilbert Osmond.

Isabel Archer embodies a distinctively nineteenth-century American girl: self-assured, independent, morally incorruptible, and possessing a "nobleness of imagination". James describes her vivid, idealistic outlook in detail:

"She spent half her time in thinking of beauty and bravery and magnanimity; she had a fixed determination to regard the world as a place of brightness, of free expansion, of irresistible action... She had an infinite hope that she should never do anything wrong".

This innocence is paired with dangerous inexperience; Isabel "had seen very little of the evil of the world". Her fierce desire to maintain her personal liberty leads her to reject proposals from Lord Warburton and Caspar Goodwood, choosing instead to explore life unencumbered by marital expectations. When her cousin, Ralph Touchett, arranges for her to inherit a fortune of £70,000, he intends to provide her with absolute freedom. Paradoxically, this wealth transforms her into a target for sophisticated Europeanized opportunists.

James's realism is highlighted in Isabel's interactions with Madame Merle and Gilbert Osmond. Madame Merle represents the peak of European social polish, possessing manners so flawless that Isabel initially fails to recognize her artificiality. As Isabel later notes, Merle have become "too flexible, too useful... too perfectly the social animal". Merle uses her social influence to guide Isabel into the clutches of Gilbert Osmond, an impoverished gentleman living in a Florentine villa. Osmond hides his intense egotism and social ambition behind a facade of exquisite aesthetic taste. Misinterpreting his cold detachment as noble dignity, Isabel accepts his proposal, believing he offers the perfect environment for her moral and cultural development.

The tragic reality of her marriage becomes apparent during her famous "meditative vigil" in Chapter 42. Sitting alone, Isabel analyses the illusions and misjudgements that led to her marriage. She realizes she was systematically deceived by Osmond and Madame Merle, who were secret lovers trying to secure a dowry for their illegitimate daughter, Pansy. Crucially, James's realism obliges Isabel to acknowledge her own role in this deception. She admits that during their courtship, she was somewhat hypocritical, hiding the scale of her own ideas to accommodate Osmond's preferences: "...for if she had not deceived him in intention she understood how completely she must have done so in fact, she had effaced herself when he first knew her; she had made herself small, pretending there was less of her than there really was".

Rather than ending on a note of conventional melodrama, the novel concludes with a display of psychological realism. Isabel, now wiser and altered by suffering, chooses to return to Rome and honour her marital commitments to Osmond. She completes her journey not by escaping her reality, but by confronting it—earning her title as a true lady through endurance and moral growth.

Comparative Realism: The American and the Golden Bowl

The thematic trajectory of James's realism can be further examined by comparing The American with his later masterpiece, The Golden Bowl. In The American, the contrast between cultures is sharp and highly dramatic. The protagonist, Christopher Newman, is a good-hearted American who encounters the deep-seated corruption of the aristocratic Bellegarde family in France. The Bellegardes represent an ancient European order whose surface sophistication conceals a profound, underlying brutality. In this early work, the boundaries between

American innocence and European malice remain relatively distinct.

By the time James writes The Golden Bowl, his realistic perspective has grown significantly more complex, introducing deeper moral ambiguities. In this novel, the wealthy American innocent Maggie Verver and her millionaire father, Adam Verver, are not merely passive victims of European deception. Adam Verver is a shrewd American tycoon who approaches European culture with an insatiable collector's appetite. James exposes a moral blind spot in Adam's character: he fails to distinguish between fine art objects and human beings. He "collects" the aristocratic, impoverished Prince Amerigo as a son-in-law with the same cold detachment he applies to purchasing a rare painting:

"Representative precious objects, great ancient pictures and other works of art... had... so engaged all the faculties of his mind that the instinct, the particular sharpened appetite of the collector, had fairly served as a basis for his acceptance of the Prince's suit".

To preserve his close relationship with his daughter, Adam marries Charlotte Stant, treating her as another beautiful asset for social convenience. Following this marriage, Adam and Maggie withdraw into their paternal bond, neglecting their respective spouses and leaving them to manage the social scene. This isolation drives Prince Amerigo and Charlotte—who were former lovers—back into a secret extramarital affair.

When the truth emerges, James's realism treats all parties as compromised. Amerigo's actions reveal the moral poverty and deceit behind his aesthetic charm. Concurrently, Adam and Maggie's behaviour is exposed as deeply irresponsible. Adam recognizes that their private happiness was built at the direct expense of their spouses, admitting it contains a form of internal "immorality". Through this intricate network of relationships, James demonstrates that the potential for moral compromise is an individual human trait rather than an exclusively European vice; the European environment simply provides the catalyst for these latent tendencies to emerge.

Conclusion: The Universality of the Jamesian Condition

In summary, Henry James's realistic style is defined by an absolute refusal to simplify the psychological and moral complexities of life. By committing to the "solidity of specification," he developed a narrative model where international settings serve as dynamic testing grounds for the human conscience. His novels show that pure innocence can sometimes border on dangerous ignorance, while refined social manners can be used to mask deep moral compromise.

Through characters like Roderick Hudson, Isabel Archer, and the Ververs, James demonstrates that moral vulnerabilities are inherent to individual character, while the structured environment of European society intensifies their development. His narratives include both compromised figures and principled expatriates—such as Ned Rosier, Maria Gostrey, Fanny Assingham, and the Touchett family—who navigate European society without losing their integrity. Ultimately, James's vision expanded beyond basic national contrasts. His balanced characterizations and focus on interior consciousness allowed him to transform the international novel into an enduring commentary on the broader human condition. His legacy endures because his realism captures the universal struggles, self-deceptions, and moral adjustments that define human experience.

References

1. James, Henry. The House of Fiction. Edited by Leon Edel, Rupert Hart-Davis, 1957, p. 33.
2. Edel, Leon. The Middle Years: 1882-1895. J.B. Lippincott Company, 1962, p. 240.
3. James, Henry. The Art of the Novel. Edited by R.P. Blackmur, Charles Scribner's Sons, 1962, p. 4.
4. James, Henry. The Art of the Novel. Edited by R.P. Blackmur, Charles Scribner's Sons, 1962, p. 58.
5. Rahv, Philip. "The Heiress of All the Ages." Image and Idea, New Directions, 1957, p. 62.
6. James, Henry. The Art of the Novel. Edited by R.P. Blackmur, Charles Scribner's Sons, 1962, p. 57.
7. Cargill, Oscar. The Novels of Henry James. Macmillan, 1961, p. 403.
8. James, Henry. The Art of the Novel. Edited by R.P. Blackmur, Charles Scribner's Sons, 1962, p. 22.

Dr.Satish Kumar
Assistant
Professor in English
Government College Jassia, Rohtak

13

Critical Minerals Geography: Spatial Distribution of Rare Earth Elements and the Global Energy Transition

Ankush

Abstract

The global transition from fossil fuels towards renewable energy, electric mobility, digital infrastructure and low-carbon technologies has intensified demand for critical minerals. Rare earth elements (REEs) are particularly important because their magnetic, optical and electronic properties make them useful in electric motors, wind turbines, electronics, defence systems and other advanced technologies. Although rare earth resources occur across several continents, their extraction, separation, refining and manufacturing are concentrated in a limited number of countries, most notably China. This geographical concentration creates economic and geopolitical vulnerabilities for countries attempting to accelerate de-carbonisation. This paper examines the spatial distribution of rare earth resources, the geography of production and processing, their significance for the global energy transition and the associated geopolitical and environmental challenges. It argues that the energy transition is not removing resource dependence; rather, it is creating a new geography of strategic minerals in which geological resources, industrial capacity, technological expertise, trade networks and political power are increasingly interconnected.

Keywords: Critical minerals, rare earth elements, resource geography, energy transition, geopolitics, renewable energy, supply chains, sustainability

1. Introduction

The global energy system is undergoing a profound transformation as countries attempt to reduce dependence on coal, oil and natural gas and expand renewable energy, electric vehicles, storage systems and digital technologies. This transition is often presented as a movement towards a cleaner economy, but it is also a material transformation because low-carbon technologies require substantial quantities of minerals. Rare earth elements have consequently acquired strategic importance. Their distinctive properties make them valuable in permanent magnets, electric motors, wind turbines, electronics and several high-technology applications. Rare earth elements are not uniformly distributed and the countries possessing deposits do not necessarily control mining, refining, or manufacturing. China has developed a particularly strong position across the supply chain, while Australia, Brazil, India, the United States and other countries possess significant resources or emerging production capacity. The geography of rare earths therefore provides an important way of understanding the changing relationship between resources, technology, trade, environmental pressures and global power. This paper examines the spatial distribution of rare earth resources, the geography of mining and processing, their role in the global energy transition and the geopolitical and environmental implications of their increasing strategic importance.

2. Critical Minerals and Rare Earth Geography

A critical mineral is not simply a mineral that is geologically scarce. Its criticality generally reflects a combination of economic importance and vulnerability to supply disruption. A mineral becomes strategically significant when industries, infrastructure, national security, or technological development depend heavily upon it and when its supply is concentrated or difficult to replace. Rare earth elements comprise seventeen elements, including the lanthanides together with scandium and yttrium. They are valued for properties that are difficult to reproduce with ordinary materials. Neodymium and praseodymium are particularly important for high-performance permanent magnets, while dysprosium and terbium can improve magnetic performance under demanding conditions. From a geographical perspective, the most important distinction is between resource location and supply-chain control. A country may possess a large deposit but lack processing technology, infrastructure, investment, or downstream manufacturing. Conversely, a country with fewer domestic resources may exercise considerable influence through refining and manufacturing. Critical-mineral geography must therefore examine deposits, mines, processing centres, industrial clusters and trade routes as interconnected parts of one system.

3. Spatial Distribution of Rare Earth Resources

Rare earth deposits occur in Asia, Oceania, North and South America, Africa and parts of Europe. Their geological

occurrence is associated with several types of deposits, including carbonatites, alkaline rocks, ion-adsorption clays and mineral sands containing monazite and related minerals. Economic significance depends not merely on the presence of rare earths but also on their concentration, mineral composition, extraction costs, infrastructure, environmental conditions and access to markets. The U.S. Geological Survey reported that China produced about 270,000 metric tons of rare-earth mine output in 2024. The United States produced approximately 45,000 tons, Myanmar about 31,000 tons, Australia 13,000 tons and India approximately 2,900 tons. The same source estimated reserves of about 44 million tons for China, 21 million tons for Brazil, 6.9 million tons for India, 5.7 million tons for Australia and 1.9 million tons for the United States. These figures reveal a striking geographical contrast. Brazil possesses very large estimated reserves but has historically recorded limited production. China, in contrast, combines major resources with extensive extraction and processing capabilities. Geological abundance, therefore, does not automatically create mineral power. Production depends upon capital, infrastructure, technology, regulation, industrial organisation and market conditions.

4. China and Rare-Earth Dominance

China occupies the central position in the contemporary rare-earth economy. Its importance derives from more than the size of its deposits. China has developed an integrated system that connects mining, beneficiation, separation, refining, alloy production, permanent-magnet manufacturing and downstream industries. The Bayan Obo deposit in Inner Mongolia has long been a major source of rare earths and has contributed substantially to China's resource base. The International Energy Agency reported that the three largest mining countries accounted for approximately 86 percent of global rare-earth production in 2024, while the three largest refining countries accounted for about 97 percent. This difference is especially important because refining and separation are often more geographically concentrated than mining. A country may therefore obtain ore from several sources while still depending upon a small number of processing centres. China's position has been reinforced by industrial infrastructure, technical knowledge, economies of scale, government support, established manufacturing networks and a large domestic market. Its strength consequently lies in the integration of the value chain. This demonstrates why mineral security cannot be assessed simply by counting mines or reserves. Control over processing and manufacturing can be more strategically significant than ownership of raw deposits.

5. Rare Earths and the Global Energy Transition

The expansion of clean-energy technologies is increasing demand for minerals with specialised properties. Rare earths are especially important in technologies that use high-performance permanent magnets. Electric vehicles are a major example. Many electric motors use neodymium- and praseodymium-based magnets because they provide strong magnetic performance while allowing compact and efficient motor designs. Some wind turbines, particularly permanent-magnet generators, also use rare earths. The growth of offshore wind and other advanced renewable technologies therefore contributes to demand for magnet-related elements. Rare earths are additionally used in electronics, telecommunications, optical technologies, medical equipment and defence systems. Their importance consequently extends beyond renewable energy and reflects the wider technological transformation accompanying decarbonisation. The International Energy Agency expects demand for rare earths to rise significantly as clean-energy deployment expands. However, supply cannot necessarily respond quickly because developing mines and processing facilities requires exploration, investment, environmental assessment, infrastructure, specialised technology and skilled labour. The transition therefore creates a potential mismatch between rapidly increasing technological demand and the slower expansion of mineral supply.

6. Geopolitical Importance

Rare-earth supply chains have become an important component of contemporary resource geopolitics. During much of the twentieth century, petroleum shaped international economic and strategic relations because industrial economies depended heavily on oil. The low-carbon transition is creating a more diverse mineral geography in which rare earths and other critical minerals are becoming strategically important. The principal geopolitical issue is not simply who possesses deposits but who controls the stages between extraction and final manufacturing. A country can possess substantial

resources while remaining dependent on foreign refineries, magnet producers, or technological suppliers. This creates asymmetrical mineral dependence. Governments in the European Union, United States, Japan, India and elsewhere are therefore pursuing diversification strategies. The European Union's Critical Raw Materials Act seeks to strengthen domestic extraction, processing, recycling and external diversification. The United States has similarly expanded its critical-minerals policy. Such policies demonstrate that mineral security is increasingly treated as an element of economic and national security. The geopolitical competition surrounding rare earths may consequently involve export controls, strategic stockpiling, investment agreements, industrial subsidies, technology partnerships and efforts to establish alternative supply chains.

7. Emerging Supply Centres

Several countries are attempting to strengthen their position in the rare-earth economy. Australia is important because it combines substantial resources with an established mining sector, advanced infrastructure, political stability and access to Asian markets. Its projects can contribute to diversification outside China. The United States has significant resources and has sought to rebuild domestic capacity. The Mountain Pass operation in California is central to American production, although the country has historically faced limitations in downstream separation and manufacturing. Recent policies have focused on developing a more complete domestic supply chain. India possesses considerable rare-earth potential, especially in mineral sands associated with its long coastline. Its estimated reserves were approximately 6.9 million metric tons in 2024. India could become more influential by expanding separation, refining, magnet manufacturing, recycling and research rather than concentrating only on extraction. Brazil presents another interesting case. Its estimated reserves were about 21 million metric tons in 2024, yet production remained very small. This illustrates the gap between geological potential and industrial capability.

8. Environmental Geography

The clean-energy transition does not eliminate environmental pressures; in some cases, it relocates them. Rare-earth mining and processing can cause land disturbance, water pollution, chemical waste, tailings, habitat loss and other ecological impacts. The severity varies according to deposit type, mining method, processing technology and environmental regulation. This creates a central contradiction within the energy transition. Technologies designed to reduce carbon emissions may depend upon mining activities that impose environmental costs on particular landscapes and communities. A sustainable transition must therefore examine the entire material life cycle rather than evaluating technologies only at the point of use. Environmental impacts can also have a geographical dimension of inequality. Mineral-producing regions may bear extraction-related costs while high-value manufacturing and consumption occur elsewhere. Responsible mineral policy must consequently address environmental protection, labour conditions, local participation and fair distribution of economic benefits.

9. Recycling and Circularity

Recycling offers an important way of reducing pressure on primary mining. Rare earths contained in discarded electronics, permanent magnets, electric motors and other technologies can potentially be recovered and returned to production. A stronger recycling system can reduce waste, conserve resources and lower dependence on geographically concentrated suppliers. The International Energy Agency expects recycling and reuse to become increasingly important in future mineral supply. However, recycling cannot immediately replace primary extraction. Many rare-earth technologies have relatively long lifetimes and the existing stock of recoverable materials is not sufficient to meet all future demand. The most realistic approach is therefore a combination of responsible mining, recycling, greater material efficiency and technological substitution. Governments can encourage circularity by establishing collection systems, improving product design, supporting recycling research and creating markets for recovered materials. The circular economy also changes the geography of mineral supply. Instead of depending entirely upon distant mines, countries can recover materials from their own technological waste streams. Urban areas may consequently become secondary sources of strategic minerals.

10. Trade Routes and Global Mineral Networks

Rare-earth supply chains are international networks rather

than isolated national systems. The journey from geological deposit to final product may involve several countries. Mining may occur in one region, separation in another, refining elsewhere and magnet or vehicle production in a different industrial centre. A simplified supply chain can be described as exploration, mining, beneficiation, separation, refining, alloy production, magnet manufacturing and final industrial application. Each stage depends upon infrastructure such as ports, railways, electricity, water, industrial estates, financial institutions and communication systems. This networked structure means that vulnerability can arise from more than a shortage of ore. A disruption at a processing facility, transport corridor, port, energy system, or manufacturing cluster can affect downstream industries. Mineral security must therefore consider the resilience of the entire network. Trade geography is also shaped by international agreements and geopolitical relationships. Countries seeking diversification increasingly form partnerships that connect resource-rich regions with processing and manufacturing centres. The future mineral economy will consequently depend heavily upon the stability of these transnational networks.

11. India in the Global Rare-Earth Geography

India has the potential to become a significant participant in the global rare-earth economy. Its estimated reserves are substantial, while its growing population, industrial base, electric-mobility ambitions and renewable-energy programmes create increasing domestic demand. The main challenge is to move beyond the export or limited processing of raw materials. Greater domestic capacity in separation, refining, permanent magnets, advanced materials, recycling and research would allow India to capture more value from its resource base. For India, rare-earth policy therefore intersects with energy security, industrial development, technological self-reliance and sustainable development. A successful strategy would need to combine resource development with environmental safeguards and long-term investment in scientific and industrial capacity.

12. Major Challenges

The first major challenge is supply concentration. When mining or refining is dominated by a small number of countries, disruptions can have effects far beyond the producing region. Political tensions, trade restrictions, accidents, infrastructure failures, or sudden changes in policy can affect global industries. A second challenge is the long time required to develop new projects. Exploration, feasibility studies, environmental approvals, financing, construction and technological preparation may take many years. New supply therefore cannot always respond quickly to sudden increases in demand. A third challenge is environmental and social responsibility. Rapid expansion without adequate safeguards could transfer the ecological costs of decarbonisation to vulnerable communities. Mining regions therefore need effective environmental regulation, consultation, employment opportunities and fair economic benefits. A fourth challenge is unequal value creation. Countries may export ores while higher-value processing and manufacturing occur elsewhere. Developing domestic capabilities is essential if resource-rich countries are to obtain lasting economic benefits from the energy transition.

13. Towards a Sustainable Mineral Economy

A resilient rare-earth economy requires more than opening additional mines. Diversification should occur across mining, refining, manufacturing, recycling and technological development. Processing capacity deserves particular attention because refining is often more concentrated than extraction. Governments should support geological exploration while maintaining strong environmental standards. Investment in research can improve extraction efficiency, reduce waste, develop substitutes and strengthen recycling. Product design should also consider future recovery so that valuable materials can be separated more easily at the end of a product's life. A sustainable critical-mineral economy should ultimately seek three goals simultaneously: reliable supply, environmental protection and equitable distribution of economic benefits. Achieving these goals will require long-term planning rather than short-term responses to market disruptions.

14. Conclusion

Rare earth elements have become strategically significant because they support important technologies associated with electrification, renewable energy, digitalisation and advanced manufacturing. Their importance is rooted not simply in geological scarcity but in the uneven

geographical distribution of resources, mining, refining, manufacturing and technological expertise. China's dominant position demonstrates that control over processing and industrial networks can be more important than possession of deposits alone. At the same time, countries such as Australia, Brazil, India and the United States have opportunities to strengthen and diversify global supply. The future of the energy transition will therefore depend partly upon how the world manages its critical-mineral geography. Diversified supply chains, responsible mining, recycling, technological innovation and international cooperation can reduce vulnerability while limiting environmental damage. The transition to a low-carbon economy is consequently not merely a change in energy sources; it is also a transformation in the geography of resources, industry, trade and global power over the coming decades ahead.

References

1. European Commission. "European Critical Raw Materials Act." European Commission, European Union, 2024.

2. International Energy Agency. Global Critical Minerals Outlook 2025. IEA, 2025.

3. International Energy Agency. Rare Earth Elements 2025. IEA, 2025.

4. U.S. Geological Survey. Mineral Commodity Summaries 2025: Rare Earths. U.S. Department of the Interior, 2025.

5. U.S. Geological Survey. Global Maps of Critical Mineral Production in 2023. U.S. Department of the Interior, 2025.

Ankush

Address: Vidya Nagar, Mehem Road,
Dr. Kajal's Street, Near Ravinder General Store,
Bhiwani, Haryana
Pin Code- 127021
Mobile No. 8168178794

14

From Experimentation to Scale: An Integrative Framework for Entrepreneurship, Startups, and Innovation Management

Dr. Kanwaljeet Kaur

Abstract

Entrepreneurship and innovation management are frequently studied as adjacent but separate fields: the first concerned with the founding of new ventures, the second with the systematic renewal of established firms. This paper argues that the separation obscures a shared logic. Drawing on classical economic theory, the opportunity and effectuation literatures, lean startup methodology, business model research, open innovation, dynamic capabilities, and entrepreneurial ecosystem scholarship, the paper offers an integrative review of how new ideas become viable and scalable organizations. It proposes a four-stage framework (discovery, validation, construction, and scaling) in which learning, resource orchestration, and organizational design shift in importance as a venture matures. The framework yields five propositions on the relationship between experimentation, business model design, ambidexterity, and ecosystem embeddedness. The paper concludes that innovation success depends less on the originality of an idea than on the quality of the learning system built around it, and it identifies directions for empirical testing, particularly in emerging-market contexts.

Keywords: entrepreneurship; startups; innovation management; lean startup; business models; open innovation; ambidexterity; entrepreneurial ecosystems

1. Introduction

Few phenomena in contemporary economic life attract as much attention, capital, and public rhetoric as the startup. Governments publish startup policies, universities build incubators, and large corporations create venture arms and innovation labs in the hope of capturing the same energy. Behind this enthusiasm lies an old observation: economic growth is driven not only by the accumulation of capital and labor but by the introduction of new combinations of products, processes, and organizational forms. Joseph Schumpeter described this process as creative destruction, in which new entrants and new technologies continually displace incumbent arrangements (Schumpeter, *Capitalism* 82-83).

Yet enthusiasm has outpaced understanding. Most new ventures fail, and the reasons are rarely a simple lack of effort or intelligence. Founders often build products for markets that do not exist, scale before they have found a repeatable model, or lack the organizational capabilities needed to move from a prototype to a company. Meanwhile, established firms face the opposite problem. They are skilled at executing and improving existing businesses but struggle to explore new ones, a tension Clayton Christensen documented in his study of disruptive technologies (Christensen, *Innovator's Dilemma*). Entrepreneurship scholars and innovation management scholars have therefore been circling the same question from different directions: how do organizations, new or old, reliably turn uncertain ideas into value?

This paper contends that the two literatures can be productively integrated. It makes three contributions. First, it synthesizes major strands of theory on opportunity creation, experimentation, business model design, and organizational renewal. Second, it proposes a stage-based framework that explains how the dominant managerial challenge changes as a venture moves from idea to scale. Third, it derives propositions suitable for empirical testing. The paper is conceptual rather than empirical; its method is an integrative literature review that favors foundational and widely cited works over exhaustive coverage.

The argument proceeds as follows. Section 2 reviews the theoretical foundations of entrepreneurship. Section 3 examines startups as engines of experimentation. Section 4 turns to innovation management in organizations. Section 5 considers the ecosystems and financing structures that shape both. Section 6 presents the integrative framework and its propositions, Section 7 discusses implications and future research, and Section 8 concludes.

2. Theoretical Foundations of Entrepreneurship

2.1 The entrepreneur as innovator and discoverer

The modern study of entrepreneurship rests on two contrasting classical views. Schumpeter treated the entrepreneur as a disruptive force who carries out new combinations, whether a new good, a new method of production, a new market, a new source of supply, or a new industrial organization (Schumpeter, *Theory* 66). On this view, the entrepreneur moves the economy away from

equilibrium. Israel Kirzner offered a complementary account in which the entrepreneur is alert to profit opportunities that others have overlooked and, by acting on them, pushes markets toward equilibrium (Kirzner). The first emphasizes novelty and disruption, the second perception and arbitrage. Together they frame entrepreneurship as a process of recognizing and exploiting gaps in existing economic arrangements.

In a widely cited intervention, Scott Shane and S. Venkataraman argued that entrepreneurship should be defined as the scholarly examination of how, by whom, and with what effects opportunities to create future goods and services are discovered, evaluated, and exploited (217-26). This definition shifted the unit of analysis from the personality of the entrepreneur to the opportunity and the processes surrounding it. It also opened a debate that remains unresolved: whether opportunities exist objectively, waiting to be discovered, or are enacted and created through the actions of entrepreneurs themselves.

2.2 Causation and effectuation

Saras Sarasvathy's work on effectuation offers one of the most influential responses to that debate. Studying expert entrepreneurs, she distinguished causal reasoning, in which a decision maker selects a goal and then chooses the best means to achieve it, from effectual reasoning, in which the decision maker begins with available means (who they are, what they know, whom they know) and imagines possible effects that can be created with them (243-63). Effectual entrepreneurs tend to accept affordable loss rather than maximize expected return, build partnerships rather than conduct competitive analysis, and exploit contingencies rather than avoid them.

Effectuation matters for innovation management because it describes behavior under genuine uncertainty, where probabilities cannot be calculated and the market may not yet exist. In such conditions, the classical planning model, with its forecasts and detailed business plans, offers little guidance. This insight prepares the ground for the experimental approaches discussed next, which can be read as operational methods for acting effectually.

2.3 Cognition, risk, and the problem of optimism

A separate stream of research examines how founders think. Cooper, Woo, and Dunkelberg found that entrepreneurs expressed markedly high confidence in their ventures' prospects, and that many rated their own chances of success as far higher than those of comparable firms (97-108). Optimism may be psychologically useful, sustaining effort through setbacks, yet it can also delay the recognition of failure and encourage resource commitments that evidence does not support. The managerial challenge is therefore to preserve the motivational benefits of conviction while building mechanisms, such as explicit hypotheses and stop-loss rules, that discipline it. This tension recurs throughout the framework developed below.

3. Startups as Engines of Experimentation

3.1 Startups under uncertainty

Steve Blank and Eric Ries popularized a definition of the startup that departs from simple notions of size or age. A startup, in this tradition, is a temporary organization searching for a repeatable and scalable business model under conditions of extreme uncertainty (Blank 63-72; Ries). The distinction is analytically useful. A restaurant that copies a proven format faces risk but not fundamental uncertainty about whether customers exist, whereas a company introducing a new category of software must first discover who the customer is and what problem is worth solving.

Because the startup is searching rather than executing, the appropriate management system differs from that of an established firm. Blank argued that the customer development process, in which founders leave the building to test assumptions directly with prospective customers, should precede or accompany product development rather than follow it (63-72). Ries translated this into the build-measure-learn loop and the concept of the minimum viable product, the smallest version of an offering that allows a team to gather validated learning about customers with the least effort.

3.2 Entrepreneurship as experimentation

Economists have given these practices a theoretical grounding. Kerr, Nanda, and Rhodes-Kropf argued that entrepreneurship is best understood as a process of experimentation in which many ideas are tried cheaply, a small number succeed, and the economic value of the system arises from the extreme outcomes of the successful few (25-48). The implication is that the proper unit of analysis is the portfolio of experiments, not the individual

venture. Investors who tolerate a high failure rate, and institutions that make failure cheap, increase the number and diversity of experiments, and thereby the probability of discovering a breakthrough.

This view reframes the pivot, the decision to change strategy while keeping the underlying vision, not as an admission of failure but as an expected product of learning. Failure of a particular hypothesis is informative; failure to test hypotheses is costly. Such reasoning is consistent with effectuation's emphasis on affordable loss, since it encourages small, reversible commitments in the early stages.

3.3 Business models as the architecture of value

Experimentation needs an object to act upon, and increasingly that object is the business model. David Teece defines a business model as the way an enterprise delivers value to customers, entices them to pay, and converts those payments into profit (172-94). He stresses that a superior technology rarely succeeds without a business model that aligns it with customer needs and captures value. Osterwalder and Pigneur's business model canvas operationalized this idea by decomposing a model into components such as customer segments, value propositions, channels, revenue streams, and key resources, so that each can be stated as a testable assumption.

The business model concept also clarifies a longstanding question in innovation research: why do innovators so often fail to profit from their innovations? Teece's earlier work on appropriability argued that returns depend on complementary assets, such as manufacturing, distribution, and brand, and on the strength of intellectual property protection (285-305). A startup that invents but lacks access to complementary assets must either build them, partner for them, or sell to an incumbent that holds them. These choices are strategic, and they depend on the structure of the ecosystem in which the firm operates.

3.4 Limits of the lean approach

The lean startup is not without critics. Its techniques are best suited to software and digital services, where prototypes are inexpensive and feedback is rapid, and they translate less easily to capital-intensive domains such as biotechnology, energy, or advanced hardware, where each experiment is costly and slow. Early customers may also provide misleading signals, favoring incremental features over genuinely novel concepts. A mature application of experimentation therefore requires judgment about which assumptions are most critical, how expensive each test is, and how to interpret ambiguous results. The method structures learning but does not replace strategic vision.

4. Innovation Management in Established Organizations

4.1 Disruption and the incumbent's dilemma

While startups search for models, established firms must renew theirs. Christensen showed that leading firms often fail not because they are poorly managed but because they are well managed in the conventional sense: they listen to their best customers, invest in the highest-margin opportunities, and therefore neglect emerging technologies that initially serve small or low-margin markets (Christensen). When those technologies improve, they can displace the incumbent. Henderson and Clark added that failure can also arise from architectural innovation, in which the components of a product remain the same but the way they are linked changes, rendering the firm's established knowledge and routines obsolete (9-30).

These accounts suggest that incumbents' difficulties are organizational rather than purely technological. Information filters, resource allocation processes, and cognitive habits formed around the existing business make it hard to perceive and to fund discontinuous change.

4.2 Absorptive capacity and open innovation

One response is to look outward. Cohen and Levinthal introduced the concept of absorptive capacity, the ability of a firm to recognize the value of new external information, assimilate it, and apply it commercially, and argued that this ability depends on prior related knowledge and on the firm's own research effort (128-52). Henry Chesbrough later popularized the idea of open innovation, in which firms use both internal and external ideas and both internal and external paths to market, acquiring technology through licensing, partnerships, and venture investment, and releasing unused technology to others (Chesbrough).

Open innovation changes the relationship between startups and large firms. Startups become sources of exploration for incumbents, which in turn provide

distribution, credibility, and complementary assets. Corporate venture capital, accelerators, and strategic alliances are all institutional forms of this exchange. The relationship is not frictionless, since incumbents may seek control or imitate technologies, and startups risk dependence, but it illustrates how the boundary between entrepreneurship and innovation management has become porous.

4.3 Ambidexterity and dynamic capabilities

How can one organization both exploit its current business and explore new ones? Tushman and O'Reilly proposed the ambidextrous organization, in which exploratory units operate with distinct structures, processes, and cultures while remaining integrated through senior leadership (O'Reilly and Tushman 74-81). The design logic is that efficiency-oriented routines and experimentation-oriented routines conflict if housed together, so separation protects exploration, while integration allows the firm to share resources and capture synergies.

The dynamic capabilities perspective gives a more general account. Teece frames dynamic capabilities as the capacity to sense opportunities and threats, seize them through investment and organizational design, and transform the enterprise as conditions change (172-94). Sensing corresponds closely to opportunity discovery in the entrepreneurship literature, seizing to business model design, and transforming to renewal and scaling. In this respect, dynamic capabilities can be read as the entrepreneurial function institutionalized within an organization.

5. Ecosystems, Finance, and Institutions

5.1 Entrepreneurial ecosystems

New ventures do not operate in isolation. Daniel Isenberg argued that entrepreneurial activity flourishes where several elements reinforce one another, including supportive policy, available finance, human capital, markets, and cultural attitudes toward risk and failure (40-50). Subsequent scholarship has elaborated and also criticized the ecosystem concept. Stam describes the ecosystem as a set of interdependent actors and factors that enable productive entrepreneurship within a particular territory, and he stresses that outputs such as high-growth firms depend on the interaction of framework conditions and systemic conditions rather than any single factor (1759-69). Brown and Mason caution that ecosystems vary greatly, that a small number of places generate most high-growth ventures, and that policy imitation of famous clusters often disappoints (11-30).

For innovation management, the ecosystem perspective is valuable because it directs attention to the surrounding network of suppliers, customers, universities, investors, and complementors on which both startups and incumbents depend. A firm's absorptive capacity and its business model are in part functions of its position in such a network.

5.2 Venture finance and staged commitment

Financing is the mechanism that connects experimentation to scale. Venture capital, in particular, has developed institutional practices suited to uncertainty: investment in stages, with each round contingent on evidence of progress; active involvement in governance; and portfolio construction that accepts a high failure rate in exchange for a small number of very large successes (Gompers and Lerner). Staged financing creates an option structure in which investors preserve the right to abandon or to expand, a financial counterpart to the affordable-loss principle in effectuation.

The state also plays a role. Mariana Mazzucato argues that public investment has historically financed the earliest and riskiest phases of major technologies, from the internet to modern pharmaceuticals, absorbing uncertainty that private investors would not bear (Mazzucato). Whether or not one accepts her broader policy conclusions, the point stands that the supply of experiments in an economy is shaped by public research funding, regulatory design, and the availability of patient capital.

6. An Integrative Framework

6.1 Four stages of innovation maturity

The literatures reviewed above describe different parts of a single trajectory. The framework proposed here distinguishes four stages, each characterized by a dominant uncertainty and a corresponding managerial priority.

Stage 1: Discovery. The dominant uncertainty concerns the problem: is there a need worth addressing, and who has it? Effectual reasoning, founder knowledge, and customer development are most relevant. Commitments should be small and reversible, and the central output is a

set of explicit hypotheses.

Stage 2: Validation. The dominant uncertainty concerns the solution and the model: will customers adopt and pay, and can the venture deliver at acceptable cost? Minimum viable products, structured experiments, and business model testing dominate. The venture is searching for product-market fit, and pivots are expected.

Stage 3: Construction. The dominant uncertainty shifts to execution: can the model be delivered repeatedly and reliably? Process, hiring, governance, and the acquisition of complementary assets become central. The organization begins to formalize routines, and the risk is that formalization suppresses the learning that created the venture.

Stage 4: Scaling and renewal. The dominant uncertainty concerns durability: can growth be sustained against competitors, and can the organization renew itself as conditions change? Dynamic capabilities, ambidexterity, open innovation, and ecosystem leadership are decisive. The organization now faces the incumbent's problem and must protect exploration while exploiting its established position.

The stages are analytic rather than strictly sequential. Ventures may loop backward, as when a failed expansion forces renewed validation, and established firms may initiate new ventures that begin again at Stage 1. The framework's central claim is that the capabilities required change across stages, and that failure frequently results from applying the logic of one stage in another: scaling before validation, or imposing rigid process during discovery.

6.2 Propositions

The framework generates the following propositions for empirical investigation.

Proposition 1. In early-stage ventures, the number and speed of disciplined experiments will be positively associated with the probability of achieving product-market fit, controlling for founder experience and initial funding.

Proposition 2. Ventures whose business models are expressed as explicit, testable assumptions will pivot earlier and with lower resource loss than ventures that rely on a conventional business plan.

Proposition 3. Premature scaling, defined as large commitments to growth before validated learning, will be negatively associated with survival, and the effect will be stronger in environments with abundant capital.

Proposition 4. In established firms, structural separation of exploratory units combined with senior-leadership integration will be positively associated with the commercial success of new ventures, relative to either full integration or full separation.

Proposition 5. Embeddedness in a dense entrepreneurial ecosystem will moderate the relationship between experimentation and growth, such that ventures in richer ecosystems convert validated learning into scale more effectively because they have better access to capital, talent, and complementary assets.

6.3 Why the framework matters

The integrative view has practical consequences. For founders, it suggests that the right question at each stage is not whether the idea is good but what the most dangerous unresolved assumption is and what is the cheapest way to test it. For investors, it implies that staged capital allocation, tied to evidence rather than to narrative, matches funding to uncertainty. For managers of established firms, it indicates that innovation programs should be organized according to the stage of the project: early projects should be judged by learning milestones, not by financial projections that would be fictional, while mature projects should be judged by conventional performance measures.

7. Discussion and Directions for Future Research

The framework invites several lines of inquiry. First, the propositions require empirical testing using longitudinal data on ventures, ideally capturing the content of experiments rather than only financial outcomes. Advances in data availability, including accelerator records and venture databases, make this feasible, though selection bias remains a serious concern because failed ventures are less visible than successful ones.

Second, context matters. Much of the foundational research on lean methods, venture capital, and ecosystems derives from North American technology clusters. Evidence from emerging economies, where institutions, capital markets, and customer conditions differ, is less developed. In markets such as India, for example, scale in the domestic population, rapidly expanding digital infrastructure, and weaker access to late-stage financing

may alter the balance between validation and scaling, and may favor distinct business model forms. Comparative research could test whether the stages generalize or require adaptation.

Third, emerging technologies such as artificial intelligence reduce the cost of prototyping and may compress the validation stage, while raising new questions about defensibility, since models and tools become widely accessible. If experimentation becomes cheaper for everyone, sustainable advantage may depend more on proprietary data, distribution, and organizational learning capability than on the initial product. This conjecture is consistent with the appropriability logic reviewed earlier and merits systematic study.

Finally, the framework has limitations. As an integrative review, it relies on selected sources rather than a systematic search protocol, and it simplifies a messy process into stages. Its propositions are provisional. The value of the framework lies in organizing disparate literatures and generating testable claims, not in offering a complete theory of innovation.

8. Conclusion

Entrepreneurship and innovation management address the same fundamental problem: how to convert uncertain ideas into durable value. Classical theory identified the entrepreneur as the agent of change, contemporary research has explained how entrepreneurs reason and experiment, and organizational scholarship has shown why established firms struggle to do the same. Placing these contributions in a stage-based framework clarifies that the necessary capabilities differ as ventures mature, and that many failures stem from mismatches between stage and method.

The central lesson is that originality alone is insufficient. What distinguishes successful ventures is the learning system surrounding the idea: the discipline of testing assumptions, the design of a business model that captures value, the organizational structures that protect exploration while enabling execution, and the ecosystem that supplies capital, talent, and partners. Scholars who study these systems, practitioners who build them, and policymakers who shape their environment share an interest in making experimentation cheaper, learning faster, and scaling more deliberate. Future research that tests the propositions advanced here, particularly in diverse institutional settings, would help refine that shared understanding.

Works Cited

Blank, Steve. "Why the Lean Start-Up Changes Everything." *Harvard Business Review*, vol. 91, no. 5, 2013, pp. 63-72.

Brown, Ross, and Colin Mason. "Looking Inside the Spiky Bits: A Critical Review and Conceptualisation of Entrepreneurial Ecosystems." *Small Business Economics*, vol. 49, no. 1, 2017, pp. 11-30.

Chesbrough, Henry W. *Open Innovation: The New Imperative for Creating and Profiting from Technology*. Harvard Business School Press, 2003.

Christensen, Clayton M. *The Innovator's Dilemma: When New Technologies Cause Great Firms to Fail*. Harvard Business School Press, 1997.

Cohen, Wesley M., and Daniel A. Levinthal. "Absorptive Capacity: A New Perspective on Learning and Innovation." *Administrative Science Quarterly*, vol. 35, no. 1, 1990, pp. 128-52.

Cooper, Arnold C., Carolyn Y. Woo, and William C. Dunkelberg. "Entrepreneurs' Perceived Chances for Success." *Journal of Business Venturing*, vol. 3, no. 2, 1988, pp. 97-108.

Gompers, Paul A., and Josh Lerner. *The Venture Capital Cycle*. MIT Press, 1999.

Henderson, Rebecca M., and Kim B. Clark. "Architectural Innovation: The Reconfiguration of Existing Product Technologies and the Failure of Established Firms." *Administrative Science Quarterly*, vol. 35, no. 1, 1990, pp. 9-30.

Isenberg, Daniel J. "How to Start an Entrepreneurial Revolution." *Harvard Business Review*, vol. 88, no. 6, 2010, pp. 40-50.

Kerr, William R., Ramana Nanda, and Matthew Rhodes-Kropf. "Entrepreneurship as Experimentation." *Journal of Economic Perspectives*, vol. 28, no. 3, 2014, pp. 25-48.

Kirzner, Israel M. *Competition and Entrepreneurship*. University of Chicago Press, 1973.

Mazzucato, Mariana. *The Entrepreneurial State: Debunking Public vs. Private Sector Myths*. Anthem Press, 2013.

O'Reilly, Charles A., III, and Michael L. Tushman. "The Ambidextrous Organization." *Harvard Business Review*,

vol. 82, no. 4, 2004, pp. 74-81.
Osterwalder, Alexander, and Yves Pigneur. *Business Model Generation: A Handbook for Visionaries, Game Changers, and Challengers*. Wiley, 2010.
Ries, Eric. *The Lean Startup: How Today's Entrepreneurs Use Continuous Innovation to Create Radically Successful Businesses*. Crown Business, 2011.
Sarasvathy, Saras D. "Causation and Effectuation: Toward a Theoretical Shift from Economic Inevitability to Entrepreneurial Contingency." *Academy of Management Review*, vol. 26, no. 2, 2001, pp. 243-63.
Schumpeter, Joseph A. *Capitalism, Socialism and Democracy*. Harper & Brothers, 1942.
Schumpeter, Joseph A. *The Theory of Economic Development*. Harvard UP, 1934.
Shane, Scott, and S. Venkataraman. "The Promise of Entrepreneurship as a Field of Research." *Academy of Management Review*, vol. 25, no. 1, 2000, pp. 217-26.
Stam, Erik. "Entrepreneurial Ecosystems and Regional Policy: A Sympathetic Critique." *European Planning Studies*, vol. 23, no. 9, 2015, pp. 1759-69.
Teece, David J. "Business Models, Business Strategy and Innovation." *Long Range Planning*, vol. 43, no. 2-3, 2010, pp. 172-94.
Teece, David J. "Profiting from Technological Innovation: Implications for Integration, Collaboration, Licensing and Public Policy." *Research Policy*, vol. 15, no. 6, 1986, pp. 285-305.

Dr Kanwaljeet Kaur
Associate Professor
Vaish Mahila Mahavidyalya Rohtak
(Kanwajeetaneja.44@gmail.com)

15

THE PARADIGM SHIFT IN POSTCOLONIAL INDIAN ENGLISH LITERATURE: A CRITICAL ANALYSIS OF IDENTITY, SPATIALITY, AND HYBRIDITY

Dr. Satish Kumar

Abstract

This research paper provides a comprehensive critical analysis of the paradigm shift in postcolonial Indian English literature, tracking its evolution from early nationalist anxieties and mimetic appropriations to contemporary assertions of hybridity, spatiality, and localized globalisms. Initially serving as a tool for anti-colonial resistance and state-building, Indian English writing has fundamentally transformed into a dynamic arena where rigid binaries of the 'colonizer' and the 'colonized' are systematically dismantled. By examining foundational texts alongside contemporary narratives, this paper explores how modern writers reconfigure the English language to articulate multifaceted Indian identities. The study focuses heavily on the intersection of geographical space, cultural displacement, and the creation of Homi Bhabha's theoretical 'Third Space.' Through a rigorous text-based methodology, the paper evaluates how subaltern voices, diaspora experiences, and subregional dynamics challenge the canonical center. Ultimately, the paper argues that contemporary Indian English literature no longer seeks validation from Western literary metropoles; instead, it operates as an autonomous, self-sustaining canon that redefines the parameters of global world literature. Keywords: Postcolonialism, Indian English Literature, Hybridity, Spatiality, Identity Construction, Third Space.

1. Introduction

The trajectory of Indian English Literature (IEL) stands as one of the most remarkable phenomena in global literary history, transitioning from a peripheral colonial experiment into a dominant force within contemporary world literature. Initially spawned under the violent socio-political architecture of British imperialism—specifically accelerated by Thomas Babington Macaulay's infamous 1835 Minute on Indian Education—the adoption of English was originally intended to create a class of administrative intermediaries who were 'Indian in blood and colour, but English in taste, in opinions, in morals, and in intellect.' However, historical irony dictated that this very linguistic apparatus became the primary conduit for nationalist consolidation, counter-discourse, and subversion. Early practitioners of IEL, from Toru Dutt and Rabindranath Tagore to the mid-twentieth-century triumvirate of Mulk Raj Anand, R.K. Narayan, and Raja Rao, utilized the colonizer's tongue to forge a cohesive national consciousness, using mimetic realism to expose indigenous social inequities while resisting imperial hegemony.

In the decades succeeding the independence of 1947, the literary landscape underwent a profound ontological and epistemological transformation. The historical anxieties of defining an authentic 'Indianness' within a monolithic national framework gradually yielded to a more complex engagement with pluralistic identities. The turn of the twenty-first century, catalyzed by the rapid forces of globalization, economic liberalization, and mass migration, demanded a radical departure from traditional mimetic modes of representation. Contemporary Indian English literature no longer visualizes the nation as an unproblematic, bounded entity. Instead, it conceptualizes India as an ongoing, polyphonic negotiation. This research paper critically investigates this structural paradigm shift, evaluating how modern writers utilize innovative narrative structures to engage with the complex dynamics of identity construction, changing geographical spatiality, and cultural hybridity in an increasingly fractured global landscape.

2. The Historical Trajectory of Indian English Writing

To fully comprehend the contemporary revolution within Indian English writing, one must map out its distinct historical epochs. The pre-independence era was characterized by an urgent need to project an integrated, spiritually resilient, and politically unified India. Raja Rao's seminal text *Kanthapura* (1938) serves as the quintessential example of this period, demonstrating how a localized village dynamic could encapsulate the grand, macrocosmic narrative of the Gandhian nationalist movement. Rao famously articulated the aesthetic dilemma of the Indian writer in his foreword, noting that while English is not the language of our emotional make-up, it is the language of our intellectual make-up, requiring authors to convey inflections of thought that are uniquely Indian in a style that is not native to the language. Similarly, Mulk Raj Anand's *Untouchable* (1935) utilized socialist realism to

critiques internal caste hierarchies, deploying English to champion the subaltern cause on an international platform.

The secondary phase, spanning the immediate post-independence decades of the 1960s and 1970s, witnessed a shift inward. Writers like Anita Desai explored the psychological landscapes of alienated individuals, moving away from broad societal epics toward domestic, existential realities. However, the watershed moment that permanently altered the geopolitical standing of IEL occurred in 1981 with the publication of Salman Rushdie's *Midnight's Children*. Rushdie effectively shattered the earnest, polite, and grammatically conservative conventions of the earlier generation by introducing a vernacularized, high-octane magic realism. By blending English with Hindi, Urdu, and regional syntaxes, Rushdie initiated a process of 'chutnification'—proving that the English language could be violently deconstructed, reassembled, and thoroughly domesticated to capture the chaotic, pluralistic realities of the subcontinent. This linguistic emancipation laid the foundation for the contemporary phase, giving future writers the absolute freedom to treat English not as a borrowed garment, but as a dynamic, native medium of expression.

3. Deconstructing Identity: From Monoliths to Fluidities

In contemporary Indian English fiction, identity is no longer treated as a static inheritance or a fixed geographical datum; rather, it is viewed as a highly performative, unstable fluid construct. Modern authors consistently reject the essentialist search for a single, uniform identity, choosing instead to portray characters who navigate multiple, often conflicting socio-cultural allegiances. This thematic shift aligns closely with postcolonial theorist Stuart Hall's assertion that identity is never a finished product, but a continuous production, always in process and always constituted within, not outside, representation. Writers like Amitav Ghosh, Kiran Desai, and Arundhati Roy meticulously chart how gender, caste, class, and ethnicity intersect to disrupt the grand narratives of both Western imperialism and native nationalism.

> *"Cultural identity... is a matter of 'becoming' as well as of 'being.' It belongs to the future as much as to the past. It is not something which already exists, transcending place, time, history and culture, cultural identities come from somewhere, have histories. But, like everything which is historical, they undergo constant transformation." (Hall 225)*

For instance, Arundhati Roy's *The God of Small Things* (1997) masterfully deconstructs the micro-politics of identity in post-colonial Kerala, examining how ancient 'Love Laws' dictate who should be loved, and how, and how much. Roy reveals that the postcolonial nation-state frequently internalizes and perpetuates regressive pre-colonial hierarchies, thereby marginalizing the untouchable subaltern. In doing so, Roy highlights that true liberation involves dismantling internal oppressive structures just as much as throwing off external colonial control. In a similar vein, Kiran Desai's *The Inheritance of Loss* (2006) explores the psychological fragmentation of individuals caught between worlds. Through characters like the Anglophile judge, who lives in self-loathing isolation, and Biju, an undocumented kitchen worker in New York, Desai illuminates the painful fractures that occur when individuals try to map their identities onto rigid, unforgiving global hierarchies.

4. The Cartography of Spatiality: Collapsing Center and Periphery

Spatiality occupies a crucial theoretical position in the critique of contemporary Indian English literature. Postcolonial geography has shifted focus from mere physical landscapes to socially constructed spaces that reflect and project power relations. Modern IEL explicitly challenges the classic center-periphery model, wherein the Western metropolis was historically viewed as the ultimate center of cultural authority and the postcolonial nation as the marginalized provincial space. Contemporary texts collapse these spatial divisions by depicting characters who move effortlessly across transnational spaces, asserting their agency globally.

Amitav Ghosh's *The Shadow Lines* (1988) serves as an essential literary exploration of this concept. Ghosh critically interrogates the arbitrary, violent nature of political borders, demonstrating that lines drawn on maps are mere psychological constructs that fail to contain

human memory, relationships, or shared historical traumas. The narrative weaves seamlessly between Calcutta, London, and Dhaka, creating an interconnected spatial web that subverts nationalistic insularity. In his monumental *Ibis Trilogy*, Ghosh further expands this spatial exploration by charting the oceanic geography of the Indian Ocean during the nineteenth-century opium trade. By moving the narrative focus away from dry land to the fluid, unstable space of the sea, Ghosh uncovers forgotten histories of indentured labor and early globalization, proving that modern Indian identities are deeply rooted in historical mobility and cross-cultural displacement.

5. Hybridity, Linguistic Innovations, and the 'Third Space'

The concept of hybridity, popularized by theorist Homi Bhabha, provides the ideal analytical framework for interpreting the linguistic and cultural innovations of modern IEL. Bhabha argues that cultural interaction does not result in the simple assimilation of the colonized into the colonizer's world; instead, it generates a dynamic, ambivalent 'Third Space' of enunciation. This Third Space challenges the validity of pure, essentialist cultures, opening up a productive arena where new signs of identity and innovative social meanings can be negotiated. Contemporary Indian English writers inhabit and exploit this Third Space, utilizing it to generate unique narrative forms that actively resist binary categorization.

Linguistically, this hybridity manifests in the complete naturalization of Indian idioms, phrases, and cultural metaphors within the fabric of English text. Authors no longer feel compelled to include explanatory glossaries or italicize vernacular words like *crore*, *dhoti*, *masala*, or *adda* to cater to a Western audience. The language is unapologetically localized, reflecting the lived linguistic realities of contemporary urban and semi-urban India. Culturally, hybridity is explored through the complex figures of the diaspora and the returnee. Jhumpa Lahiri's *The Namesake* (2003) and Aravind Adiga's *The White Tiger* (2008) illustrate different dimensions of this hybrid state. While Lahiri traces the emotional landscape of second-generation immigrants negotiating a hyphenated Indian-American identity, Adiga exposes the stark, dark hybridity of globalized neo-liberal India, where corporate call centers exist right alongside feudal exploitation. This creates a striking contrast between the 'India of Light' and the 'India of Darkness,' capturing the fractured, multi-layered reality of the modern nation-state.

6. Conclusion

In summary, the paradigm shift in postcolonial Indian English literature marks a profound evolution from anti-colonial resistance to a celebratory, complex engagement with globalized hybridity. The contemporary canon has successfully outgrown the anxious, protective need to project a singular, uniform national identity. Modern writers confidently embrace polyphony, fluid spatial boundaries, and deep linguistic experimentation, presenting India not as a fixed, completed project, but as an ever-evolving, dynamic narrative. By reimagining English as a fully indigenous medium and actively participating in the theoretical creation of the 'Third Space,' these authors have completely rewritten the rules of postcolonial representation.

Moving forward, Indian English literature continues to expand its boundaries by incorporating subaltern, Dalit, and subregional perspectives that continuously challenge the mainstream urban narrative. As it moves beyond traditional geographic and cultural limits, IEL firmly establishes itself as an autonomous, self-assured voice in world literature. It no longer operates on the margins of Western discourse, but acts as a vibrant center of creative and theoretical innovation. Ultimately, this rich, evolving body of work demonstrates that within the expansive realm of global English, the Indian voice has not only found its authentic expression but has also become absolutely essential to defining the future of global literary expression.

References

Anand, Mulk Raj. *Untouchable*. Penguin Books, 1935.

Bhabha, Homi K. *The Location of Culture*. Routledge, 1994.

Desai, Kiran. *The Inheritance of Loss*. Grove Press, 2006.

Ghosh, Amitav. *The Shadow Lines*. Ravi Dayal Publisher, 1988.

Hall, Stuart. 'Cultural Identity and Diaspora.' *Identity: Community, Culture, Difference*, edited by Jonathan

Rutherford, Lawrence & Wishart, 1990, pp. 222-237.
Macaulay, Thomas Babington. 'Minute on Indian Education.' *Selected Writings*, edited by John Clive and Thomas Pinney, University of Chicago Press, 1972.
Rao, Raja. *Kanthapura*. Oxford University Press, 1938.
Roy, Arundhati. *The God of Small Things*. IndiaInk, 1997.
Rushdie, Salman. *Midnight's Children*. Jonathan Cape, 1981.

Dr. Satish Kumar
Assistant Professor in English
Government College, Jassia
Rohtak, Haryana, India

16

हिन्दी भाषा एवम् भारतीय भाषाएं

डॉ. पुष्पा रानी

सारांश

भारत एक विशाल देश है जहाँ कई भाषाओं और अनेक बोलियों का व्यवहार होता है। इन भाषाओं में काफी समानताएँ हैं। अपने गुणों के कारण भारतीय उपमहाद्वीप में सदियों से सम्पर्क भाषा हिन्दी रही है। भारत के स्वतन्त्र होने पर संविधान सभा ने 14 सितम्बर, 1949 को देवनागरी लिपि में हिन्दी को संविधान के अनुच्छेद 343(1) के अन्तर्गत भारत सरकार की राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित किया। हिन्दी भाषा के विकास के लिए संविधान के अनुच्छेद 351 में कहा गया है कि मुख्यतः संस्कृत से और गौणतः अन्य भारतीय भाषाओं में शब्द ग्रहण कर हिन्दी की शब्दावली इस तरह विकसित करें कि वह भारत को सामासिक संस्कृति कम्पोजिट कल्चर की अभिव्यक्ति का माध्यम हो सके। भारत बहुभाषी राष्ट्र है जहाँ अनेक भाषाएँ बोली जाती है। संविधान की अष्टम् अनुसूची में बाईस राष्ट्रीय भाषाएँ लिखी गई हैं– असमिया, ओड़िया, उर्दू, कश्मीरी, गुजराती, डोगरी, पंजाबी, बंगला, मराठी, मैथिली, सिंधी, कोंकणी, नेपाली संस्कृत, हिन्दी, कन्नड़, तमिल, तेलगु, मलायलम, बोडो, मणिपुरी तथा संथाली। भारत में बोली जाने वाली विभिन्न भाषाओं को भाषा वैज्ञानिकों ने चार भाषा परिवारों में बाँटा हैं – भारत आर्य परिवार, द्रविड़ परिवार, चीनी–तिब्बती परिवार और ऑस्ट्रिक परिवार । हिन्दी, असमिया, बंगला, ओड़िया, मराठी, पंजाबी, सिन्धी, कश्मीरी और उर्दू भी भारतीय आर्य परिवार की ही भाषाएँ है। दूसरे स्थान पर द्रविड़ परिवार में तमिल, तेलगु, कन्नड़ और मलयालम भाषाएँ आती है। तीसरा चीनी–तिब्बती भाषा परिवार में मंगोलाई या तिब्बती–बर्मी परिवार के नाम से भी जाना जाता है। बोड़ो और मणिपुरी भाषाएँ भी इस परिवार की मुख्य भाषाएँ है। चौथा भाषा परिवार ऑस्ट्रिक – संथाली इस परिवार की मुख्य भाषा है।

प्रत्येक भाषा का अपना व्याकरण होता है, इससे हमें यह भी मानना पड़ेगा कि जब दूसरी भाषाओं से उसका सम्पर्क बढ़ता है तो उसकी शैली और व्याकरण में कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य होता है। कुछ परिवर्तन जानबूझकर किए जाते हैं और कुछ स्वयं हो जाते है, जिनके सम्बन्ध में यह कहना सम्भव नहीं होता कि वह परिवर्तन कब, क्यों किस तरह हुआ। आज हिन्दी की प्रतिबद्धता क्षेत्रीय भाषाओं के साथ है और वह अपना स्थान तभी सुरक्षित रख सकती है। किसी भी भाषा को समृद्ध करने के लिए अन्य भारतीय भाषाओं का भी ज्ञान प्राप्त करना होगा। कम–से–कम किसी एक भाषा को अवश्य सीखना होगा। इससे हिन्दी–भाषी दूसरे प्रदेशों के साथ सम्पर्क और अपनत्व बढा सकेंगे। उनको ये अवसर भी प्राप्त होगे कि हिन्दी में प्रकाशित ग्रन्थ और पत्रों का उस दूसरी भाषा के ग्रंथों और पत्रों से मुकाबला करके देख सकेंगे कि हिन्दी कहाँ तक उनके मुकाबले में पहुंचती है क्या कमियाँ है और किस दिशा में भाषा को बढ़ाने में कार्य करना है। जो कुछ लिखना है या कुछ विशेष करना चाहते हैं तो दूसरी भाषाओं का ज्ञान अवश्य और अनिवार्य होना चाहिए। इसके बिना उनकी रचनाओं में न तो वह व्यापकता आ पायेगी और न ही ओज जो एक अच्छे साहित्य के लिए अनिवार्य है। हिन्दीतर भाषियों ने राष्ट्र और देशहित के लिए हिन्दी सीखने का बीड़ा उठाया है। हम हिंदी भाषियों को इतना अवश्य करना चाहिए कि उन दूसरी भाषाओं के बोलने और लिखने वालों के विचारों से अपने को परिचित करें। दूसरा क्षेत्रीय भाषाओं का भी ऐतिहासिक, साँस्कृतिक एवं सामाजिक महत्व है। एक भाषाक्षेत्र के अन्तर्गत उस भाषा के विविध रूप होते हैं। उनके द्वारा ही एक भाषिक इकाई का निर्माण होता है। उस भाषा के सभी प्रकार के रूप उस भाषा क्षेत्र में प्रयुक्त होते हैं। दो भाषा–क्षेत्रों के बीच विभाजक रेखा खींचना सरल नहीं होता। एक भाषा क्षेत्र की दो बोलियों के बीच तो यह और भी कठिन है। जार्ज ग्रियर्सन ने भारत भाषा सर्वेक्षण किया। विभाजक रेखा खींचते समय उन्हें भी कठिनाई हुई थी। ग्रियर्सन ने कहा था कि सर्वेक्षण का कार्य करते समय यह निश्चित करने में कठिनाई पड़ी कि वास्तव में एक कथित भाषा स्वतन्त्र भाषा है अथवा अन्य किसी भाषा की बोली है। इस सम्बन्ध में इस प्रकार का निर्णय देना जिसे सब लोग स्वीकार कर लेंगे, कठिन है। भाषा और बोली में प्रायः वही सम्बन्ध है जो पहाड़ तथा पहाड़ी में है। यह निःसंकोच रूप में कहा जा सकता है कि एवरेस्ट पहाड़ है और हालबर्न एक पहाड़ी किन्तु इन दोनों के बीच की विभाजक रेखा को निश्चित रूप से बताना कठिन है। सच्चाई यह है कि दो बोलियों अथवा भाषाओं में भेदीकरण केवल पारस्परिक वार्ता सम्बन्ध पर ही निर्भर नहीं करता । वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इस सम्बन्ध में विचार करने के लिए अन्य महत्वपूर्ण तथ्यों को भी दृष्टि में रखना आवश्यक है।" दो भाषा–भाषी व्यक्ति अपने विचारों का बोध एक दूसरे को नहीं करा पाते। वह अपनी मुख– मुद्रा या संकेतों से कुछ बातों को संप्रेषित कर लेते है। एक हिंदी भाषी तेलुगु भाषा को अपनी बात ग्रहण नहीं करवा पाता। ऐसी स्थिति में दो व्यक्तियों का भाषा–रूपों का अलग–अलग नाम दिया जाता है। यही स्थिति भोजपुरी और अवधी या अवधी और ब्रजभाषा के बीच है। भाषाविज्ञान में भी अन्तर है। यह अन्तर इतना बड़ा नहीं है कि हम उन भावों को ग्रहण ही नहीं कर सके। भाषा वैज्ञानिकों ने जिसे हिंदी के अंतर्गत परिगणित किया है वह केवल

खड़ी बोली हिंदी नहीं है, इसके अन्तर्गत बिहारी, पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी, राजस्थानी और पहाड़ी की उपबोलियाँ हैं। इनके वर्गीकरण का आधार उनकी परस्पर विभिन्नता है तथा उपबोलियों के अन्तर्गत आने वाली बोलियो के वर्गीकरण का आधार भी विभिन्नताएं है लेकिन ये विभिन्नताओं की भी इतनी बड़ी विभाजक रेखा नहीं खींचती कि इन्हें अलग भाषा के रूप में स्थापित किया जाए।

विद्यापति (मैथिली) – सुन रसिया, अबन बजाऊ विपिन बंसिया ।
बार–बार चरनबिंद गहि, सदा रहब बन दसिया ।

मीरांबाई (राजस्थानी) – मेरो तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई।

रसखान (ब्रजभाषा) – मानुष हौं तो वही रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पशु हौं तो कहा बस मेरो, चरौं नित नंद के धेनुमंझारन ।

तुलसी (अवधी) – बुन्द अधात सहहि गिरि कैसे,
खल के वचन सन्त सह जैसे

जायसी (अवधी) – छार उठाइ लीन एक मूठी ।
दीन उठाइ पिरिथिवी झूठी ।

कबीर– गुरु गोबिन्द दोऊ खड़े काको लागू पॅय ।
बलिहारी गुरु आपने गोबिन्द दियो मिलाय ।।

उपर्युक्त पंक्तियों से यह कहीं भी बोध नहीं होता कि दूसरी भाषा की है। सामान्य तौर पर अवधी को ब्रजभाषा वाले और ब्रजभाषा को राजस्थान वाले आसानी से समझ लेते है इस सूक्ष्म अन्तर से हम व्याकरण की बारीकियों को पकड़ पाते हैं। इसी प्रकार हिन्दी क्षेत्र में बोली जाने वाली बोलियों के लोकसाहित्य को भी सरलता से समझ लेते हैं।

एक भाषा–क्षेत्र बनने के पीछे उस क्षेत्र के लोगों की मानसिक अवधारणाएं भी महत्वपूर्ण होती है। बुन्देली के सन्दर्भ में बात करें तो इसकी कई उपबोलियाँ हैं। प्रत्येक उपबोली अपनी प्रतिष्ठा के लिए संघर्षरत है। बुन्देली की उपबोलियों में पंवारी, लोधान्ती, खटोला, भदावरी, सहेरिया और छिन्दवाडा बुन्देली हैं। केवल छिन्दवाडी–छिन्दवाड़ा की उपबोलिया है– पोवारी, गाओंली, राघोबंसी, किरारी आदि। पहाडी बोलियाँ भी – पूर्वी पहाड़ी नेपाली है। नेपाल में मैथिली– भोजपुरी काफी जनसंख्या में लोग बोलते हैं। 'मघेसी' नाम से जाना जाता है, मध्य पहाडी उत्तराखण्ड में बोली जाती है। इसकी उपबोलियों है– कमाऊँनी और गढ़वाली पश्चिमी पहाड़ी हिमाचल प्रदेश में बोली जाती है। पहाड़ी बोलियाँ की संरचना और व्याकरण मै काफी अन्तर होता है।

क्षेत्रीय उपभाषा और उपबोलियों के क्षेत्र में ऐतिहासिक तथा साँस्कृतिक कारणों से किसी क्षेत्र–विशेष के अधिक महत्वपूर्ण हो जाने के कारण मानक भाषा विकसित होती है। यह मानक भाषा कई कारणों से सैकड़ों वर्षों तक एक वृहद् क्षेत्र में स्वीकार्यता को प्राप्त कर लेती है। शब्दावली, व्याकरण और उच्चारण की दृष्टि से एक रूप स्थिर होने लगता है। एकरूपता के कारण इसका प्रचार शीघ्रता से होने लगता है। इसी कारण से काव्यकला में अभिव्यक्ति का माध्यम तो वह भाषा बनती ही है, शिक्षा का माध्यम भी बनती है। किसी भाषा का शिक्षा का माध्यम होना सबसे महत्वपूर्ण है। फिर भाषा के विकास और मानकीकरण के साथ ही लिपि का विकास और मानकीकरण भी जुड़ा हुआ है। इस मानक भाषा का प्रभाव बोलियों पर भी पड़ता है। उसकी बोलियाँ वे इसलिए हैं कि एक बड़ी भाषा के रूप में मानक बनते समय वह भाषा उनसे शब्दों को ग्रहण करती है। उसके साहित्य को अपने भीतर समाहित करती है। एक वृहद क्षेत्र के लोग उसे समझने लगते हैं। शिक्षा के माध्यम तथा कार्यालयी व्यवहार में उसका उपयोग करना प्रारम्भ करते हैं। एक बृहत्तर भू भाग के लिए वह भाषा सम्प्रेषण प्रशासन और शिक्षा की दृष्टि से अपनी उपयोगिता को स्थापित करती है और लोगों के के बीच दूरियाँ भी कम हो जाती है। व्यक्ति सम्प्रेषण और लोकव्यवहार में सहजता और समरसता की अनुभूति करता है जब से सृष्टि बनी है तब से हिन्दी भाषा में सम्पूर्ण भारत में अपनी मजबूत स्थिति को कायम किया है।

हिन्दी के विकसित होने से अन्य भारतीय भाषाओं की स्थिति भी मजबूत है। भारत की सभी क्षेत्रीय भाषाएँ गतवर्षों में अधिक विकसित हुई हैं। क्षेत्रीय भाषाओं के बोलने वालों की संख्या में भी वृद्धि हुई है। भारत की कोई भी भाषा अपनी पड़ोसी भाषा को उपेक्षित नहीं करती। भारतीय भाषाएं सहजीविता के सिद्धान्त पर चलती हैं। वे साथ–साथ बढ़ती है फलती–फूलती है। इसी कारण से अरुणाचल प्रदेश में प्रत्येक मुख्य जनजातियों की भाषाएँ भी फलफूल भी रही है, उनकी उपबोलियाँ भी सुरक्षित है, जीवित है। नागालैण्ड और मेघालय में कई बोलियाँ है। यह अलग बात है कि इन प्रान्तों ने अपनी भाषाओं को उपेक्षित कर

अंग्रेजी भाषा को राजभाषा घोषित किया हुआ है। सिक्किम में 11 बोलियाँ है। इसके बावजूद अंग्रेजी वहाँ की राजभाषा है। वे बोलियाँ अंग्रेजी के वर्चस्व के बीच पिस रही हैं। उन्हें संजीवनी अंग्रेजी से नहीं पड़ोस की भाषाओं और संस्कृत–हिन्दी से मिल रही है। पूर्वोत्तर भारत की भाषाओं में संस्कृत और हिन्दी की शब्दावले घुल मिल गई है। भारतीय भाषाएँ शब्द ग्रहण करने में उदार हैं। गृहीत शब्दों को सभी भाषाएँ अपनी व्याकरणिक संरचना में ग्रहण अपना बना लेती हैं।

चाहे बोलियों हों या भाषा शब्द निर्माण का मूल मानव भी जिज्ञासा तथा निश्चयात्मक वृत्ति है। भाषा की प्रगति मनुष्य के भावात्मक एवं विचारात्मक विकास के साथ विज्ञान–ज्ञान की प्रगति पर निर्भर करती है। आधुनिक युग के निर्माण में विज्ञान का बहुत बड़ा हाथ है। जिज्ञासु प्रवृत्ति से प्रेरित मनुष्य अपने ज्ञान के बल पर विशेषकर परिधि को लांघने का प्रयास कर गणित, रसायनशास्त्र, भू–गर्भशास्त्र भौतिकी आदि नानाविध शास्त्रों का निर्माण करने लगा। इन शास्त्रों के विषय की अभिव्यक्ति के लिए उसने विभिन्न संकेतों शब्दों, रेखाओं, चिह्नों और अनेक संस्थाओं का निर्माण किया है। वस्तुतः वैज्ञानिक चिन्तन और प्रकाशन के लिए निश्चित परिभाषा और अर्थ हो सकते हैं, परन्तु परिभाषा और अर्थ सभी भाषाओं में एक ही होता है और होना भी चाहिए। आज बौद्धिक स्तर पर मनुष्य अत्यंत विकसित हो चुका है और विश्व के विभिन्न राष्ट्र विज्ञान के क्षेत्र में अपार प्रगति कर चुके हैं। आज आधुनिक विज्ञान की समस्त विधाओं की शिक्षा भारतीय भाषाओं के माध्यम से दिलाने का सक्रिय प्रयत्न हो रहा है। ज्ञानार्जन के लिए और विशेषकर स्कूल की पढ़ाई में मातृभाषा का माध्यम ही सबसे उपादेय है। यद्यपि विज्ञान की उच्च शिक्षा एवं अनुसंधान के लिए विज्ञान के क्षेत्र में निरन्तर होने वाली गतिविधि और प्रगति की पूरी जानकारी को दृष्टि से इस दिशा में अनेक वर्षों वे विभिन्न भाषाओं के शब्द समूहों की सहायता से समृद्ध हुई अंग्रेजी उपयोगी होगी फिर भी यह स्वीकृत तथ्य है कि सर्वसाधारण में विज्ञान के प्रसार के लिए प्रत्येक की मातृभाषा में वैज्ञानिक ग्रंथों का निर्माण अवश्य होना चाहिए। इसी कारण से भारतीय भाषाओं में शब्दावली का निर्माण करने की आवश्यकता अनुभव की जाती रही है। विभिन्न शास्त्रों की मानक शब्दावली निर्माण करने के पीछे धारणा भी यही रहती है कि पारिभाषिक व शब्द बनाकर मानक रूप दिए जाएँ और उनके निरन्तर प्रयोग वे नै मानकीकरण किया जाए। जिन शब्दो में जीवित रहने की क्षमता न हो तो उन्हें नष्ट कर दिया जाये।

हमारी हिन्दी भाषा हो या भारतीय भाषाएँ सभी का मूल स्रोत संस्कृत है किन्तु व्यापक रूप से प्रचलित बोधगम्य और अन्तर्राष्ट्रीय प्रयोग में आने वाले शब्दों का अनुवाद किए बिना उन्हें उसी प्रकार अथवा कभी–कभी हिन्दी के ध्वनि और व्याकरण के नियमों में बाँधकर स्वीकार किया जाता है। विज्ञान औद्योगिकी आदि के क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली का परित्याग कर देने पर विश्व के वैज्ञानिक साहित्य सम्बन्ध हो जाने की सम्भावना है। वैज्ञानिक शब्द जो विश्व प्रसिद्ध है एल्मुनियम, हाइड्रोजन, क्लोराइड जैसे नए तत्त्वों यौगिकों आदि के नाम बिना परिवर्तन किए ज्यों के त्यों ग्रहण किए जाते है किन्तु किसी विचार की प्रक्रिया के द्योतक संकल्पना प्रधान शब्दों की अवधारणा पर गम्भीरतापूर्वक विचार करते हुए उनका हिन्दी में अनुवाद किया जाता है जिसके लिए संस्कृत, प्राचीन भाषाओं एवं मध्ययुगीन भाषाओं के साहित्य में उपलब्ध भण्डार का उपयोग किया जाता है। वास्तव में हिन्दी के वर्तमान शब्द भण्डार में जिसमें संस्कृत, तत्सम, तद्भव शब्द होते हैं और इतर भाषाओं से भी आवश्यकतानुसार लिए गए शब्द भी विद्यमान है। वैज्ञानिक धारणाओं को अभिव्यक्त करने की अपार शक्ति सन्निहित है। इस अनुवाद की प्रक्रिया में चुने गए शब्दों के मूल में संकल्पना की यथार्थता पर जोर दिया जाता है। हिन्दी के अधिकांश शब्द मूल संस्कृत शब्द के साथ प्र, पर, अप, अनु, अव आदि उपसगों और ई, इय, इक आदि प्रत्ययों का प्रयोग तथा धर्मी, धारी, मान, मूलक, मापी आदि शब्दांशों की सहायता से समास विधि का अनुसरण कर बनाए जाते हैं।

हमारी लोकभाषाएँ बहता नीर है। इस कारण एक मानक भाषा का महत्व कम नहीं हो रहा है। उस प्रतिष्ठित भाषा की लोकभाषाओं को सयास मानक बनाने के कारण पूर्व प्रतिष्ठित भाषा कमजोर पड़ती है दूसरी ओर प्रतिष्ठा दिलाने में हजारों वर्षों का समय लगता है। मुगलों ने फारसी को राजकाज की भाषा बनाया। दिल्ली और आगरा मुगल शासन का केन्द्र होने के बावजूद जहाँ मुगल सत्ता थी वहाँ तक भी प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर सकी। जम्मू–कश्मीर में राजभाषा उर्दू है। वहाँ डोगर और कश्मीरी का वृहद क्षेत्र है। जम्मू–कश्मीर की बड़ी आबादी फारसी लिपि से अपरिचित है। इस कारण एक प्रान्त के मूल निकासी फारसी लिपि के कारण राजकाज की भाषा को समझ नहीं पा रहे थे है। संस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश की लिपि देवनागरी थी। बहुत पहले ब्रह्मीलिपि प्रचलित थी। उर्दू भारत में विकसित हुई, उसकी लिपि बाहर की भाषा स्वीकार की गयी। इस कारण एक निश्चित दूरी हमेशा बनी रही। कुछ उर्दू और फारसी लिपि पढ़े–लिखे लोगों को छोड़ कर वह बोलने लिखने और पढ़ने की भाषा बन पायी। एक खास वर्ग की भाषा बनकर रह गयी। सिन्धी फ़ारसी लिपि में लिखी जाती थी। आज भी

पाकिस्तान में लिखी जाती है। भारत में लगभग 75ः लोग इसे देवनागरी में लिखने लगे हैं। इससे सिन्धी भाषा और साहित्य आम लोगों तक पहुँच गये। सिन्धी–साहित्य के परिचय का क्षेत्र भी बढ़ा है। भारत में जिन बोलियों की लिपि नहीं है या कभी थी। अब किन्हीं कारणों से विलुप्त हो गयी है। उन्हें देवनागरी लिपि अपनानी चाहिए। देवनागरी के अक्षरों से यदि उनकी बोलियों का उच्चारण और लेखन सम्भव नहीं है तो हमें यह भी जान लेना चाहिए कि रोमन से तो बिल्कुल नई कुछ लोग लिपि बना रहे हैं। यह अतिरिक्त उत्साह है। इससे उनकी भाषा और अधिक सीमित हो जायेगी। एक नयी लिपि सीखने के लिए समय और उत्साह कितने लोगों के पास है। यह भी सम्भव या लेकिन दूसरी भाषाओं– यथा अंग्रेजी, हिन्दी तथा पड़ोस की किसी भाषा को सीखने का दबाव और आवश्यकता के बीच कोई भी भाषा साहित्य के कारण विकसित तथा प्रचारित नहीं होती। वह दीर्घजीवी नहीं होती। भाषा की दीर्घजीविता साहित्य के अतिरिक्त गणित दर्शन चिकित्साशास्त्र, योगशास्त्र, वनस्पति विज्ञान, प्राणि विज्ञान, पदार्थ विज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीति–विज्ञान, प्रशासन, क्रीड़ा विज्ञान, संगीत तथा विविध शिल्पकारों का विज्ञान, मृदाशोधन, खगोलशास्त्र, अस्त्र–शस्त्र निर्माण एवं परिचालन – विज्ञान, धर्मशास्त्र, ज्योतिष, तन्त्र, कामशास्त्र, इतिहास–भूगोल, भू–गर्भ विज्ञान तथा वाणिज्य आदि विषयों के लेखन और अध्यापन के कारण प्राप्त होती है। भारत में कभी यह स्थिति संस्कृत भाषा को प्राप्त थी। उसके पश्चात आधुनिक आर्य भाषाओं तथा द्रविड़ भाषाओं में इसके फुटकर ग्रन्थ प्राप्त हो जाते है।

भारतीय भाषाओं में स्वचिन्तन का अभाव एवं उसकी उपेक्षा मिलती है। एक सौ तीस वर्ष पहले हिन्दी का पहला उपन्यास परीक्षा गुरु प्रकाशित हुआ। इसके प्रमुख पात्र ब्रजकिशोर की पीड़ा यह है कि श्नई वैज्ञानिक खोजों को हिन्दी में प्रस्तुति न होने से आम आदमी बर्बाद हो रहा है। परीक्षा गुरु के प्रकाशन काल में यद्यपि पारिभाषिक शब्दावली का इतना विकास नहीं हुआ था तथापि आज इतनी बड़ी सम्पदा को संग्रहीत करके भी क्या हासिल हो रहा है? क्यों आज देश के चिकित्सक, अभियंता बोलिए हिन्दी भाषा में शिक्षा ग्रहण नहीं करते। क्यों आज विज्ञान भारतीय भाषाओं में नहीं पढ़ाया जाता ? क्यों देश के बुद्धिजीवी इतिहास–चिन्तन पहले अंग्रेजी में करते हैं? क्यो यहाँ ज्ञान अनुवाद के रूप में परोसा जाता है। इसका कारण यह भी है कि हिन्दी एवं भारतीय भाषाओं को नहीं अपनाया गया इसलिए परिभाषिक शब्द अनुवाद के रूप में कृत्रिम काया के रूप में ढल जाते है उनका मौलिक विकास नहीं हो पाया। इन सभी परिस्थितिय परिणाम यह हुआ कि भारतीय भाषाओं में मौलिक चिन्तन के बिना सहज रूप भाषा में ही नहीं आ पाते तभी अनुवाद से शब्दों को लेने की विवशता उत्पन्न होती है। वस्तुतरू जब तक हिंदी चिंतन की भाषा ना बनेगी, बुद्धिजीवी तब तक भारतीय भाषाओं से दूर रहेंगे, तब तक किसी सार्थक वैज्ञानिक एवं परिभाषिक शब्दावली का निर्माण सम्भव नहीं।

संस्कृत भारत की संस्कृति और धर्म की भाषा ही नहीं रही है, अपितु शब्दावली की दृष्टि से भारत की समस्त भाषाओं की आधार भाषा भी रही है। मलयालम ने भी अपने शब्दकोश की वृद्धि संस्कृत शब्दों को गृहीत करके ही की है। वैसे तो संस्कृत शब्द अल्प मात्र में मलयालम में बहुत पहले से ही प्रयुक्त होते थे, परंतु मलयालम के विकास काल में मलयालम में संस्कृत शब्दों का आगम हुआ और आज तक वह क्रम निर्बाध गति से चलता आ रहा है। आजकल की उच्च मलयालम में 60 प्रतिशत संस्कृत शब्दों का प्रयोग प्रचलित है। मलयालम में गृहीत संस्कृत की शब्दावली को अर्थ की दृष्टि से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है–समानार्थक शब्द, भिन्नार्थक शब्द। हिंदी और मलयालम में प्रयुक्त ऐसे शब्द हैं, जिनके रूप और अर्थ समान होते हैं। ऐसे समानार्थक शब्दों की संख्या सहस्रों है। परंतु मलयालम और हिंदी में शब्द ग्रहण की रीति में जो अंतर है, वह भाषा की प्रवृत्ति का है। हिंदी की प्रवृत्ति प्रायः संज्ञा शब्दों के प्रथम एकवचन रूप ग्रहण करने की रही है, जबकि मलयालम की प्रवृत्ति शब्द का संस्कृत मूल रूप लेने की ओर उन्मुख है। हिंदी और मलयालम के समान वर्तनी वाले समानार्थक शब्द इस प्रकार हैं– शांति, रीत। भिन्नार्थक शब्द रू भिन्न–भिन्न स्रोतों से आने पर, समान वर्तनी में लिखे जाने पर भी शब्दों के अर्थ अंतर होना सर्वथा साधारण है। ऐसे विभिन्न स्रोतों से आए हुए भिन्नार्थक समान शब्द हिंदी और मलयालम में बहुत से हैं, जैसे– मलयालम में पट्टि इसका अर्थ कुत्ता हैं हिंदी में पट्टी। इसी प्रकार मलयालम में अरि इसका अर्थ चावल है और हिंदी में अरि जिसका अर्थ है शत्रु।

हिन्दी और भारतीय भाषा मराठी

भारतीय भाषाओं का विकास समान परिस्थितियों में हुआ है। उनके अध्ययन से ज्ञात होता है कि सभी भाषाएँ एक ही परिवार से नहीं जन्मी हैं, उदाहरणार्थ–दक्षिण की तमिल, तेलुगु आदि। परंतु इसमें संदेह नहीं कि हिंदी और मराठी एक ही परिवार की भाषाएँ हैं। साथ ही दोनों की लिपि भी देवनागरी है। आर्य परिवार की ये भारतीय भाषाएँ कई अंशों में सादृश्य रखती हैं। भारतीय भाषाओं पर समान रूप से संस्कृत का प्रभाव है। यहाँ तक कि अन्य परिवार की भारतीय भाषाओं में भी संस्कृतनिष्ठ शब्दों का बाहुल्य है। जहाँ तक मराठी और हिंदी का संबंध है, दोनों भाषाओं में प्रचुर मात्र में शब्द समानार्थ रूप में प्रचलित हैं।

मराठी और हिंदी दोनों भाषाओं में प्रचलित हैं और हिंदी में भी उनका स्वरूप और अर्थ वही है, जो मराठी में है। अंक–गणित, अचानक, अंकित, अधिक, अन्न, अजीर्ण, अतिथि, आंग्रह, आस्तिक, आलिंगन, आज्ञा, आस्था, इज्जत, इमारत, ऐतिहासिक आदि।

इस प्रकार हिंदी और मराठी के समान शब्दों से अनुमान लगाया जा सकता है कि दोनों भाषाओं के शब्दों में बहुत साम्य है। मराठी में बहुत से ऐसे शब्द मिलते हैं, जिनके लिखने में दीर्घ ह्रस्व मात्राओं का अंतर है, परंतु समानार्थ में प्रयुक्त होते हैं।

भारत की प्रमुख भाषाओं की लिपियाँ और देवनागरी लिपि

भारत की प्रमुख भाषाओं की लिपियाँ ध्वनि अर्थात् आत्मिक दृष्टि से एक–दूसरे से अद्भुत साम्य रखती हैं। ध्वनि क्रम की दृष्टि से भी ये आश्चर्यजनक ढंग से समान हैं। कश्मीर से कन्याकुमारी तक भारत की समस्त आर्य एवं द्रविड़ भाषाएँ इस दृष्टि से समान हैं। उत्तर की भाषाएँ अर्थात् आर्य भाषाएँ– हिंदी, बांग्ला, गुजराती, मराठी, असमी, ओडि़या एवं गुरुमुखी की लिपियाँ एवं दक्षिण भारत की अर्थात् द्रविड़ भाषाएँ तमिल, तेलुगु, कन्नड़ एवं मलयालम की लिपियों में ध्वनि एवं ध्वनि का क्रम एक ही है। लिपियों की आकृति अर्थात् अक्षरों की बनावट दृष्टि से भारत की भाषाओं में मोटा अंतर स्पष्ट रूप से दिखलाई देता है। उपर्युक्त दृष्टि से उत्तर भारत की समस्त भाषाएँ अर्थात् आर्य भाषाएँ एक समान हैं। द्रविड़ भाषाएँ लिपि की आकृति अर्थात् अक्षरों की बनावट की दृष्टि से भिन्नता रखती हैं। द्रविड़ भाषाओं में भी अक्षरों की बनावट की दृष्टि से वर्ग हो जाते हैं। इन दो वर्गों में से तमिल और मलयालम एक वर्ग में आते हैं तथा तेलुगु और कन्नड़ दूसरे वर्ग में।

भारत की समस्त भाषाओं में देवनागरी ही ऐसी लिपि है, जिसकी आकृति में बिना कोई विकार उत्पन्न किए अनेक भाषाएँ लिखी जा सकती हैं। उदाहरण के लिए मराठी, संस्कृत एवं नेपाली के लिए देवनागरी का ही प्रयोग बिना कोई परिवर्तन हुए व्यवहार में सदा में लाया जाता रहा है। देवनागरी लिपि में समय–समय पर थोड़े परिवर्तनों के कारण समस्त आर्य भाषाओं अर्थात् गुजराती, बांग्ला, असमी, ओड़िया तथा गुरुमुखी की लिपियों का श्रीगणेश हुआ है। इन समस्त भाषाओं में स्वरों एवं व्यंजनों का विभाजन भी देवनागरी लिपि से साम्य रखता है।

इस प्रकार लिपियों पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि देवनागरी लिपि का भारत की अन्य प्रमुख लिपियों से अद्भुत साम्य है। अन्य लिपियों में जो कुछ भिन्नताएँ हैं भी, वे वस्तुतः उन लिपियों में वैज्ञानिकता का अभाव प्रदर्शित करती हैं। गुजराती में शिरो–रेखा का अभाव, बांग्ला में अनावश्यक तिरछापन एवं गोलाई का लोप, तेलुगु के अक्षरों की जटिल एवं भ्रांतिजनक बनावट एवं तमिल में ध्वनियों की अत्यधिक कमी के कारण देवनागरी लिपि को ही अपनाना सभी भाषाओं के लिए श्रेयस्कर होगा।

सन्दर्भ सूची

डॉ भोलानाथ तिवारी, भाषा विज्ञान, किताब महल पब्लिकेशन, इलाहाबाद, दिल्ली, पटना, नागपुर

डॉ हरदेव बाहरी, हिंदी उद्भव विकास और स्वरूप, किताब महल पब्लिकेशन इलाहाबाद

किरण बाला, हिंदी भाषा और साहित्य, किताब महल पब्लिकेशन इलाहाबाद

रामछबीला त्रिपाठी, भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा, किताब महल पब्लिकेशन इलाहाबाद

श्यामसुंदर दास, हिंदी भाषा और साहित्य, इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

ब्रजरत्नदास, खड़ी बोली हिंदी साहित्य का इतिहास, हिंदी साहित्य कुटीर बनारस

डॉ. पुष्पा रानी

प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष

हिंदी विभाग कुरुक्षेत्र

विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र – 136119

मोबाइलः 98962 06889

17

जनपद मथुरा में भूमि उपयोग प्रतिरूप का भौगोलिक विश्लेषण

डॉ0 अनिल कुमार

साराशः

भूमि उपयोग का सम्बन्ध संसाधनों के अध्ययन मात्र से नहीं है। इसका अर्थ व्यापक है। प्राकृतिक वातावरण में भूमि प्रयोग एक गतिशील प्रक्रिया है। जनपद मथुरा 27° 14′ से 27° 58′ उत्तरी अक्षांश एवं 77° 17′ से 77° 48′ पूर्वी देशान्तर के मध्य स्थित है तथा इसका क्षेत्रफल 3340 वर्ग किलोमीटर है। भगवान श्रीकृष्ण की जन्मस्थली होने के कारण इसका धार्मिक एवं ऐतिहासिक महत्व है। कुल जनसंख्या 25.47 लाख व्यक्ति है। सकल प्रतिवेदित क्षेत्रफल 333.96 हजार हेक्टेयर है। कृषि भूमि 78.06 प्रतिशत एवं दो फसली भूमि 49.90 प्रतिशत है। सकल बोया गया क्षेत्रफल 390.79 हजार हेक्टेयर है, जिसमें 66.70 प्रतिशत रबी, 30.46 प्रतिशत खरीफ एवं 2. 84 प्रतिशत जायद की फसलें उगाई जाती हैं। शस्य गहनता 150 प्रतिशत है। सिंचाई साधनों में नहर 1312 किलोमीटर, राजकीय नलकूप 225, निजी नलकूप 6265, डीजल चालित पम्पिंग सैट्स 55970 एवं अन्य साधन 3563 हैं। शुद्ध सिंचित क्षेत्रफल 201.55 हजार हेक्टेयर, एक बार सिंचित भूमि 135.81 हजार हेक्टेयर एवं सकल सिंचित क्षेत्रफल 327.37 हजार हेक्टेयर है। कृशि विकास में भूमि उपयोग का विशेश महत्व है। भूमि उपयोग के सुधारों के उचित कार्यान्वयन की जरूरत है।

भूमिकाः

भौगोलिक अध्ययन में भूमि का प्रयोग क्षेत्र, प्रगति, उत्पादन कारक, उपयोग प्रतिरूप, स्थिति, सम्पत्ति तथा भूमि के रूप में किया जाता है। 'भूमि' मानव का सबसे महत्वपूर्ण प्राकृतिक संसाधन है, जो कृषि सहित विकास कार्यों के लिए मूलभूत आधार प्रदान करता है। भूमि प्रयोग के अन्तर्गत कोई भू–भाग प्रकृति प्रदान विशेषताओं के अनुसार रहता है। प्रारम्भिक अवस्था में भू–भाग वनस्पति आवरण से आच्छादित या वनस्पति विहीन रहता है। भूमि प्रयोग प्राकृतिक भू–दृश्य या वनस्पति आच्छादित भू–पटल के सन्दर्भ में ही नहीं, वरन् मानवीय क्रिया–कलापों से उत्पन्न उपयोगी सुधारों के रूप में भी प्रयुक्त होना चाहिए।

भूमि उपयोग प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक क्रियाओं के संयोग का प्रतिफल माना जाता है। मानव अपनी आवश्यकतानुसार भूमि का उपयोग करता है। इसका उद्देश्य भूमि से अधिकतम लाभ प्राप्त करना होता है। बढ़ती हुई जनसंख्या तथा ज्ञान–विज्ञान में प्रगति के कारण भूमि उपयोग की सीमाओं में बहुत अधिक परिवर्तन हो गये हैं। वास्तव में भूमि उपयोग की सीमाएँ दीर्घकाल तक कभी भी स्थिर नहीं रहती हैं। भूमि उपयोग का अर्थ अत्यधिक व्यापक तथा विस्तृत है। कृषि कार्यों की विविधता एवं विशिष्टता भूमि उपयोग के विकास कार्य एवं क्रम को व्यक्त करती है। अतः भूमि उपयोग में संतुलन की आवश्यकता है।

अध्ययन क्षेत्र का परिचयः

प्रस्तुत शोध–पत्र का अध्ययन क्षेत्र 'जनपद मथुरा' है, जो 'आगरा मण्डल' का महत्वपूर्ण भाग है। यह जनपद उत्तर प्रदेश की 'ब्रज भूमि' में फैला है जिसके मध्य में उत्तर से दक्षिण को 'यमुना नदी' बहती है। यह नदी अत्यधिक प्रदूषित होते हुए भी क्षेत्र के लिए अति महत्वपूर्ण है। आगरा मण्डल के उत्तर–पश्चिम में फैले जनपद मथुरा का अक्षांशीय विस्तार 27° 14′ से 27° 58′ उत्तरी अक्षांश तथा देशान्तरीय विस्तर 77° 17′ से 77° 48′ पूर्वी देशान्तर के मध्य है। इसका कुल क्षेत्रफल 3340 वर्ग किलोमीटर है। छाता, मथुरा, मांट, महावन चार तहसीलों तथा नन्दगाँव, छाता, चौमुहाँ, गोवर्धन, मथुरा, फरह, नौहझील, मांट, राया व बलदेव 10 विकासखण्डों में विभाजित यह क्षेत्र ऐतिहासिक, पौराणिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं राजनीतिक दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है। मथुरा, कोसीकला, वृन्दावन, मथुरा कैण्ट, छाता, गोवर्धन, राया, चौमुहाँ, नन्दगाँव एवं बरसाना, बल्देव, साख, महावन, फरह, राधाकुण्ड, बाजना, गोकुल, औरंगाबाद नगरीय केन्द्रों तथा 736 आबाद ग्रामों से युक्त जनपद मथुरा 'कृष्ण जन्म भूमि' तथा उसकी बाल व रासलीलाओं से विश्व प्रसिद्ध है। कुल जनसंख्या 25.47 लाख व्यक्ति हैं जिसमें 13.67 लाख पुरूष एवं 11. 80 लाख स्त्रियां सम्मिलित हैं तथा जनघनत्व 762 व्यक्ति प्रतिवर्ग किलोमीटर है। जनपद मथुरा राजस्थान, हरियाणा राज्यों की सीमाओं को छूता है। यह हिन्दुओं के लिए पवित्र भूमि है।

प्राकृतिक दशायेंः

जनपद मथुरा का अधिकांश भाग मैदानी है। इसका ढाल उत्तर से दक्षिण को है जिसकी ढाल प्रवणता 30 से 35 सेन्टीमीटर प्रति वर्ग किलोमीटर है। गोवर्धन व फरह क्षेत्रों में औसतन 204 से 210 मीटर ऊँचा तथा नौहझील, माट, नन्दगांव, छाता व चौमुहा क्षेत्र में ऊँचाई 180 से 200 मीटर है। मांट तहसील के नौहझील, मांठ, राया व बल्देव विकासखण्डों में उच्च भूमि क्षेत्र फैला है, जबकि छाता, चौमुहां, मथुरा, फरह विकासखण्डों में 'यमुना खादर' फैला है। नन्दगाँव, छाता, चौमुहाँ, गोवर्धन, फरह विकासखण्डों के पश्चिमी भाग 'उच्च भूमि क्षेत्र' कहलाते हैं। जनपद का अधिकांश भाग 10 लाख वर्ष पूर्व निक्षेपित अवसादी शैलों से निर्मित है। माट तहसील का कुछ भाग बालुका युक्त चट्टानों से निर्मित है। यमुना एक मात्र बड़ी व सतत्वाहिनी नदी है, जो जनपद के मध्य में उत्तर से दक्षिण

को बहती है। जनपद मथुरा की जलवायु शुष्क मानसूनी है। यहाँ का वार्षिक औसत तापमान 28.5° डिग्री सेन्टीग्रेड है, जो ग्रीष्म काल में 45 से 48 डिग्री सेन्टीग्रेड तथा शीतकाल में 5 से 10 डिग्री सेन्टीग्रेड तक गिर जाता है। ग्रीष्म ऋतु उष्ण व शुष्क, 'लू' गर्म हवाओं युक्त तथा शीतकाल ठण्डा व शुष्क रहता है। वर्षा मध्य जून से मध्य सितम्बर तक होती है। यहाँ पर अर्द्ध मरुस्थलीय वनस्पति मिलती है जिसमें कीकर, बबूल, खजेंडा, रामबांस, नीम, शीशम आदि मिलते हैं। जनपद मथुरा के यमुना खादर क्षेत्र में अपेक्षाकृत उपजाऊ कांप मिट्टी मिलती है। जबकि नौहझील, छाता, नन्दगांव व गोवर्धन क्षेत्र में बालू युक्त मोटे कणों वाली कम उपजाऊ रेतीली मिट्टी मिलती है। जबकि यमुना के पश्चिमी क्षेत्र में उत्तर से दक्षिण गहरी भूरी मिट्टी का अभाव है। खनिज पदार्थों की दृष्टि से यह क्षेत्र शून्य है।

आर्थिक दशायें:

आर्थिक दृष्टि से जनपद मथुरा अधिक उन्नत नहीं है। कृषि, पशुपालन, कुटीर एवं लघु उद्योग, पर्यटन यहाँ के प्रमुख व्यवसाय हैं। जनपद मथुरा कृषि प्रधान क्षेत्र है। कुल भूमि के 78. 06 प्रतिशत भाग पर कृषि कार्य किया जाता है जिसमें से 49.90 प्रतिशत भाग दो फसली है। वास्तविक बोये गये क्षेत्र का 77.31 प्रतिशत भाग शुद्ध सिंचित तथा 96.70 प्रतिशत भाग एक से अधिक बार सिंचित है। जनपद मथुरा में निजी नलकूप व नहरें प्रमुख सिंचाई के साधन हैं जिसमें से 65 प्रतिशत भाग अकेले निजी नलकूपों द्वारा सींचा जाता है। गेहूं, चावल, बाजरा, तिलहन, आलू आदि यहाँ की प्रमुख फसलें हैं, जो क्रमशः 47.37, 13.33, 11.50, 13.35, 4.29 प्रतिशत भाग पर उगायी जाती हैं। 2022 की पशुगणना के अनुसार यहाँ पर पशुओं की कुल संख्या 8.93 लाख है, जिसमें से 64.55 प्रतिशत महिषवंशीय तथा 23.90 प्रतिशत गौवंशीय है। क्षेत्र में भेड़–बकरियों की संख्या 89 हजार है। इस प्रकार पशुपालन यहाँ का दूसरा प्रमुख व्यवसाय है। जनपद में पंजीकृत कारखानों की संख्या 251 है जिनमें 17819 श्रमिक कार्य करते हैं। मथुरा तेल शोधन शाला सबसे बड़ी औद्योगिक इकाई है। इसके अतिरिक्त लघु औद्योगिक इकाइयों की कुल संख्या 940 तथा ग्रामीण उद्योगों की संख्या 1650 है। क्षेत्रीय स्तर पर पक्की सड़कों की कुल लम्बाई 6689 किलोमीटर है जिसमें से राष्ट्रीय राजमार्ग की लम्बाई 130 किलोमीटर, प्रादेशिक मार्ग 129 किलोमीटर, मुख्य जिला सड़कें 754 किलोमीटर तथा 1784 किलोमीटर अन्य जिला सड़कें हैं। जनपद मथुरा में 222 राष्ट्रीयकृत बैंक, 16 क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक एवं 56 अन्य गैर–राष्ट्रीय बैंक शाखायें कार्यरत हैं।

भूमि उपयोग प्रतिरूपः

किसी क्षेत्र में भूमि उपयोग ऐतिहासिक घटनाओं, प्राकृतिक पर्यावरण के साथ आर्थिक शक्तियों की अन्तःक्रियाओं तथा समाज के मूल्यों के सम्मिश्रण का प्रतिफल होता है। जनपद मथुरा में सकल प्रतिवेदित क्षेत्रफल 333964 हेक्टेयर है, जिसमें वन, चारागाह, उद्यान, वृक्षों एवं झाँड़ियों का क्षेत्रफल 1.04 प्रतिशत, कृष्य बेकार एवं कृषि अयोग्य भूमि 1.29 प्रतिशत, परती भूमि 3.50 प्रतिशत, कृषि के अतिरिक्त अन्य उपयोग में लाई गई भूमि 16.06 प्रतिशत एवं कृषि के अन्तर्गत शुद्ध बोया गया क्षेत्रफल 78.06 प्रतिशत है। भूमि उपयोग के क्षेत्रीय विवरण को निम्नलिखित दर्शाया गया है।

1. वन, चारागाह, उद्यान, वृक्षों एवं झाड़ियों का क्षेत्रफलः

जनपद मथुरा में इस भूमि का क्षेत्रफल 3640 हेक्टेयर है, जिसमें वनों के अन्तर्गत भूमि 1834 हेक्टेयर, चारागाह 1127 हेक्टेयर एवं उद्यानों, वृक्षों एवं झाड़ियों का क्षेत्रफल 679 हेक्टेयर है। विकासखण्ड स्तर पर सर्वाधिक यह भूमि 606 हेक्टेयर मथुरा विकासखण्ड में है। जबकि इसके विपरीत सबसे कम इसका क्षेत्रफल 29 हेक्टेयर विकासखंड राया में है।

2. य बेकार एवं कृषि अयोग्य भूमिः

जनपद मथुरा में इसका क्षेत्रफल 4330 हेक्टेयर है, जिसमें कृष्य बेकार भूमि 930 हेक्टेयर एवं कृषि अयोग्य भूमि 3400 हेक्टेयर है। विकासखण्ड स्तर पर सर्वाधिक यह भूमि 717 हेक्टेयर फरह विकासखण्ड में है, जबकि इसके विपरीत सबसे कम इसका क्षेत्रफल 197 हेक्टेयर विकासखण्ड छाता एवं राया में है।

3. परती भूमिः

परती भूमि का क्षेत्रफल 11676 हेक्टेयर है, जिसमें वर्तमान परती 6122 हेक्टेयर एवं अन्य परती 5554 हेक्टेयर है। विकासखण्ड स्तर पर सर्वाधिक परती भूमि 1644 हेक्टेयर फरह विकासखण्ड में है। जबकि इसके विपरीत सबसे कम यह भूमि 834 हेक्टेयर विकासख्ण्ड राया में है।

4.कृषि के अतिरिक्त अन्य उपयोग में लाई गई भूमिः

जनपद मथुरा में इसका क्षेत्रफल 53625 हेक्टेयर है। विकासखण्ड स्तर पर सर्वाधिक इस भूमि का क्षेत्रफल 10643 हेक्टेयर मथुरा विकासखण्ड में है, जबकि इसके विपरीत सबसे कम इसका क्षेत्रफल 3215 हेक्टेयर विकासखण्ड राया में मिलता है।

कृषि के अन्तर्गत शुद्ध रूप से बोया गया क्षेत्रफलः

जनपद मथुरा में शुद्ध बोया गया क्षेत्रफल 260693 हेक्टेयर है। विकासखण्ड स्तर पर सर्वाधिक यह भूमि 32620 हेक्टेयर छाता विकासखण्ड में है। जबकि इसके विपरीत सबसे कम इस भूमि का

क्षेत्रफल 19930 हेक्टेयर विकासखण्ड राया के अन्तर्गत है। जैसा कि तालिका में दर्शाया गया है।

तालिका संख्या – 01

जनपद मथुरा में भूमि उपयोग का क्षेत्रीय वितरण, 2024–2025

क्र0 सं0	विकासखण्ड	सकल प्रतिवेदित क्षेत्रफल हेक्टेयर में	वन,चारागाह, उद्यानों, वृक्षों एवं झाड़ियों का क्षेत्रफल	कृष्य बेकार भूमि एवं कृषि अयोग्य भूमि	परती भूमि	कृषि के अतिरिक्त अन्य उपयोग में लाई गई भूमि	शुद्ध बोया गया क्षेत्र
1–	नन्दगांव	34955	606	394	1298	5497	27160
2–	छाता	40319	464	314	1155	5766	32620
3–	चौमुहां	31292	341	227	1153	3839	25732
4–	गोवर्धन	38020	472	562	1280	5458	30248
5–	मथुरा	39968	498	700	1245	10643	26882
6–	फरह	28482	460	717	1644	4449	21240
7–	नौहझील	36102	492	296	1033	5294	28987
8–	माट	28044	133	461	871	4653	21926
9–	राया	24205	29	197	834	3215	19930
10–	बलदेव	32577	173	462	1163	4811	25968
योग जनपद		333964	3640	4330	11676	53625	260963
प्रतिशत		100.00	1.09	1.29	3.50	16.06	78.06

स्रोतः जिला सांख्यिकीय पत्रिका, जनपद मथुरा, 2025

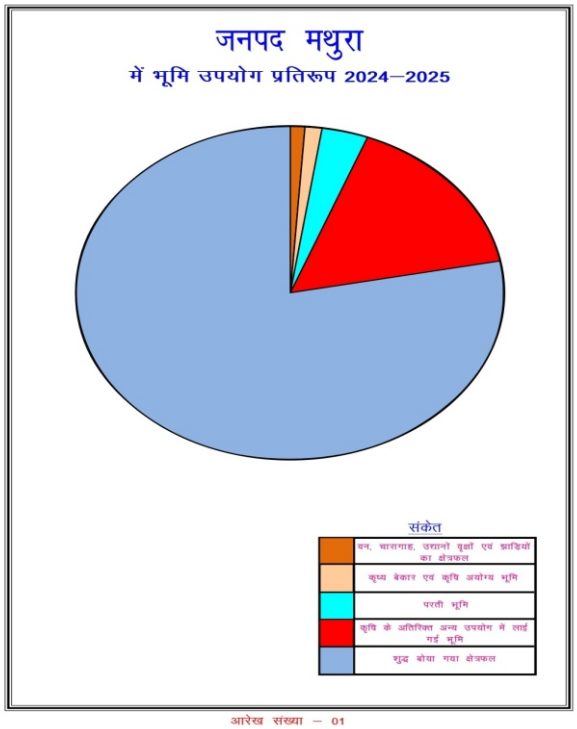

आरेख संख्या – 01

कृषि भूमि उपयोगः

कृषि भूमि उपयोग से तात्पर्य किसी क्षेत्र या देश में उपलब्ध कुल भूमि का कृषि और उससे जुड़े कार्यों के लिए किए जाने वाले नियोजन और प्रबंधन से है। जनपद मथुरा में दो फसली भूमि 49.90 प्रतिशत है। सकल बोया गया क्षेत्रफल 390796 हेक्टेयर है, जिसमें रबी की फसल के अन्तर्गत क्षेत्रफल 66.70 प्रतिशत, खरीफ की फसल के अन्तर्गत क्षेत्रफल 30.46 प्रतिशत एवं जायद की फसल के अन्तर्गत क्षेत्रफल 2.84 प्रतिशत है।

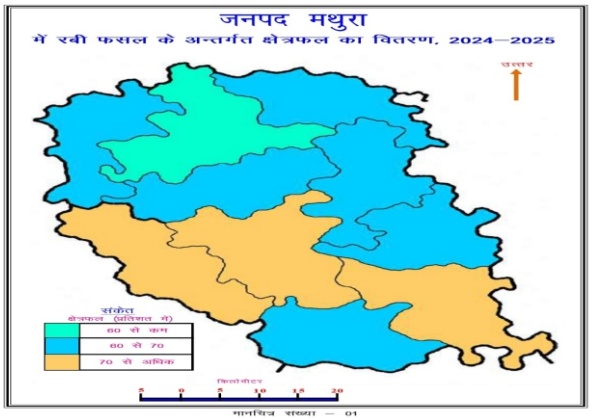

मानचित्र संख्या – 01

शस्य गहनता से अभिप्राय सामान्यतः किसी क्षेत्र में एक वर्ष के भीतर एक से अधिक फसलों के उत्पादन से है। वास्तव में शस्य गहनता सिंचाई के साधनों, उन्नत बीज प्रजातियों, उर्वरकों तथा कृषि यंत्रों की उपलब्धता पर निर्भर करती है। जनपद मथुरा में शस्य गहनता 150 प्रतिशत है। विकासखण्ड स्तर पर सर्वाधिक शस्य गहनता नन्दगांव विकासखण्ड में 171 प्रतिशत है। जबकि इसके विपरीत सबसे कम शस्य गहनता 140 प्रतिशत विकासखण्ड मथुरा में है। जैसा कि तालिका– में दर्शाया गया है।

तालिका संख्या – 02

जनपद मथुरा में कृशि भूमि उपयोग का वितरण, 2024–2025

क्र0 सं0	विकासखण्ड	दो फसली भूमि	रबी की फसल	खरीफ की फसल	जायद की फसल	सकल बोया गया क्षेत्रफल	भास्य गहनता प्रतिशत में
1–	नन्दगांव	71.37	60.08	36.58	3.34	46545	171
2–	छाता	62.41	59.40	37.60	3.00	52978	162
3–	चौमुहां	48.08	65.333	32.32	2.35	38104	148
4–	गोवर्धन	39.94	74.24	23.83	1.93	42331	139
5–	मथुरा	40.71	72.59	25.54	1.87	37827	140
6–	फरह	50.44	69.97	27.69	2.34	31954	150
7–	नौहझील	47.31	67.53	29.44	3.03	42702	147
8–	माट	44.96	67.54	28.71	3.75	31784	145
9–	राया	57.20	63.40	33.30	3.30	31330	157
10–	बलदेव	35.70	70.81	25.72	3.47	35241	135
योग जनपद		49.90	66.70	30.46	2.84	390796	150

स्रोतः जिला सांख्यिकीय पत्रिका, जनपद मथुरा, 2025

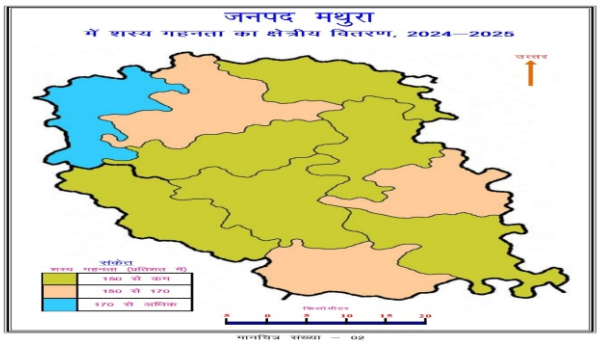

मानचित्र संख्या – 02

सिंचाईः

जनपद मथुरा जैसे कृशि प्रधान क्षेत्र में सिंचाई की

अत्यधिक आवश्यकता पड़ती है क्योंकि यहां मौसमी वर्शा होने के कारण वर्श भर मिट्टी में नमी संचित नही रह पाती है। यहां वर्शा की अनिश्चितता पायी जाती है तथा वर्शा का वितरण भी सर्वत्र एक समान नहीं होता है। इन परिस्थितियों में बिना सिंचाई किए फसलों का अच्छा उत्पादन प्राप्त कर पाना सम्भव नहीं होता है। कृशि कार्यो के लिए सिंचाई आवश्यक है।

जनपद मथुरा में सिंचाई साधनों में नहरों की लम्बाई 1312 किलोमीटर है। राजकीय नलकूप की संख्या 225 है। निजी नलकूप 6265 है। डीजल चालित पम्पिंग सैट्स की संख्या 55970 है। इसके अलावा अन्य साधनों की संख्या 3563 है। जैसा कि तालिका– में दर्शाया गया है।

तालिका संख्या – 03

जनपद मथुरा में सिंचाई साधनों का क्षेत्रीय वितरण, 2024–2025

क्र0 सं0	विकासखण्ड	नहर लम्बाई किलोमीटर में	राजकीय नलकूप	निजी नलकूप	डीजल चालित पम्पिंग सैट्स	अन्य साधन
1–	नन्दगांव	164	25	54	5231	172
2–	छाता	237	20	684	7495	200
3–	चौमुहां	140	22	623	5165	460
4–	गोवर्धन	112	28	259	5244	125
5–	मथुरा	112	30	908	7979	49
6–	फरह	154	19	200	6562	1110
7–	नौहझील	92	34	957	5618	681
8–	माट	109	16	415	3851	406
9–	राया	112	17	794	5702	336
10–	बलदेव	94	14	1371	3123	24
योग जनपद		1312	225	6265	55970	3563

स्रोतः जिला सांख्यिकीय पत्रिका, जनपद मथुरा, 2025

सिंचित क्षेत्रफलः

जनपद मथुरा में शुद्ध सिंचित क्षेत्रफल 201553 हेक्टेयर है, जो कृषि के अन्तर्गत शुद्ध रूप से बोए गए क्षेत्रफल का 77.31 प्रतिशत है। विकासखण्ड स्तर पर सर्वाधिक शुद्ध सिंचित क्षेत्रफल 24498 हेक्टेयर छाता विकासखण्ड में है, जो विकासखण्ड के शुद्ध बोए गए क्षेत्रफल का 75.10 प्रतिशत है। जबकि इसके विपरीत सबसे कम शुद्ध सिंचित क्षेत्रफल 15048 हेक्टेयर विकासखण्ड राया में है, जो विकासखण्ड के शुद्ध बोए गए क्षेत्रफल का 75.75 प्रतिशत है।

जनपद मथुरा में एक से अधिक बार सिंचित क्षेत्रफल 125817 हेक्टेयर है, जो एक से अधिक बार बोए गए क्षेत्रफल का 96.70 प्रतिशत है। विकासखण्ड स्तर पर सर्वाधिक ऐसी भूमि 24997 हेक्टेयर छाता विकासखण्ड में है, जो विकासखण्ड के शुद्ध बोए गए क्षेत्रफल का 74.95 प्रतिशत है। जबकि इसके विपरीत सबसे कम एक से अधिक बार सिंचित भूमि 9721 हेक्टेयर विकासखण्ड फरह में है, जो विकासखण्ड के एक से अधिक बार बोए गए क्षेत्रफल का 64.46 प्रतिशत है।

जनपद मथुरा में सकल सिंचित क्षेत्रफल 327370 हेक्टेयर है, जो सकल बोए गए क्षेत्रफल का 83.77 प्रतिशत है। विकासखण्ड स्तर पर सर्वाधिक सकल सिंचित क्षेत्रफल 29745 हेक्टेयर छाता विकासखण्ड में है, जो विकासखण्ड के सकल बोए गए क्षेत्रफल का 93.42 प्रतिशत है। जबकि इसके विपरीत सबसे कम सकल सिंचित क्षेत्रफल 23913 हेक्टेयर विकासखण्ड राया में है, जो विकासखण्ड के सकल बोए गए क्षेत्रफल का 76.36 प्रतिशत है। जैसा कि तालिका– में दर्शाया गया है।

तालिका संख्या – 04

जनपद मथुरा में सिंचित क्षेत्रफल का क्षेत्रीय वितरण, 2024–2025

क्र0 सं0	विकासखण्ड	शुद्ध सिंचित क्षेत्रफल		एक से अधिक बार सिंचित क्षेत्रफल		सकल सिंचित क्षेत्रफल	
		हेक्टेयर में	प्रतिशत	हेक्टेयर में	प्रतिशत	हेक्टेयर में	प्रतिशत
1–	नन्दगांव	19759	72.75	22360	95.90	42118	90.49
2–	छाता	24498	75.10	24997	94.95	49495	93.42
3–	चौमुहां	20481	79.59	13848	88.70	34329	90.09
4–	गोवर्धन	23428	77.45	10874	90.00	34302	81.03
5–	मथुरा	22481	83.63	7951	74.21	30432	80.45
6–	फरह	16944	79.77	7121	66.46	24065	75.31
7–	नौहझील	22620	78.03	12306	89.73	34926	81.80
8–	माट	16662	83.60	9784	99.24	26446	83.20
9–	राया	15098	75.75	8815	77.32	23913	76.36
10–	बलदेव	19582	75.40	7762	83.70	27344	77.59
योग जनपद		201553	77.31	125817	96.70	327370	83.77

स्रोतः जिला सांख्यिकीय पत्रिका, जनपद मथुरा, 2025।

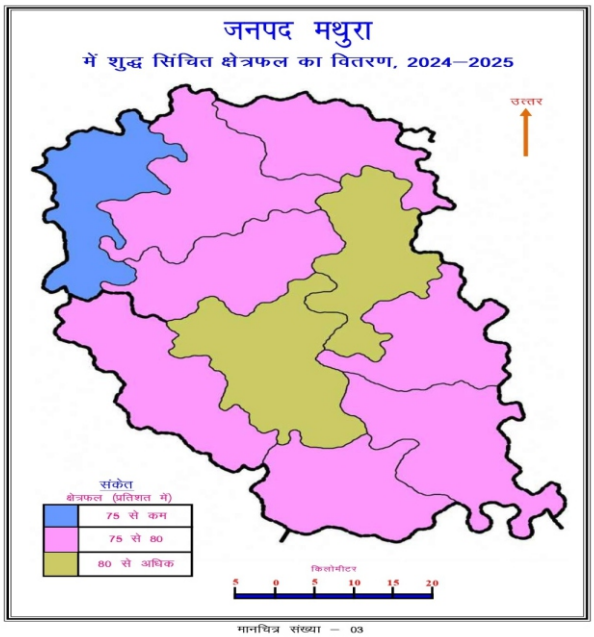

मानचित्र संख्या – 03

सिंचाई के विभिन्न साधनों द्वारा सिंचित क्षेत्रफलः

जनपद मथुरा में नहरों द्वारा सिंचित क्षेत्रफल 38298 हेक्टेयर है, जो शुद्ध सिंचित क्षेत्रफल का 28.52 प्रतिशत है। नलकूपों द्वारा सिंचित भूमि 30.84 प्रतिशत है, जिसका क्षेत्रफल 62176 हेक्टेयर है। डीजल चालित पम्पिंग सैट्स द्वारा सिंचित भूमि 79544 हेक्टेयर है, जो शुद्ध सिंचित क्षेत्रफल का 39.46 प्रतिशत है। अन्य प्रकार के साधनों द्वारा सिंचित क्षेत्रफल 1535

हेक्टेयर है, जो शुद्ध सिंचित क्षेत्रफल का 1.18 प्रतिशत है। जैसा कि तालिका में दर्शाया गया है।

तालिका संख्या – 05

जनपद मथुरा में सिचांई के विभिन्न साधनों द्वारा सिंचित क्षेत्रफल का विवरण, 2024–2025

क्र0 सं0	विकासखण्ड	सिंचित क्षेत्रफल हेक्टेयर में					सिचांई गहनता प्रतिशत में
		नहर	नलकूप	डीजल चालित पम्पिंग सैट्स	अन्य	कुल	
1–	नन्दगांव	8683	5090	5811	175	19759	195
2–	छाता	9150	6022	9136	190	24498	194
3–	चौमुहां	9343	4206	6727	205	20481	188
4–	गोवर्धन	3533	7224	12491	180	23428	190
5–	मथुरा	5660	8678	7983	160	22481	174
6–	फरह	4605	5258	6926	155	16944	166
7–	नौहझील	4633	8215	9632	140	22620	189
8–	माट	5772	4976	5804	110	16662	199
9–	राया	4924	4544	5510	120	15098	177
10–	बलदेव	1995	7963	9524	100	19582	183
योग जनपद		58298	62176	79544	1535	201553	196
प्रतिशत		28.52	30.84	39.46	1.18	100.00	–

स्रोतः जिला सांख्यिकीय पत्रिका, जनपद मथुरा, 2025।

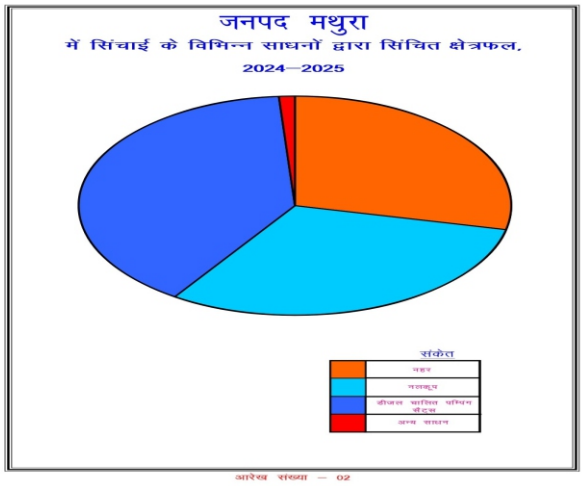

आरेख संख्या – 02

निष्कर्षः

जनपद मथुरा एक कृषि प्रधान क्षेत्र है। कृषि विकास में भूमि उपयोग का विशेष महत्व है। जनसंख्या वृद्धि तेजी से बढ़ने, शहरीकरण और औद्योगिक विकास के कारण भूमि पर दबाव लगातार बढ़ता जा रहा है। कृषि भूमि में बढ़ोतरी की संभावना कम दिखाई पड़ रही है। भूमि प्रयोग द्वारा कृषि विकास की विभिन्न अवस्थाएँ तथा सामाजिक व्यवस्थाएँ निर्धारित होती हैं।

खाद्यान्नों की बढ़ती मांग, विकासात्मक गतिविधियों और औद्योगिक उन्नति के कारण भूमि उपयोग के प्रतिरूप और प्रकार में निरंतर परिवर्तन देखा गया है। आज की आवश्यकता को देखते हुए नगरीय उपयोग, औद्योगिक उपयोग, परिवहन एवं संचार उपयोग, अनुपयुक्त भूमि, मृदा अपरदन, मरुस्थलीकरण तथा बाढ़ एवं सूखा प्रभावित भूमि आदि नए वर्गों को बनाने की आवश्यकता है।

भूमि सुधारों के उचित कार्यान्वयन की जरूरत है। भूमि का स्वामित्व वास्तविक काश्तकार को मिल सके। परती भूमि में कमी कर कृषि फसलों की बुवाई की जानी चाहिए। ऊसर, बंजर एवं अनुपयोगी भूमि में पौधारोपण के साधनों का प्रयोग कर कृषि कार्य में परिवर्तन लाया जाना आवश्यक है।

खाली एवं बेकार पड़ी भूमि पर वृक्षारोपण किया जाना चाहिए। क्षेत्रीय स्तर पर कृषि भूमि के क्षेत्रफल में वृद्धि की जानी चाहिए। मृदा में पोषक तत्वों की वृद्धि हेतु पर्याप्त खादों का प्रयोग किया जाना आवश्यक है। सामूहिक कृषि भूमि के प्रयोग को बढ़ावा दिया जा सकता है। मृदा संरक्षण एवं मेड़बंदी का प्रयोग किया जाना चाहिए। उपयुक्त स्थानों पर जल संचय कर भूमि कटाव को रोका जा सकता है।

भूमि विकास के लिए विभिन्न योजनाएँ लागू करने के साथ ही किसानों की आर्थिक स्थिति में सुधार के लिए विभिन्न योजनाओं का क्रियान्वयन किया जा सकता है। नवीन कृषि तकनीकी का प्रयोग कर यहाँ के कृषकों को विशेष सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिए। ऊसर बंजर भूमि का उपयोग कर जहाँ एक ओर खाद्यान्न में बढ़ोतरी तथा उपयोगों का विस्तार होगा, वहीं पर मथुरा के सामाजिक–आर्थिक विकास में तेजी से बढ़ोतरी संभव हो सकेगी।

सन्दर्भ

1.स्टाम्प, एल. डी., 1958:मेजरमेन्ट ऑफ लैण्ड रिर्सोस, दि ज्योग्राफीकल रिव्यू वाल्यूम –48 पृष्ठ–90

2.शफी, एम. 1960:लैण्ड यूटिलाइजेशन इन ईस्टर्न उत्तर–प्रदेश ए.एम.यू. अलीगढ़ पृष्ठ–90

3.सिंह, वी0 आर0, 1970:लैण्ड यूज पैटर्न इन मिर्जापुर एण्ड इन्वायर्स वाराणसी पृष्ठ–110

4.सिंह बी0एन0 1984:उत्तर–प्रदेश की देवरिया तहसील में कृषि भूमि उपयोग अप्रकाशित डी.फिल शोध–प्रबन्ध इलाहाबाद विश्वविद्यालय पृष्ठ–175

5.शर्मा, बी0एल0 1988:कृशि भूगोल, साहित्य भवन आगरा पृष्ठ–296

6.चौहान, पी. आर. एवं प्रसाद महानतम, 2004:भारत का बृहत भूगोल, वसुंधरा प्रकाशन, गोरखपुर, पृष्ठ – 221

7.गौतम, अलका, 2009:कृषि भूगोल, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, पृष्ठ – 117

8.तिवारी, आर. सी. एवं सिंह, बी. रन. 2010:कृषि भूगोल, प्रयाग पुस्तक भवन, इलाहाबाद, पृष्ठ – 98

9.शर्मा, बी0 एल0 एवं भारद्वाज पलक 2023:कृषि भूगोल

रस्तोगी पब्लिकेशन्स मेरठ पृष्ठ–66
10.जिला सामाजिक आर्थिक विकास पुस्तिका जनपद मथुरा 2025 ।

डॉ0 अनिल कुमार
असिस्टेण्ट प्रोफेसर भूगोल विभाग
श्री देवी सिंह इंस्टीट्यूट डिग्री कॉलिज
गजास्थल अमरोहा . 244251
Email-anilaman27811983@gmail.com
Ph -9927508574

18

21वी सदी की कहानियों में वैचारिक दशा एवं दिशा

डॉ. शकुंतला, एकता यादव

सारांश–

इक्कीसवीं सदी का समय सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक बदलावों का समय हैं। भूमंडलीकरण, बाजारवाद, उपभोक्तावाद और तकनीकी विकास ने मनुष्य के जीवन, सोचने के तरीके और सामाजिक संबंधों को प्रभावित किया है। समकालीन हिंदी कहानियों में तकनीक और डिजिटल जीवन, अकेलापन और भावनात्मक अलगाव, मानवीय संबंधों का विघटन, सोशल मीडिया, भूमंडलीकरण, शहरीकरण, आर्थिक असुरक्षा और बेरोजगारी, विस्थापन, उपभोक्तावाद, प्रतिस्पर्धा और तनाव जैसे प्रश्न अभिव्यक्त हुए हैं।

प्रस्तुत शोध पत्र में कैलाश बनवासी की 'बाजार में रामधन',आकांक्षा पारे काशिव की कहानी 'लेफ्ट ओवर', गौरव सोलंकी की कहानी 'ग्यारहवी ए के लड़के' , दिव्य प्रकाश दुबे द्वारा रचित ' They lived happily ever after' और मानव कौल की रचना 'गुणा– भाग' के आधार पर 'वैचारिक दशा' और 'वैचारिक दिशा' का अध्ययन किया गया है। चयनित कहानियों के कथ्य, पात्रों, घटनाओं, संवादों और परिस्थितियों को आधार बनाते हुए उनमें व्यक्त सामाजिक यथार्थ और वैचारिक चेतना का विश्लेषण किया गया है ।

इस प्रकार इक्कीसवी सदी की हिंदी कहानी की वैचारिक दशा को उसके समय के सामाजिक अंतर्विरोधों, बदलते जीवन मूल्यों और नए अनुभवों के सन्दर्भ में समझा जा सकता हैं जबकि उसकी वैचारिक दिशा मनुष्य की अस्मिता, स्वतंत्रता, समानता, प्रतिरोध और मानवीय संवेदना की ओर जाती हुई दिखाई देती है।

बीज शब्द– वैचारिक दशा, वैचारिक दिशा, भूमंडलीकरण, बाजारवाद, अस्मिता, मानवीय संवेदना।

प्रस्तावना –

साहित्य अपने समय ओर समाज की बदलती परिस्थितियों, मान्यताओं तथा विचारों का सर्जनात्मक अभिव्यक्त रूप है। हिन्दी कहानी अपने समय के यथार्थ को समझने का एक महत्वपूर्ण माध्यम है। इक्कीसवीं सदी में भूमंडलीकरण, बाजारवाद,तकनीकी विकास और बदलती सामाजिक संरचनाओं ने मनुष्य के जीवन को प्रभावित किया है। आर्थिक प्रतिस्पर्धा, व्यक्तिवाद, अकेलापन, पारिवारिक विघटन और मानवीय संबंधों का बदलता स्वरूप समकालीन जीवन की प्रमुख चुनौतियाँ बनकर उभरी हैं। हिन्दी कहानी इन परिस्थितियों को केवल प्रस्तुत नहीं करती बल्कि उनके कारणों, प्रभावों और अंतर्विरोधों पर भी विचार करती हैं।

इस शोध पत्र में इक्कीसवीं सदी की चयनित हिन्दी कहानियों के माध्यम से 'वैचारिक दशा' और 'वैचारिक दिशा' को समझने का प्रयास किया गया है। वैचारिक दशा से आशय किसी विशेष समय और समाज में मौजूद विचारों ,परिस्थितियों, समस्याओं, अंतर्विरोधों और सामाजिक चेतना की वर्तमान स्थिति से है अर्थात् किसी समय में मनुष्य और समाज किन परिस्थितियों से गुजर रहे हैं और कौन से विचार उनके जीवन को प्रभावित कर रहे हैं। इस अर्थ में वैचारिक दशा वर्तमान का बोध कराती है। इसके विपरीत वैचारिक दिशा केवल वर्तमान स्थिति का चित्रण नहीं है बल्कि उस स्थिति में पैदा होने वाली सोच, प्रश्नाकुलता, चेतना, प्रतिरोध और परिवर्तन की संभावना से जुड़ीं हुई है। कोई रचना जिस समस्या को सामने लाती है,उसके प्रति किस प्रकार का दृष्टिकोण विकसित करती है और पाठक को किस तरह सोचने के लिए प्रेरित करती है,उससे उसकी वैचारिक दिशा का पता चलता है।

वैचारिक दशा – स्थिति समस्या – प्रश्न संघर्ष – वैचारिक दिशा

भूमंडलीकरण और बाजारवाद

कैलाश बनवासी की कहानी 'बाजार में रामधन' में भूमंडलीकरण और बाजारवाद के प्रभाव से ग्रामीण जीवन मूल्यों ,पारिवारिक संबंधो और कृषि आधारित जीवन दृष्टि में आ रहे परिवर्तन को रेखांकित किया गया है।रामधन अपने बैलों को नहीं बेचना चाहता, क्योंकि उसके लिए बैल केवल आर्थिक संपति नहीं बल्कि उसके जीवन और खेती से जुड़े आत्मीय साथी हैं।जबकि उसका भाई मुन्ना बैलों को बेचकर व्यापार शुरू करना चाहता है। इसी मानसिक द्वंद्व को कहानी में रामधन के बैलों के प्रति लगाव को देखा जा सकता है –

"रामधन ने बैलों की पीठ पर हाथ फेरा, तो उसकी उंगलियाँ काँप उठी। ये सिर्फ बैल नही थे उसके सुख – दुःख के साथी थे।"1

इस प्रसंग में एक और रामधन की कृषि आधारित संवेदनशील जीवन दृष्टि है तो दूसरी और मुन्ना की बाजारोन्मुख सोच है। मुन्ना का यह कथन –

" क्या रखा है इस मट्टी–गोबर में? बैलों को बेचो जो पैसा आए उससे कोई धंधा डालो या शहर की राह पकड़ो। दुनिया कहाँ से कहाँ पहोच गई और तुम यही सड़ रहे हो। "2

नई ग्रामीण पीढ़ी कि बदलती वैचारिक चेतना को स्पष्ट करता है। मुन्ना के लिए खेती, मिट्टी और बैल पिछड़ेपन के प्रतीक हैं, जबकि व्यापार, पैसा, और शहर आधुनिकता के प्रतीक बन चुके है। कहानी कि वैचारिक दशा परंपरागत कृषि जीवन और बजारोन्मुख

सोच के द्वन्द्व के रूप में सामने आती है। वहीं इसकी वैचारिक दिशा उस स्थिति कि ओर संकेत करती है जहाँ आत्मीयता और उपयोगिता के बीच संघर्ष बढ़ रहा है तथा वस्तुओं और संबंधों को आर्थिक लाभ कि दृष्टि से देखने कि प्रवृति विकसित हों रही है।

अकेलापन

अकेलापन आकांक्षा पारे काशिव कि कहानी 'लेफ्ट ओवर' में समकालीन व्यक्ति का अकेलापन,आर्थिक स्थिति सामाजिक अपेक्षाओं और जीवन के निर्णयों से जुड़ा हुआ है।कहानी का पुरुष पात्र विवाह योग्य होने के बावजूद अकेला रह जाता है।उसके भीतर दया, संवेदनशीलता और आत्मीयता जैसे मानवीय गुण है, लेकिन समाज में उसकी आर्थिक स्थिति अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। इस स्थिति को कहानीकार ने इस प्रकार व्यक्त किया है–

"लेकिन उसे अब तक कोई खरीददार नहीं मिल था जबकि उसकी मूलमियत अब तक बरकरार थी। उसका दिल साफ था,वह दयालु था। लेकिन शादी के बाजार में लड़के के दयालु होने से कोई फरक नहीं पड़ताद्य उसे कमाने वाला होना चाहिए।"3

यहाँ 'खरीददार' और 'शादी के बाजार' जैसे विवाह संबंधों में आर्थिक अपेक्षाओं की ओर संकेत करते हैं।पात्र कि आर्थिक स्थिति उसके अकेलेपन का कारण बनती है।कहानी में उसका अकेलापन और सामाजिक अस्वीकार इस प्रसंग में और अधिक स्पष्ट होता है–

"वह अकेला कुआँरा बच गया। गुरुवार को जब भी वह अलमारी मे सस्ते बिकते मफिंस देखता तो उसे लगता की वह उन छोटे–छोटे मफिंस, केक और पेस्ट्री से भी बदतर है। सख्त हो गए, बासी केक लोग खरीद सकते हैं, लेकिन बिना पैसों वाले जीते– जागते लड़के को नहीं अपना सकते।"4

इस अंश में पात्र स्वयं की तुलना बासी केक और पेस्ट्री से करता है। यह तुलना उसके भीतर पैदा हुई हीनता, उपेक्षा और अकेलेपन को गहराई से व्यक्त करती है। वह अनुभव करता है कि आर्थिक रूप से कमजोर होने के कारण समाज उसे स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है।

कहानी में उसके अकेलेपन का एक दूसरा पक्ष उसकी निर्णयहीनता और बीते हुए समय से जुड़ा है।

" जैसे पिछले बीस सालों से वह एक निर्णय लेने के बारे में बस सोच ही रहा है। अब उसे लगने लगा है कि उसने अपने जीवन के कीमती साल दूसरों की सलाह सुनने और कुछ ज्यादा ही सोचने में बिता दिए।"5

वह अपने जीवन के निर्णय को लेकर लगातार सोचता रहा है और इस प्रक्रिया में उसके जीवन का एक बड़ा हिस्सा बीत गया। इस कारण उसका अकेलापन और अधिक गहरा दिखाई देता है।

कहानी की वैचारिक दशा में समकालीन व्यक्ति का अकेलापन, आर्थिक अभाव, विवाह संबंधी सामाजिक अपेक्षाएँ और निर्णयहीनता प्रमुख रूप से सामने आती हैं। वहीं इसकी वैचारिक दिशा व्यक्ति को उसकी आर्थिक क्षमता के आधार पर नहीं, बल्कि उसके मानवीय गुणों और संवेदनशीलता के आधार पर देखने की आवश्यकता की और संकेत करती है।

तकनीक, सोशल मीडिया और आभासी यथार्थ

गौरव सोलंकी की कहानी 'ग्यारहवी ए के लड़के' के लड़के' में तकनीक, विशेषकर मोबाईल फोन और संचार के माध्यम केवल संवाद का साधन नहीं रह जाते, बल्कि वे संबंधों के निर्माण, उनकी कल्पना और उनके बाजारीकरण का माध्यम बन जाते हैं। कहानी में रानी को लेकर 'ग्यारहवी ए के लड़के' के लड़को की टिप्पणीयां बताती है कि किसी व्यक्ति की वास्तविक पहचान से अलग उसकी एक कल्पित छवि भी निर्मित हो सकती है।

"ग्यारहवीं 'ए' के लड़के किसी भी उम्र की औरत को मसलने के पैमाने पर जाँचते थे। रानी निरूसंदेह 10 नंबर वाली थी।"6

कहानी में यही निर्मित छवि आगे चलकर तकनीक और बाजार से जुड़ जाती है। कथाकार बताता है–

"एक बैंक अकाउंट खोला और दो मोबाइल फोन खरीदे। मै और शायना बिजनेस के मालिक थे और रानी हमारी कर्मचारी।"

इसके बाद अखबार के विज्ञापन के माध्यम से फोन पर बातचीत की व्यवस्था की जाती है–

"अखबार के विज्ञापन में हम मेरा नंबर देते थे। फिर जो फोन पर लड़की से बाते करना चाहता था, उसे हमारे खाते में डेढ़ हजार रुपये जमा करवाने होते थे। पैसे जमा होने पर मैं उसे रानी का नंबर देता था।"7

यहाँ मोबाईल फोन मानवीय आकर्षण और संबंध को व्यावसायिक वस्तु में बदलने का माध्यम बन जाता है। वास्तविक व्यक्ति और उसके बारे में निर्मित कल्पना के बीच तकनीक एक मध्यस्थ की भूमिका निभाती है। यह स्थिति आज के सोशल मीडिया युग से भी जुड़ती है,जहाँ व्यक्ति की वास्तविक पहचान के साथ एक आभासी छवि भी निर्मित होती है। कहानी में मोबाईल, फोन नंबर, विज्ञापन के जरिए बनने वाले संबंध आज के आभासी संचार की पूर्वभूमि की तरह दिखाई देते हैं। आधुनिक तकनीक ने

संबंधों को प्रत्यक्ष अनुभव से हटकर माध्यम–निर्भर और आंशिक रूप से आभासी बना दिया है।

कहानी यह संकेत करती है कि तकनीक स्वयं समस्या नहीं है, बल्कि उसके माध्यम से जब मनुष्य की भावनाओं, आकर्षण और संबंधों का वस्तुकरण और बाजारीकरण होने लगता है, तब वास्तविक और आभासी यथार्थ के बीच का अंतर जटिल हो जाता है।

पारिवारिक विघटन और संबंधों का बदलता स्वरूप

दिव्य प्रकाश दुबे द्वारा रचित 'They lived happily ever after' कहानी में अभिषेक और प्रीति के वैवाहिक जीवन के माध्यम से आधुनिक दांपत्य संबंधों में उत्पन्न इसी तनाव और विघटन को प्रस्तुत किया गया है। प्रेम विवाह के बाद दोनों के बीच मतभेद बढ़ने लगते हैं। अभिषेक अपने करियर को प्राथमिकता देता है, जबकि प्रीति अपने जीवन और मातृत्व से जुड़े निर्णयों को महत्व देती है। इन मतभेदों के कारण दोनों के बीच संवाद कम होता जाता है और अंततः उनका संबंध तलाक तक पहुँच जाता है। कहानी में दोनों के बीच बढ़ती दूरी को इस प्रकार व्यक्त किया गया है –

"दोनों में बात करीब–करीब बंद हो चुकी थी... divorce की नौबत कब आ गई, पता ही नहीं चला।"8

तलाक की स्थिति तक पहुँचने के बाद भी दोनों भावनात्मक रूप से पूरी तरह अलग नही हो पाते।प्रीति और उसके बच्चे की मृत्यु अभिषेक के जीवन को पूरी तरह बदल देती है तथा उसके मानसिक संतुलन पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

इस प्रकार कहानी में परिवार का विघटन केवल पति–पत्नी के अलग होने तक सीमित नहीं है, बल्कि यह प्रेम, विश्वास, मातृत्व और व्यक्ति के मानसिक जीवन को भी प्रभावित करता है।

कहानी की वैचारिक दशा में बढ़ती व्यक्तिगत आकांक्षाओं, करियर, मतभेद और संवादहीनता के कारण उत्पन्न पारिवारिक विघटन के रूप में है। इसकी वैचारिक दिशा बदलते पारिवारिक संबंधों में स्वतंत्रता के साथ–साथ आपसी संवाद, समझ, विश्वास और भावनात्मक जुड़ाव भी आवश्यक हैं।

महानगरीय बोध

मानव कौल की कहानी 'गुणा–भाग' में शिव और वंदना के संबंधों के माध्यम से महानगरीय जीवन के अकेलेपन और संबंधों के संकट को सामने रखा गया है।नायक अपने घर और निजी जीवन को व्यवस्थित करने में लगा है, लेकिन भीतर से बीते संबंधों और अकेलेपन से जूझ रहा है। वंदना के आने से पहले उसका बार–बार घर को व्यवस्थित करना उसके अकेलेपन और अपने छोटे से संसार को संभालने की कोशिश को दिखाता है। शहर का जीवन व्यक्ति को अपने लिए अलग संसार बनाने की स्वतंत्रता तो देता है, लेकिन उसी के साथ अकेलापन और संबंधों की अस्थिरता भी दिखाई देती है। शिव और वंदना का संबंध प्रेम से शुरू होकर अलग रहने की स्थिति तक पहुचता है। वंदना का कथन–

"शिव, मै अब अलग रहना चाहती हूँ।"9

बदलते शहरी संबंधों में व्यक्तिगत स्वतंत्रता और अपने लिए अलग जीवन चुनने की प्रवृति को सामने लाता है। दोनों के बीच एक साथ रहते हुए भी एक–दूसरे से भावनात्मक दूरी बढ़ती जाती है। इस कहानी की वैचारिक दशा महानगरीय जीवन में बढ़ते अकेलेपन, निजी स्वतंत्रता और संबंधों में आती दूरी के रूप में सामने आती है। वहीं इसकी वैचारिक दिशा बताती है कि घर,करियर और स्वतंत्र जीवन की इच्छा के साथ भावनात्मक संबंधों को बनाए रखना भी चुनोती है।

निष्कर्ष

अतः कहा जा सकता है कि इक्कीसवीं सदी की हिन्दी कहानी सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और तकनीकी परिवर्तनों को संवेदनशीलता के साथ अभिव्यक्त करती है।इस दौर में भूमंडलीकरण, बाजारवाद, तकनीकी विकास, बदलती पारिवारिक संरचना, अकेलापन और महानगरीय जीवन जैसी स्थितियों ने व्यक्ति और समाज की सोच को प्रभावित किया है। इन परिवर्तनों से जीवन–मूल्यों, संबंधों और सामाजिक व्यवहार में भी बदलाव आया है। समकालीन हिन्दी कहानी इन बदलावों को केवल घटनाओं के रूप में प्रस्तुत नहीं करती,बल्कि उनके पीछे मौजूद सामाजिक अंतर्विरोधों और मानवीय समस्याओं को भी सामने लाती है।

संदर्भ सूची

1. बनवासी,कैलाश। 'बाजार में रामधन'। हिंदी समय। https://www-hindisamay-com/contentDetail-aspÛ\id¾10197&pageno=1
2. बनवासी,कैलाश। 'बाजार में रामधन'। हिंदी समय। https://www-hindisamay-com/content Detail-aspÛ\id¾10197&pageno=1
3.काशिव,आकांक्षा पारे।'लेफ्ट ओवर', पिघली हुई लड़की। राजपाल एंड संस, प्रथम संस्करण, 2020, पृ.76
4.वहीं, पृ76
5.वहीं, पृ.74
6.सोलंकी, गौरव। 'ग्यारहवी ए के लड़के'। दरियागंजः राजकमल प्रकाशन, पांचवा संस्करण, जनवरी 2020, पृ. 134

7.वहीं140
8.दुबे, दिव्य प्रकाश।'They lived happily ever after,शर्तें लागू।नोएडाः हिन्द युग्म, नौवां संस्करण, जनवरी 2026, पृ.19।
9.कौल,मानव। 'गुणा–भाग',ठीक तुम्हारे पीछे। नोएडाः हिन्द युग्म, सोलहवाँ संस्करण, दिसंबर 2025, पृ.57।

डॉ0 शकुंतला
सहायक आचार्य ,हिंदी विभाग
इंदिरा गांधी विश्वविद्यालय,
मीरपुर (रेवाड़ी)122502
7015950298
एकता यादव
शोधार्थी, हिंदी विभाग
इंदिरा गांधी विश्वविद्यालय, मीरपुर (रेवाड़ी)

19

जनपद मथुरा में पर्यावरण, स्वास्थ्य एवं पोषण के क्षेत्रीय आयाम

डॉ0 अनिल कुमार

सारांशः

वास्तव में स्वास्थ्य भूगोल स्वास्थ्य और बीमारियों का बहुआयामी ज्ञानलोक है जो विविध ढंगों से बीमारियों की क्षेत्रीयता को विश्लेषित करता है। जनपद मथुरा 27° 14′ से 27° 58′ उत्तरी अक्षांश एवं 77° 17′ से 77° 48′ पूर्वी देशान्तर के मध्य स्थित है तथा क्षेत्रफल 3340 वर्ग किलोमीटर है। कृष्ण जन्म भूमि होने के कारण विश्व प्रसिद्ध है। कुल जनसंख्या 25.47 लाख व्यक्ति हैं। कुल कृषि भूमि 260.6 हजार हेक्टेयर है। गेहूँ की फसल 185.1 हजार हेक्टेयर, चावल 52 हजार हेक्टेयर एवं तिलहन 52 हजार हेक्टेयर भाग पर उगाई जाती है। मनुष्य का मुख्य आहार अनाज है। दालें नाइट्रोजन युक्त होती है। कुपोषण से उत्पन्न रोग हीनताजन्य है। जनपद मथुरा में हीनताजन्य रोगों की संख्या 85670 है। स्वास्थ्य सुविधाएं यहाँ पर पर्याप्त हैं। अच्छा स्वास्थ्य रखने के लिए उचित पोषण परमावश्यक है। सरकारी स्तर से स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यक्रमों का आयोजन कर व्यक्तियों को जागरूक किया जाना चाहिए।

प्रस्तावनाः

स्वास्थ्य भूगोल मानव भूगोल की एक नवीनतम शाखा है। मानव भूगोल पर्यावरण और मानव के अन्तर्सम्बन्धों की व्याख्या करता है। जबकि स्वास्थ्य भूगोल मनुष्य के स्वास्थ्य और पर्यावरण के सम्बन्धों का अध्ययन है। वास्तव में स्वास्थ्य भूगोल स्वास्थ्य और बीमारियों का बहुआयामी ज्ञानलोक है जो विविध ढंगो से बीमारियों की क्षेत्रीयता को विश्लेषित करता है। पोषण उन समस्त प्रक्रियाओं का संगठन है जिनके द्वारा जीवित प्राणी अपनी क्रियाशीलता को बनाये रखने के लिए अपने अंगों की वृद्धि एवं उनके पुनर्निर्माण हेतु आवश्यक पदार्थों को प्राप्त करता है। मानव को स्वस्थ रहने के लिए पर्याप्त एवं उचित मात्रा में आहार होना आवश्यक होता है। पोषण से स्वास्थ्य में वृद्धि और विकास, विशिष्ट प्रकार की कमी से छुटकारा, संक्रमण का प्रतिरोध एवं मृत्युदर एवं रूग्णता दर में कमी आती है। अतः कुपोषण से बचने के लिए भोजन में पोषण तत्वों की उपस्थिति आवश्यक है। पोषक तत्व हमें कार्यशीलता एवं क्षमता प्रदान करते हैं जिससे शरीर की रक्षा पंक्ति सुदृढ़ बनाती है तथा शरीर निरोग या रोग रहित रहता है। आज के समय में कुपोषण और अल्पपोषण विश्व की सबसे बड़ी स्वास्थ्य समस्यायें हैं। उचित पोषण, मानव कल्याण की कुंजी है।

अध्ययन क्षेत्रः

प्रस्तुत शोध–पत्र का अध्ययन क्षेत्र 'जनपद मथुरा' है, जो 'आगरा मण्डल' का महत्वपूर्ण भाग है। यह जनपद उत्तर प्रदेश की 'ब्रज भूमि' में फैला है जिसके मध्य में उत्तर से दक्षिण को 'यमुना नदी' बहती है। यह नदी अत्यधिक प्रदूषित होते हुए भी क्षेत्र के लिए अति महत्वपूर्ण है। आगरा मण्डल के उत्तर–पश्चिम में फैले जनपद मथुरा का अक्षांशीय विस्तार 27° 14′ से 27° 58′ उत्तरी अक्षांश तथा देशान्तरीय विस्तर 77° 17′ से 77° 48′ पूर्वी देशान्तर के मध्य है। इसका कुल क्षेत्रफल 3340 वर्ग किलोमीटर है। छाता, मथुरा, मांट, महावन चार तहसीलों तथा नन्दगाँव, छाता, चौमुहाँ, गोवर्धन, मथुरा, फरह, नौहझील, मांट, राया व बलदेव 10 विकासखण्डों में विभाजित यह क्षेत्र ऐतिहासिक, पौराणिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं राजनीतिक दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है। मथुरा, कोसीकला, वृन्दावन, मथुरा कैण्ट, छाता, गोवर्धन, राया, चौमुहाँ, नन्दगाँव एवं बरसाना, बल्देव, साख, महावन, फरह, राधाकुण्ड, बाजना, गोकुल, औरंगाबाद नगरीय केन्द्रों तथा 736 आबाद ग्रामों से युक्त जनपद मथुरा 'कृष्ण जन्म भूमि' तथा उसकी बाल व रासलीलाओं से विश्व प्रसिद्ध है। कुल जनसंख्या 25.47 लाख व्यक्ति हैं जिसमें 13.67 लाख पुरूष एवं 11. 80 लाख स्त्रियां सम्मिलित हैं तथा जनघनत्व 762 व्यक्ति प्रतिवर्ग किलोमीटर है। जनपद मथुरा राजस्थान, हरियाणा राज्यों की सीमाओं को छूता है। यह हिन्दुओं के लिए पवित्र भूमि है।

प्राकृतिक स्वरूपः

जनपद मथुरा का अधिकांश भाग मैदानी है। इसका ढाल उत्तर से दक्षिण को है जिसकी ढाल प्रवणता 30 से 35 सेन्टीमीटर प्रति वर्ग किलोमीटर है। गोवर्धन व फरह क्षेत्रों में औसतन 204 से 210 मीटर ऊँचा तथा नौहझील, माट, नन्दगांव, छाता व चौमुहा क्षेत्र में ऊँचाई 180 से 200 मीटर है। मांट तहसील के नौहझील, मांठ, राया व बल्देव विकासखण्डों में उच्च भूमि क्षेत्र फैला है, जबकि छाता, चौमुहां, मथुरा, फरह विकासखण्डों में 'यमुना खादर' फैला है। नन्दगाँव, छाता, चौमुहाँ, गोवर्धन, फरह विकासखण्डों के पश्चिमी भाग 'उच्च भूमि क्षेत्र' कहलाते हैं। जनपद का अधिकांश भाग 10 लाख वर्ष पूर्व निक्षेपित अवसादी शैलों से निर्मित है। माट तहसील का कुछ भाग बालुका युक्त चट्टानों से निर्मित है। यमुना एकमात्र बड़ी व सततवाहिनी नदी है, जो जनपद के मध्य में उत्तर से दक्षिण को बहती है। जनपद मथुरा की जलवायु शुष्क मानसूनी है। यहाँ का वार्षिक औसत तापमान 28.5° डिग्री सेन्टीग्रेड है, जो ग्रीष्म काल में 45 से 48 डिग्री सेन्टीग्रेड तथा शीतकाल में 5 से 10 डिग्री सेन्टीग्रेड तक गिर जाता है। ग्रीष्म ऋतु उष्ण व शुष्क, 'लू' गर्म हवाओं युक्त तथा शीतकाल ठण्डा व शुष्क रहता है। वर्षा मध्य जून से मध्य सितम्बर तक होती है। यहाँ पर अर्द्ध मरुस्थलीय वनस्पति मिलती है

जिसमें कीकर, बबूल, खजेंडा, रामबांस, नीम, शीशम आदि मिलते हैं। जनपद मथुरा में यमुना खादर क्षेत्र में अपेक्षाकृत उपजाऊ कांप मिट्टी मिलती है। जबकि नौहझील, छाता, नन्दगांव व गोवर्धन क्षेत्र में बालू युक्त मोटे कणों वाली कम उपजाऊ रेतीली मिट्टी मिलती है। जबकि यमुना के पश्चिमी क्षेत्र में उत्तर से दक्षिण गहरी भूरी मिट्टी का अभाव है। खनिज पदार्थों की दृष्टि से यह क्षेत्र शून्य है।

आर्थिक स्वरूपः

आर्थिक दृष्टि से जनपद मथुरा अधिक उन्नत नहीं है। कृषि, पशुपालन, कुटीर एवं लघु उद्योग, पर्यटन यहाँ के प्रमुख व्यवसाय हैं। जनपद मथुरा कृषि प्रधान क्षेत्र है। कुल भूमि के 78.06 प्रतिशत भाग पर कृषि कार्य किया जाता है जिसमें से 41.90 प्रतिशत भाग दो फसली है। वास्तविक बोये गये क्षेत्र का 77.31 प्रतिशत भाग शुद्ध सिंचित तथा 96.70 प्रतिशत भाग एक से अधिक बार सिंचित है। जनपद मथुरा में निजी नलकूप व नहरें प्रमुख सिंचाई के साधन हैं जिसमें से 65 प्रतिशत भाग अकेले निजी नलकूपों द्वारा सींचा जाता है। गेहूं, चावल, बाजरा, तिलहन, आलू आदि यहाँ की प्रमुख फसलें हैं, जो क्रमशः 47.37, 13.33, 11.50, 13.35, 4.29 प्रतिशत भाग पर उगायी जाती हैं। 2022 की पशुगणना के अनुसार यहाँ पर पशुओं की कुल संख्या 8.93 लाख है, जिसमें से 64.55 प्रतिशत महिषवंशीय तथा 23.90 प्रतिशत गौवंशीय है। क्षेत्र में भेड़–बकरियों की संख्या 89 हजार है। इस प्रकार पशुपालन यहाँ का दूसरा प्रमुख व्यवसाय है। जनपद में पंजीकृत कारखानों की संख्या 251 है जिनमें 17819 श्रमिक कार्य करते हैं।. मथुरा तेल शोधन शाला सबसे बड़ी औद्योगिक इकाई है। इसके अतिरिक्त लघु औद्योगिक इकाइयों की कुल संख्या 940 तथा ग्रामीण उद्योगों की संख्या 1650 है। क्षेत्रीय स्तर पर पक्की सड़कों की कुल लम्बाई 6689 किलोमीटर है जिसमें से राष्ट्रीय राजमार्ग की लम्बाई 130 किलोमीटर, प्रादेशिक मार्ग 129 किलोमीटर, मुख्य जिला सड़कें 754 किलोमीटर तथा 1784 किलोमीटर अन्य जिला सड़कें हैं। जनपद मथुरा में 222 राष्ट्रीयकृत बैंक, 16 क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक एवं 56 अन्य गैर–राष्ट्रीय बैंक शाखायें कार्यरत हैं।

पोशण प्राप्ति के स्त्रोतः

जनपद मथुरा एक कृषि प्रधान क्षेत्र है अतः यहाँ भोजन के मुख्य अंग कृषि, पशु एवं बागवानी से प्राप्त पदार्थ होते हैं। इन्हीं तत्वों के आधार पर भोजन में प्राप्त पोषण तत्वों की मात्रा की गणना की जाती है। जनपद मथुरा में सकल प्रतिवेदित क्षेत्रफल 333964 हेक्टेयर है, कृषि भूमि का क्षेत्रफल 260693 हेक्टेयर है। दो फसली भूमि 130103 हेक्टेयर है। सकल बोया गया क्षेत्रफल 390796 हेक्टेयर है जिसमें रबी की फसल 260700 हेक्टेयर, खरीफ की फसल 119058 हेक्टेयर एवं जायद की फसल 11038 हेक्टेयर पर उगाई जाती है, जैसा कि तालिका– से स्पष्ट है।

तालिका संख्या – 01

जनपद मथुरा में कृषि भूमि का क्षेत्रीय वितरण, 2024–2025

क्र0 सं0	विकासखण्ड	शुद्ध बोया गया क्षेत्रफल	एक से अधिक बार बोया गया क्षेत्रफल	सकल बोया गया क्षेत्रफल	रबी की फसल	खरीफ की फसल	जायद की फसल
1–	नन्दगांव	27160	19385	46545	27963	17026	1556
2–	छाता	32620	20358	52978	31472	19920	1586
3–	चौमुहां	25732	12372	38104	24896	12314	894
4–	गोवर्धन	30248	12083	42331	31428	10090	813
5–	मथुरा	26882	10945	37827	27460	9663	704
6–	फरह	21240	10714	31954	22359	8849	446
7–	नौहझील	28987	13715	42702	28838	12570	1294
8–	माट	21926	9858	31784	21466	9128	1190
9–	राया	19930	11400	31330	19863	10434	1033
10–	बलदेव	25968	9273	35241	24955	9064	1222
योग जनपद		260693	130103	390796	260700	119058	11038
प्रतिशत		78.06	49.90	100.00	66.70	30.46	2.82

स्रोतः जिला सांख्यिकीय पत्रिका, जनपद मथुरा, 2025

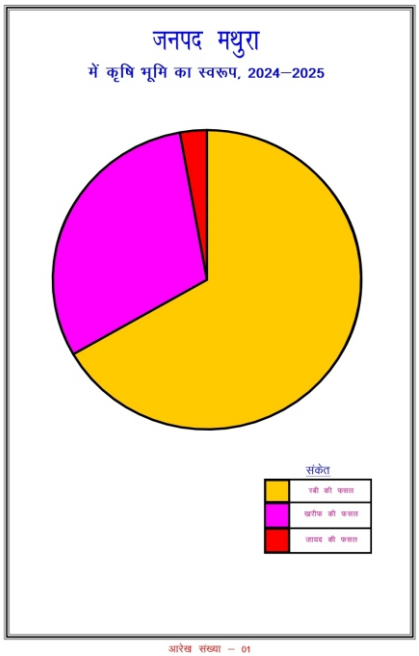

आरेख संख्या – 01

जनपद मथुरा में सकल बोए गए क्षेत्रफल में गेहूं की फसल 185113 हेक्टेयर, चावल की फसल 52090 हेक्टेयर, जौ की फसल 5075 हेक्टेयर, बाजरा की फसल 44965 हेक्टेयर, दलहन की फसल 4950 हेक्टेयर, तिलहन की फसल 52178 हेक्टेयर, आलू की फसल 16557 हेक्टेयर एवं अन्य सब्जियां 18026 हेक्टेयर क्षेत्रफल पर उगाई जाती है। जैसा कि तालिका– से स्पष्ट है।

तालिका संख्या – 02

जनपद मथुरा में प्रमुख फसलों के अन्तर्गत क्षेत्रफल का वितरण 2024–2025

क्र0 सं0	विकासखण्ड	गेहूं	चावल	जौ	बाजरा	दलहन	तिलहन	आलू	अन्य सब्जियां
1–	नन्दगांव	23696	13830	69	1515	1147	2657	40	1658
2–	छाता	28139	14929	110	3100	550	2875	30	1754
3–	चौमुहां	19496	6825	64	2049	609	5636	159	1605
4–	गोवर्धन	19154	2305	630	3285	124	10550	840	1907
5–	मथुरा	19167	2311	993	3040	323	7938	714	1790
6–	फरह	13155	1306	840	4299	173	6475	968	1834
7–	नौहझील	20021	3925	511	7781	826	7885	1150	1812
8–	मांट	15808	3554	626	4582	624	2175	2145	1688
9–	राया	13323	2623	469	7434	401	1152	4068	1944
10–	बलदेव	13154	482	763	7880	173	4835	6443	2034
योग जनपद		185113	52090	5075	44965	4950	52178	16557	18026

स्रोतः जिला सांख्यिकीय पत्रिका, जनपद मथुरा 2025।

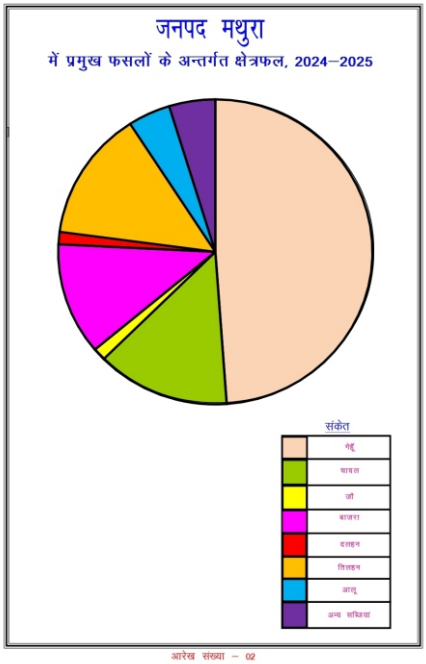

आरेख संख्या – 02

पोषण के घटकः

पोषण तत्वों से तात्पर्य भोजन के उन तत्वों से है जो हमारे शरीर की सामान्य वृद्धि, शरीर के टिशुओं की मरम्मत व शरीर के रोगों से बचाने के लिए आवश्यक हैं। इसके अन्तर्गत प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, वसा, विटामिन, खनिज व जल आते हैं। एक सामान्य कार्य करने वाले पुरुष को प्रतिदिन 2500 कैलोरी की आवश्यकता होती है किन्तु स्त्रियों को 1900 कैलोरी। भोजन में अनेक प्रकार के प्रोटीन होते हैं। वे खाद्य पदार्थ जिनमें प्रत्यक्ष रूप से चिकनाई दिखाई दे उन्हें वसा कहते हैं। हमारे भोजन में कार्बोहाइड्रेट की मात्रा अधिक होती है। शरीर में कैल्शियम की आवश्यकता अन्य लवणों की अपेक्षा अधिक होती है। एक व्यक्ति के शरीर में 100 से 1200 ग्राम तक कैल्शियम होना चाहिए। स्वस्थ मनुष्य के कुल वजन का 0.004 प्रतिशत भाग आयरन होता है जिसका 75 प्रतिशत भाग खून में पाया जाता है। मानव शरीर के वजन में खनिज लवणों का स्थान 4 प्रतिशत होता है। शरीर को खनिजों की अल्प मात्रा आवश्यक होती है। विटामिन कई किस्म के खाद्य पदार्थों में थोड़ी बहुत मात्रा में प्राप्त होते हैं। सामान्य वृद्धि और कोशिकाओं की रक्षा के लिए शरीर को इनकी आवश्यकता होती है।

मानव भूख लगने पर जो कुछ खाता है वह खाद्य पदार्थ कहलाता है। मनुष्य का मुख्य आहार अनाज है। इसके अन्तर्गत गेहूं, चावल, मक्का, जौ, ज्वार, बाजरा आदि होते हैं। दालें नाइट्रोजन युक्त होती हैं। दालों में 18 से 25 प्रतिशत प्रोटीन पाया जाता है। सामान्य रूप से प्रतिदिन 55–60 ग्राम दाल आवश्यक होती है। तेल युक्त बीज के अन्तर्गत सोयाबीन, तिल, मूंगफली, बिनौले, अलसी, सरसो, नारियल, सूर्यमुखी के बीज आदि आते हैं। सब्जियों में 27 प्रतिशत प्रोटीन, कैरोटीन, विटामिन सी, फोलिक एसिड, कैल्शियम पाये जाते हैं। फलों से शक्कर तथा विटामिन सी प्राप्त होता है। यह कार्बोहाइड्रेट ही शरीर को ऊर्जा प्रदान करते हैं। दूध एवं दूध से बने पदार्थ शरीर को निरोग रखने में सहायक होते हैं। मांस प्रोटीन का उत्तम स्रोत है। इसमें सभी खनिज प्रोटीन, वसा पाये जाते हैं। मछली में 15 से 25 प्रतिशत प्रोटीन, 11–20 प्रतिशत वसा कैल्शियम तथा विटामिन भी पाये जाते हैं। आहार वह ठोस व तरल पदार्थ है जो जीवित रहने, स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिए आवश्यक होता है। आवश्यकता इस बात की है कि आहार सन्तुलित एवं पौष्टिक होना चाहिए।

हीनता जन्य रोगः

कुपोषण से उत्पन्न रोगों को ही हीनताजन्य रोगों की संज्ञा दी जाती है। अधिकांश रोगियों की बीमारी किसी न किसी रूप में वातावरण एवं पोषाहार से सम्बन्धित है। जनपद मथुरा के मनुष्यों के आहार–विहार के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उनके भोजन में प्रोटीन, कैलोरी, लौह धातु एवं विटामिनों से सम्बन्धित हीनता जन्य रोग देखने को मिलते हैं। जनपद मथुरा में मिलने वाले हीनताजन्य रोगों को निम्न प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है।

1. प्रोटीन हीनताजन्य रोग– जनपद मथुरा में प्रोटीन की कमी से रोग उत्पन्न होते हैं। प्रोटीन एवं कैलोरी का अभाव भोजन में पाया जाना एक समस्या है। पाँच वर्ष से कम आयु के बच्चों में यह कमी लगभग 70 प्रतिशत है। ग्रामीण क्षेत्रों में प्रोटीन कुपोषण एक गम्भीर स्वास्थ्य समस्या है। कुल रोगियों का 10 प्रतिशत है।

2. कवाशिआरकार– यह रोग सामान्यतः बच्चों में अधिक देखने को मिलता है। बच्चों में खसरा, काली खाँसी, मलेरिया जैसे रोगों के दौरान या उसके पश्चात् इस रोग के फैलने की सम्भावनाएं अधिक होती हैं। जनपद मथुरा में कुल हीनताजन्य रोगों का 5 प्रतिशत है।

3. सूखा रोग– इस रोग में शरीर सूखने लगता है। मांसपेशिया छय होने लगती हैं। कुपोषण से प्रभावित किसी भी आयु के मनुष्यों व बच्चों में हो सकता है। जनपद मथुरा में कुल हीनताजन्य रोगियों की संख्या का 8 प्रतिशत रोगी पाये जाते हैं।

4. विटामिन हीनताजन्य रोग– जनपद मथुरा में आवश्यकता से कम विटामिन 'ए' की प्राप्ति होती है। विटामिन 'ए' का प्रमुख स्रोत दूध है। निर्धन परिवारों में विटामिन 'ए' कमी प्राप्ति एक समस्या बनती जा रही है। कुल हीनताजन्य रोगियों की संख्या का 15 प्रतिशत रोगी है। इसकी कमी से रतौंधी, नेत्र शुष्कता के रोगी अधिक मिलते हैं।

5. विटामिन 'सी' की कमी से उत्पन्न रोग– इसकी कमी से उत्पन्न रोगों दाँतों व मसूड़ों के रोग मुख्य हैं। कुल हीनताजन्य रोगियों का 7 प्रतिशत है। इस रोग की संख्या में लगातार वृद्धि हो रही है।

6. विटामिन 'डी' की कमी से उत्पन्न रोग– इस रोग की शुरुआत कैल्सियम की कमी से होती है। यह रोग घनी बसी बस्तियों में जहाँ सूर्य की रोशनी नहीं पहुँच पाती, निम्न सामाजिक स्तर के वृद्ध व्यक्तियों तथा स्तनपान कराने वाली महिलाओं में अधिकतर पाया जाता है। कुल हीनताजन्य रोगियों की संख्या का 3 प्रतिशत मिलता है।

7. आयरन की कमी से उत्पन्न रोग– इसकी कमी से उत्पन्न रक्ताल्पता के रोगियों की संख्या काफी अधिक है। समस्त हीनताजन्य रोगियों का 35 प्रतिशत रक्ताल्पता के रोगी हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में हरी सब्जियों का चलन बहुत कम है तथा पोषण सम्बन्धी ज्ञान का अभाव है।

8. अन्य हीनताजन्य रोग– समस्त हीनताजन्य रोगियों का 5 प्रतिशत रोगी अतिसार के हैं। कभी–कभी इनकी संख्या तेजी से बढ़ जाती है। कार्बोहाइड्रेट की कमी के कारण पथरी के रोगियों की संख्या तेजी से बढ़ रही है। जहाँ मानव शरीर में कार्बोहाइड्रेट की कमी से पथरी बनती है, वहीं इसकी अधिकता सबसे भयानक रोग मधुमेह को जन्म देती है। इस रोग का सम्बन्ध वसा से भी है। यह रोग तेजी से फैल रहा है। ग्रामीण क्षेत्रों की तुलना में नगरीय क्षेत्रों में इस रोग से पीड़ित व्यक्तियों की संख्या अधिक है। समस्त हीनताजन्य रोगियों की संख्या का 40 प्रतिशत रोगी इसी रोग से पीड़ित हैं। अब ग्रामीण क्षेत्रों में भी इस रोग की संख्या तेजी से बढ़ रही है। जनपद मथुरा में हीनताजन्य रोगों की संख्या 85670 है जैसा कि निम्न तालिका– में दर्शाया गया है।

तालिका संख्या – 03

जनपद मथुरा में हीनताजन्य रोगियों का वितरण, 2025

क्र0 सं0	विकासखण्ड	संख्या
1–	नंदगांव	8425
2–	छाता	9110
3–	चौमुहां	7990
4–	गोवर्धन	8525
5–	मथुरा	9500
6–	फरह	9150
7–	नौहझील	8475
8–	माट	7760
9–	राया	8025
10–	बलदेव	9010
	योग जनपद	85670

स्रोतः 1. स्वास्थ्य केन्द्रों से प्राप्त सूचना पर आधारित।
2. व्यक्तिगत सर्वेक्षण पर आधारित।

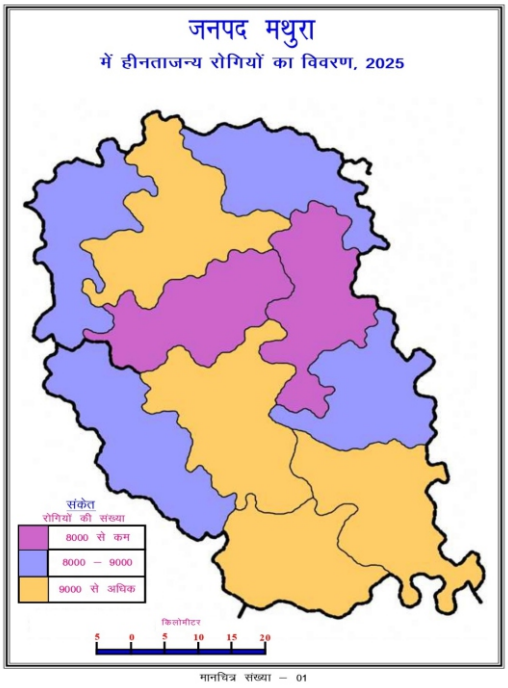

मानचित्र संख्या – 01

स्वास्थ्य सेवायें:

मानव के दृष्टिकोण से इस वर्ग के अन्तर्गत अस्पताल,

सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्र, प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र, परिवार एवं मातृ शिशु कल्याण केन्द्र एवं उपकेन्द्र आदि सम्मिलित हैं। जनपद मथुरा में एक जनपद चिकित्सालय है जो सम्पूर्ण क्षेत्र को अपनी सेवाएं प्रदान करता है। सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्रों की संख्या 12 है। प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र 37 हैं। परिवार एवं मातृ शिशु कल्याण केन्द्र 341, आयुष्मान आरोग्य मन्दिर 283, हेल्थ एटीएम केन्द्र 19 एवं योग केन्द्र 643 हैं। इसके अलावा 250 निजी स्तरीय चिकित्सालय हैं। जैसा कि निम्न तालिका– में दर्शाया गया है।

तालिका संख्या – 04
जनपद मथुरा में स्वास्थ्य सुविधाओं का वितरण, 2025

क्र0 सं0	विकासखण्ड	अस्पताल	सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्र	प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र	परिवार एवं मातृ शिशु कल्याण केन्द्र	आयुष्मान आरोग्य मन्दिर	हेल्थ एटीएम	योग केन्द्र	निजी अस्पताल
1–	नंदगांव	–	–	2	24	14	–	38	12
2–	छाता	–	–	3	36	23	1	60	14
3–	चौमुहां	–	–	3	25	22	–	47	10
4–	गोवर्धन	–	–	1	35	23	–	58	16
5–	मथुरा	–	1	1	49	42	–	91	18
6–	फरह	–	–	3	28	23	–	51	11
7–	नौहझील	–	1	2	33	30	2	65	17
8–	माट	–	1	2	33	25	1	59	10
9–	राया	–	1	1	36	29	–	65	14
10–	बलदेव	–	–	4	33	32	–	65	18
योग ग्रामीण		**–**	**04**	**22**	**332**	**263**	**4**	**599**	**132**
नगरीय योग		**01**	**08**	**15**	**9**	**20**	**15**	**44**	**118**
योग जनपद		**01**	**12**	**37**	**341**	**283**	**19**	**643**	**250**

स्रोतः जिला सांख्यिकीय पत्रिका, जनपद मथुरा 2025।

निष्कर्षः

पोषण और स्वास्थ्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अच्छा स्वास्थ्य रखने के लिए उचित पोषण परमावश्यक है। व्यक्ति के शरीर को आवश्यकता उसके आहार से तत्व नहीं मिलते जो शरीर के उचित विकास, वृद्धि एवं क्रियाशीलता के लिए आवश्यक है। यदि शरीर को आवश्यक पदार्थ जैसे प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट आदि कम मात्रा में मिलते हैं तो शरीर धीरे–धीरे क्षीण होकर दुर्बल हो जाता है। भोजन के विभिन्न पोषक तत्वों का उपयुक्त मात्रा में शरीर को उपलब्ध होना तथा उनका सही पाचन सुपोषण कहलाता है। सदैव ताजा भोजन ही उपयोग में लाना चाहिए। प्रकृति ने मौसम के अनुसार फल एवं सब्जी मनुष्य को प्रदान की है, जो हमारे शरीर को आवश्यक खनिज, विटामिन्स एवं प्रोटीन प्रदान करते हैं। घरों में साफ–सफाई पर विशेष ध्यान देने की जरूरत है। घर में जल का प्रयोग सावधानी पूर्वक करना आवश्यक है। जनसंख्या वृद्धि की रोकथाम के उपाय किए जाने चाहिए। स्वास्थ्य नियमों का प्रचार कार्य विभिन्न स्तरों पर विभिन्न माध्यमों द्वारा किया जा सकता है। सरकारी क्षेत्र के अतिरिक्त निजी एवं सामाजिक क्षेत्र में भी स्वास्थ्य नियमों के प्रचार का कार्य किया जा सकता है। ग्राम पंचायत के माध्यम से ग्रामीण जनता को स्वास्थ्य नियमों से अवगत कराया जा सकता है। गर्भवती स्त्रियों और भावी सन्तानादि का स्वास्थ्य ठीक रखने के लिए सरकार और नगरपालिका परिषद् की ओर से शहर तथा ग्राम पंचायत की ओर से गाँवों में स्थान–स्थान पर प्रसूति केन्द्र खोलना चाहिए। उचित मात्रा में पौष्टिक भोजन करना, नित्य प्रति शारीरिक व्यायाम करना, समयानुसार विश्राम एवं निद्रा लेना जीवन में स्वस्थ आदतों का निरन्तर अभ्यास करना आदि स्वास्थ्य रक्षा के प्रमुख उपाय हैं। स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों का ज्ञान प्राप्त किये बिना किसी भी व्यक्ति के लिए उनका पालन करना असम्भव प्रतीत होता है। अतः प्रत्येक नागरिक को जनस्वास्थ्य की दृष्टि से नियमों का ज्ञान प्राप्त करके उनका पालन करना चाहिए। स्वास्थ्य शिक्षा प्रदान करने के लिए समय–समय पर चलचित्रों एवं भाषणों का आयोजन किया जाना आवश्यक है। सार्वजनिक रूप से सुविधाएं उपलब्ध कराने, जनसम्पर्क तथा व्यक्ति से व्यक्ति तक सेवाओं को पहुँचाने के दृष्टिकोण से प्रत्येक ग्राम पंचायत में जन स्वास्थ्य रक्षक नियुक्त किया जाना आवश्यक है। सरकारी स्तर से स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यक्रमों का आयोजन कर व्यक्तियों को जागरूक किया जाना चाहिए।

सन्दर्भ

1.सिंघई, जी० सी० 1993:चिकित्सा भूगोल, वसुन्धरा प्रकाशन, पृष्ठ–25

2.हुसैन, माजिद 1964:मेडीकल ज्योग्राफी, अनमोल पब्लिकेशन्स प्रा० लि० नई दिल्ली, पृष्ठ–105

3.आर० वी० मिश्रा 1970:मेडीकल ज्योग्राफी ऑफ इण्डिया नेशनल बुक ट्रस्ट नई दिल्ली, पृष्ठ–115

4.सिद्दकी मो० फारूक 1971:कन्स्ट्रक्शन ऑफ डिफून्स डिसीज इन यू० पी० ज्योग्राफीकल रिव्यू ऑफ इण्डिया वॉल्यूम – 38, पृष्ठ–90

5.सिन्हा, एन० सी० 1981:मेडीकल ज्योग्राफी ऑफ यू०पी० एन अनपब्लिश्ड पी–एच०डी० थीसिज गोरखपुर यूनीवर्सिटी, पृष्ठ–75

6.चौधरी नफीस अहमद 1978:तहसील मवाना मेरठ उत्तर–प्रदेश में कृषि भूमि उपयोग तथा पोषण अप्रकाशित पी–एच०डी० थीसिज मेरठ विश्वविद्यालय मेरठ, पृष्ठ–130

7.हुसैन, जब्बार 1984:तहसील गढ़मुक्तेश्वर (गाजियाबाद, उत्तर–प्रदेश) में खाद्य फसल एवं पोषण स्तर अप्रकाशित पी–एच०डी० मेरठ विश्वविद्यालय, पृष्ठ–150

8.जैन सन्तोष एवं जैन आकाँक्षा 2017:सार्वजनिक समुचित पोषण वर्तमान स्थिति एवं आगामी दृष्टिकोण कुरुक्षेत्र मासिक पत्रिका, जुलाई अंक, पृष्ठ–140

9.शंकर रवि 2014 :स्वास्थ्य मोर्चे पर असफल क्यों, योजना मासिक पत्रिका, फरवरी अंक, पृष्ठ–30
10.जिला विकास पुस्तिका अर्थ एवं संख्या प्रभाग जनपद मथुरा 2025।

डॉ0 अनिल कुमार
असिस्टेण्ट प्रोफेसर भूगोल विभाग
श्री देवी सिंह इंस्टीट्यूट डिग्री कॉलिज
गजास्थल अमरोहा . 244251
Email-anilaman27811983@gmail.com
Ph -9927508574

20

सोशल मीडिया और युवा चेतना

डॉ0 सतीश चन्द अग्रवाल

सारांश

इंटरनेट के प्रयोग से निर्मित उन मंचों के समूह को सोशल मीडिया कहा जाता है, जिसके जरिए आम आदमी अपने विचारों को समाज के सामने रखता है। इन मंचों का प्रयोग करने वाला हर व्यक्ति वहाँ एक 'प्रोफाइल' के रूप में मौजूद रहता है। इन 'प्रोफाइल' के जरिए लोग अपनी बातों को लिखित सामग्री, तस्वीर, ऑडियो और वीडियो सामग्री के रूप में इन मंचों पर प्रस्तुत करते हैं। पारस्परिक मीडिया जैसे कि समाचार पत्र, पत्रिकाएँ, रेडियो, टेलीविजन इत्यादि के विपरीत सोशल मीडिया एक ऐसा माध्यम है जो आपकी बात को प्रकाशित व प्रसारित करने के लिये सदैव तत्पर रहता है। पारम्परिक मीडिया में अपनी जगह पाना और उसके जरिए अपनी बात कह पाना सबके लिये संभव नहीं था और न ही अब है। लेकिन सोशल मीडिया लोगों का अपना मीडिया है। आपकी फेसबुक वॉल आपका अपना अखबार है। आपका यूट्यूब अकाउंट आपका अपना निजी टीवी चैनल है। आपका ब्लॉग आपकी बात प्रसारित करने के लिये वे सभी औजार दे दिया है, जो किसी जमाने में केवल चुनिंदा लोगों को ही उपलब्ध होते थे।

आज का युग सूचना तकनीक और संचार की तीव्र गति का युग है। इंटरनेट ने दुनिया को एक ऐसे मंच पर ला खड़ा किया है जहाँ भौगोलिक दूरियाँ सिमट गई हैं और विचारों के आदान–प्रदान ने अभूतपूर्व विस्तार किया है। फेसबुक, इंस्टाग्राम, यूट्यूब, व्हाट्सएप और एक्स जैसे सोशल मीडिया मंच हमारे दैनिक जीवन का अभिन्न हिस्सा बन चुके हैं। सुबह आँख खुलने से लेकर रात को सोने तक, अनगिनत लोग किसी न किसी रूप में इन डिजिटल माध्यमों से जुड़े रहते हैं। सोशल मीडिया अब केवल मनोरंजन का साधन नहीं बल्कि शिक्षा, रोजगार, व्यापार, जनजागरण और सामाजिक परिवर्तन का प्रभावशाली माध्यम भी है। किन्तु इसके आकर्षक स्वरूप के पीछे अनेक अवसरों के साथ ऐसी चुनौतियाँ भी छिपी हैं जिन्हें समझना आज की आवश्यकता है। इसका दूसरा पक्ष यह है कि जिस माध्यम ने मनुष्य को संसार से जोड़ने का वादा किया था, उसी के बीच कहीं–कहीं वह स्वयं से दूर होता दिखाई देता है। उसकी प्रसन्नता दूसरों की प्रतिक्रियाओं पर निर्भर होने लगी है। उनकी उपलब्धियों का मूल्यांकन लाइक्स और कमेंट्स से होने लगा है तथा उसके व्यक्तित्व की चमक फॉलोअर्स की संख्या में तलाश की जाने लगी है। यहाँ एक प्रश्न उठता है कि – क्या आज का युवा अपनी वास्तविक पहचान के साथ जी रहा है अथवा उस पहचान के निर्माण में लगा है जिसे दुनिया देखना चाहती है? यही प्रश्न सोशल मीडिया और युवा पहचान के संकट का मूल है। यह केवल तकनीक के अत्यधिक उपयोग की समस्या नहीं, बल्कि आत्मबोध, आत्मसम्मान, सामाजिक स्वीकार्यता और व्यक्तित्व की स्वतंत्रता से जुड़ा हुआ प्रश्न है।

अमरेन्द्र नाथ त्रिपाठी अपने लेख 'आभासी लोकभाशा में कहते हैं– ''जिसे सोशल मीडिया या न्यू मीडिया कहते हैं वह इंटरनेट पर हर व्यक्ति को अपना अभीश्ट प्रस्तुत करने की आजादी का दूसरा नाम है। इसके अपने खतरे है, दिखते भी है, लेकिन इससे अभिव्यक्तिय की जो गुंजाइश बनी है वह बहुत अहम है और उसने महत्वपूर्ण काम किया है। इसका प्रभाव तब और बढ़ जाता है जब इंटरनेट सुविधा संपन्न मोबाइल पर किसी चीज को देख –सुन सकने का संयोग किसी भी व्यक्ति को , किसी भी समय मिलने लगा सोशल मीडिया की ताकत इस तरह बहुत बढ़ी, यह अकारण नही है कि इन संचार के दूसरे माध्यम भी अपने नई सोशल मीडिया के प्लैटफार्म में खासी दिलचस्पी दिखाते है। रेडियों और आकाशवाणी के विभिन्न चैनलो के फेसबुक पेज इसके उदारण है।''[1]

सोशल मीडिया का सबसे बड़ा आकर्षण उसकी सहज उपलब्धता और त्वरित प्रतिक्रिया है। एक तस्वीर, एक वीडियों या कुछ पक्तियाँ व्यक्ति को कुछ ही क्षणो में हजारो लोगो तक पहुँचा सकती है। लाइक, कमेंट, शेयर और फालोअर्स की बढ़ती संख्या व्यक्ति को यह अनुभव कराती है कि उसकी उपस्थिति महत्वपूर्ण और उसके विचारों को सुना जा रहा है। विशेश रूप से युवा पीढ़ी के लिए सोशल मीडिया आत्म अभिव्यक्ति का खुला मंच बन गया है। युवा अपनी प्रतिभा, रचनात्मकता, विचारों और उपलब्धियों को दुनिया के सामने प्रस्तुत कर सकते हैं। कोई कविता लिखता है तो कोई लेख, कोई चित्रकारी करता है तो कोई संगीत गाता है, कोई वीडियो बनाता है तो कोई विज्ञान और तकनीक से जुड़ी जानकारियाँ साझा करता है। लेकिन आकर्शण जब आवश्यकता से अधिक बढ़ जाता है तो वह धीर–धीरे निर्भयता का रूप लेने लगता है दूसरों की चमकदार तस्वीरों और सफलताओ को देखकर युवा अपने जीवन को कमतर समझने लगता हैं। जिसके कारण युवा यह सोचने लगते है कि उनकी सामाजिक प्रतिश्ठा का निर्धारण उनके व्यक्तित्व, ज्ञान और व्यवहार से नही बल्कि लाइक और फॉलाअर्स की संख्या से होता है। मनुष्य स्वभावत संवादप्रिय प्राणी है। अपने अनुभवों को बाँटने विचारों को अभिव्यक्त करने और दूसरो के सुख–दुःख से जुड़ने की आकांक्षा उसकी सामाजिक प्रकृति का अभिन्न अंग रही है। आज संचार के माध्यम बदल रहे है किन्तु संवाद की मूल आकांक्षा सदैव जीवित रही है। कभी संदेशो के लिये कबूतरों

का सहारा लिया जाता था या फिर पोस्ट कार्ड नें दूरियों को कम करने का दायित्व संभाला और बाद में रेडियो, टेलीविजन और इंटरनेट ने संचार की दुनिया को नया विस्तार दिया। आज इसी विकास–यात्रा का सबसे प्रभावशाली उड़ान सोशल मीडिया है। वर्तमान समय में सोशल मडिया केवल तकनीकी की उपलब्धि नही बल्कि बदलती सभ्यता का जीवत्त दस्तावेज है। फेसबुक, इंस्टाग्राम, यूटयुब, व्हाट्सएप जैसे मंचों ने ऐसा विस्तृत आकाश प्रदान किया है। अब संवाद के लिये किसी विशेष मंच प्रतिष्ठान अथवा प्रभावशाली व्यक्तित् का सहारा अनिवार्य नही रहा। एक शिक्षक अपना ज्ञान, कलाकार अपनी कला और एक समान नागरिक अपने विचारो को जनसमुदाय तक पहुंचा सकता है। इस दृश्टि से सोशल मीडिया ने अभिव्यक्ति को नया लोकतान्त्रिक आयाम दिया है। सोशल मीडिया की परिभाषा मे कहा गया है कि– ''यह इंटरनेट आधारित अनुप्रयोगों का एक ऐसा समूह स्वाताजनित सामग्री के सृजन और आदान–प्रदान को गति देता है[2]

यहाँ एक प्रश्न है कि क्या तकनीकी निकटता ने मनुष्यों के हृदयों की दूरियाँ भी उतनी ही कम कर दी हैं? यहाँ सोशल मीडिय महत्व के साथ–साथ अपनी सीमाओं का भी अहसास की भूमिका तैयार करता है।

शिक्षा के क्षेत्र में सोशल मीडिया ने जानकारी की परंपरागत सीमाओं का विस्तार किया है। अब ज्ञान किसी कक्षा, पुस्तकालय अथवा संस्थान की चारदीवारी तक सीमित नहीं है। डिजिटल व्याख्यान, शैक्षिक वीडियों, ऑनलाइन परिचय चाहिए और विषय–विशेषज्ञों की सामग्री विधथियों के लिये ज्ञान के नए क्षितिज खोल रही है किसी छोटे नगर या दूरस्थ गाँव में बैठा छात्र भी विज्ञान के नवीन प्रयोगो साहित्य की विविध धाराओं और विश्व की समकालीन घटनाओं से परिचित हो सकता है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 ने शिक्षा के क्षेत्रों में तकनीक के माध्यम से उपयोग को महत्व दिया है। इस परिप्रेक्ष्य के अंतर्गत सोशल मीडिया तथा अन्य डिजिटल मंचों के सकारात्मक नियोजन, और रचनात्मकता विकसित करने के उपयोगी साधन बन सकते हैं। शिक्षक अपने ऑनलाइन अनुभवों एवं शिक्षण विधाओं को छात्रों को परिचित करा सकते हैं और विद्यार्थियों को पाठ्यपुस्तकों से आगे बढ़कर व्यापक अध्ययन के लिए प्रेरित कर सकते हैं। लेकिन ज्ञान का वास्तविक आलोक केवल सूचनाओं के संग्रह से उत्पन्न नही होता हैं उनके लिए चिंतन की गहराई, तर्क की स्पश्टता और सत्य को परखने की क्षमता आवश्यक है। डिजिटल संसार में सामग्री की बहुलता जितनी बड़ी उपलब्धि है, उतनी ही बड़ी चुनौती भी। यह समझना आवश्यक है कि प्रत्येक वायरल संदेश सत्य नहीं होता और प्रत्येक लोकप्रिय विचार विवेकपूर्ण नहीं होता। विद्यार्थियों के लिये डिजिटल साक्षरता का अर्थ केवल तकनीक चलाना नहीं, बल्कि सूचना के स्रोतों की जाँच करना, उसके सन्दर्भ को समझना और प्रभावों के आधार पर निष्कर्षों को निकालना।

सोशल मीडिया की शक्ति का एक महत्वपूर्ण पक्ष सामाजिक जागरण में दिखाई देता है। पर्यावरण संरक्षण, महिला सुरक्षा, बाल अधिकार, स्वच्छता, रक्तदान और आपदा राहत जैसे विषयों पर डिजिटल मंच जनचेतना के व्यापक वाहक बन सकते हैं। किसी प्राकृतिक आपदा के समय सहायता की अपील, राहत सामग्री की जानकारी और आवश्यक सूचनाओं का प्रसार अनेक लोगों को सहयोग के लिये प्रेरित कर सकता है। किसी उपेक्षित समाज या वंचित वर्गों की आवाज को व्यापक समाज तक पहुँचाने में भी इन मंचों की भूमिका उल्लेखनीय है। इस प्रक्रिया में सोशल मीडिया युवा को केवल दर्शक बने रहने के बजाय समाज का सक्रिय सहभागी बनने का अवसर देता है। अपनी बात को रखने दूसरे के अनुभवों से सीखने साथ ही सामूहिक प्रयासो का हिस्सा बन सकता है किन्तु यह भी ध्यान रखना होगा कि सामाजिक परिवर्तन केवल प्रतिक्रियाओं, टिप्पणियों और साझा किए गए संदेशों से नहीं आता। किसी पीड़ा पर संवेदना व्यक्त करना आवश्यक है पर उससे भी अधिक आवश्यक है उस पीड़ा को दूर करने का प्रयास करना।

आज की युवा पीढ़ी, विशेषकर जेन जी, सोशल मीडिया के प्रभाव से निर्मित हो रहे एक नए सामाजिक परिवेश की प्रतिनिधि है। इस पीढ़ी के लिए डिजिटल मंच केवल मनोरंजन का साधन नहीं बल्कि अपनी पहचान व्यक्त करने, विचार प्रस्तुत करने और वर्तमान सामाजिक मुद्दों से जुड़ने का माध्यम भी है। पर्यावरण संरक्षण, लैंगिक समानता, मानसिक स्वास्थ्य और सामाजिक न्याय जैसे विषयों पर युवाओं की भागीदारी यह संकेत देती है कि डिजिटल मंचों का उपयोग परिवर्तनकारी उद्देश्यों के लिए भी किया जा सकता है।

साथ ही, इस आभासी संचार से व्यक्तित्व की एक ऐसी प्रतिस्पर्धा भी विकसित हुई है, जिसमें छात्र कभी–कभी स्वयं को दूसरों की स्वीकृति के तराजू पर तौलने लगते हैं। लाइक, कमेंट, व्यूज और फॉलोअर्स के आंकड़े आत्मविश्वास तथा प्रतिष्ठा के मानदंड बनते दिखाई देते हैं।

डॉ० रतन लाल अपने लेख 'दलित संघर्ष और सोशल मीडिया' में कहते हैं–''मीडिया कहता है और दावा भी करता है कि वह लोकतंत्र का प्रहरी है, चौथा स्तंभ है और इस बात का उसे

गुमान भी है, वह कहता है, मैं वकील भी हूँ, न्यायाधीश भी हूँ, जानते नहीं मेरी वजह से तुम्हारे अधिकार सुरक्षित हैं, मैं तुम्हारा ऑक्सीजन हूँ, देखो नहीं जेसिका लाल, शिवानी भटनागर, तंदूर कांड, निर्भया कमेटी जैसे प्रकरणों में मैंने क्या किया, भ्रष्टाचार के मामले में सरकारें उखाड़ी हैं इत्यादि, इत्यादि (यह बात अलग है सुधीर चौधरी और नीरा राडिया के केस में मैं मौन हूँ), कुछ हद तक ये दावे सही भी हो सकते हैं। आजाद भारत में कोई भी विषय या संस्थाएं जवाबदेही से परे नहीं है, यहाँ तक की संविधान भी, लगातार संशोधन का होना इस बात का प्रमाण है इसलिए निजी संस्थाएं और मीडिया भी इसके परे नहीं।''[3]

यहीं से आभासी पहचान और वास्तविक अस्मिता के बीच संघर्ष आरम्भ होता है। मनुष्य दूसरों के सामने कैसा दिखाई देता है, इसकी चिंता कभी–कभी इस प्रश्न पर भारी पड़ने लगती है कि वह वास्तव में कैसा है। अतः यह कहा जा सकता है कि सोशल मीडिया अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम है किंतु स्वतंत्रता के साथ विवेक और उत्तरदायित्व का जुड़ना भी आवश्यक है। युवा पीढ़ी को यह समझना होगा कि डिजिटल लोकप्रियता क्षणिक हो सकती है, किन्तु ज्ञान, चरित्र और संवेदनशीलता से निर्मित व्यक्तित्व दीर्घकालिक होता है। सोशल मीडिया का उपयोग अपनी प्रतिभा को निखारने के लिए होना चाहिए, अपनी वास्तविक पहचान को दूसरों की स्वीकृति के हवाले करने के लिए नहीं।

''सोशल मीडिया की लोकप्रियता का अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि न्यूज चौनल भी इस पर अपनी वेबसाइट बनाने लगे है दर्शको पाठको के विचार, प्रतिक्रिया जानने के लिये न्यूज चैनल अपनी वेबसाइट, ई–मेल आई–डी पता आदि सोशल मीडिया पर डालते है। आज हर छोटा– बड़ा न्यूज चैनल अपनी सोशल मीडिया से जुड़ा है। सोशल मीडिया की लोकप्रियता बढ़ने के फलस्वरूप ई समाचार पत्र भी सोशल मीडिया पर अवतरित होने लगे है''[4]

यदि डिजिटल मंच हमें दूसरो से तुलना करना सिखाने के बजाय स्वंय को बेहतर बनाना सिखाएँ, यदि वे हमारे भीतर असंतोश के स्थान पर रचनात्मकता और प्रतिस्पर्धा के स्थान पर सहयोग की भावना विकसित करें, तो उनकी सार्थकता कई गुना बढ़ सकती है। फेसबुक को ही लिजिए आज समाज का प्रत्येक व्यक्ति फेसबुक इस्तेमाल करता है और जो आज प्रत्येक घर में अपनी जगह बना चुका है। स्टेटिस्टा के जनवरी 2023 के ऑकड़ो के अनुसार – '' भारत मे ही तकरीबन 315 मिलियन फेसबुक उपयोगकर्ता है। जिससे उसकी लोकप्रियता का स्वयं ही अन्दाजा लगाया जा सकता है।''[5] इस संदर्भ में युवा पीढ़ी की भूमिका विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। युवा के हाथों में स्मार्टफोन के साथ–साथ भविष्य की दिशा निर्धारित करने की शक्ति भी है। वे सोशल मीडिया का उपयोग केवल मनोरंजन और लोकप्रियता अर्जित करने के लिए न करें, बल्कि ज्ञान प्राप्त करने, नवाचार को प्रोत्साहित करने, सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध आवाज उठाने, पर्यावरण संरक्षण का संदेश फैलाने और लोकतांत्रिक मूल्यों को सुदृढ़ करने के लिए भी करें। साथ ही उन्हें यह समझना होगा की हर सूचना सत्य नहीं होती, प्रत्येक आकर्षक तस्वीर वास्तविकता का प्रतिनिधित्व नहीं करती और प्रत्येक लोकप्रिय विचार अनिवार्य रूप से उचित नहीं होता। सूचना को स्वीकार करने से पहले उसकी सत्यता की जाँच करना तथा प्रतिक्रिया देने से पहले उसके संभावित परिणामों पर विचार करना ही डिजिटल विवेक की वास्तविक पहचान है। सोशल मीडिया के इस्तेमाल से रोकने के लिए दुनिया के कई देश अब सीमा तय कर रहे हैं। "जुलाई में फ्रांस ने 15 साल से कम उम्र के बच्चों के लिए सोशल मीडिया प्लेटफार्म पर रोक की कोशिश की। हालांकि 14 अगस्त को फ्रांस की शीर्ष कोर्ट ने मानवाधिकार के आधार पर इसे रोक दिया।"[6]

युवा छात्रों को केवल तकनीक का संचालन करना ही नहीं बल्कि उसका विवेकपूर्ण उपयोग करना भी सिखाया जाना चाहिए। शिक्षा का उद्देश्य ऐसे नागरिक तैयार करना होना चाहिए जो डिजिटल रूप से दक्ष होने के साथ–साथ नैतिक रूप से सजग, विचारशील और संवेदनशील भी हों। अभिभावकों और शिक्षकों को संवाद, विश्वास तथा मार्गदर्शन के माध्यम से युवाओं में संतुलित डिजिटल व्यवहार विकसित करना होगा। व्यक्तिगत गोपनीयता की रक्षा, साइबर अपराधों के प्रति सतर्कता, ऑनलाइन उत्पीड़न का विरोध और दूसरों की गरिमा का सम्मान इस दिशा के अनिवार्य आधार हैं। वर्ष 2015 के सुप्रीम कोर्ट के ऐतिहासिक फैसले को समझना जरूरी है "जिसमें अदालत ने सूचना प्रौद्योगिकी अधिनियम की धारा 66 ए को असंवैधानिक करार देते हुए निरस्त कर दिया था। इस फैसले ने ऑनलाइन अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को बड़ी राहत दी, लेकिन इसका मतलब यह नहीं था कि इंटरनेट कानून के दायरे के बाहर हो गया।"[7]

वास्तव में, बदलती दुनिया की सबसे बड़ी चुनौती तकनीकी विकास के साथ मानवीय मूल्यों को जीवित रखना है। हमें ऐसी डिजिटल संस्कृति का निर्माण करना होगा जिस में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के साथ उत्तरदायित्व, सूचना की गति के साथ सत्य की प्रतिष्ठा और आभासी संपर्क के साथ वास्तविक संबंधों की ऊष्मा भी सुरक्षित रहे।

भविष्य का प्रश्न यह नहीं है कि सोशल मीडिया हमारे

जीवन में कितना स्थान प्राप्त करेगा, बल्कि यह है कि उसके बढ़ते प्रभाव के बीच हम अपने विवेक, स्वतंत्र चिंत न और मानवीय अस्मिता को कितना सुरक्षित रख पाएँगे। हमें ऐसी दुनिया की ओर बढ़ना है जहाँ तकनीक मनुष्य की सहायक बने, उसकी चेतना की संचालक नहीं जहाँ आभासी पहचान वास्तविक व्यक्तित्व पर हावी न हो और जहाँ डिजिटल संबंधों की बहुलता मानवीय आत्मीयता का विकल्प न बने।

क्योंकि सभ्यता की वास्तविक प्रगति केवल तेज इंटरनेट, आधुनिक उपकरणों और व्यापक डिजिटल नेटवर्क से नहीं मापी जातीय उसका वास्तविक मूल्य इस बात में निहित है कि विकास के इस दौर में मनुष्य कितना अधिक विवेकशील, संवेदनशील, स्वतंत्र और मानवीय बन पाया है।

संदर्भ सूची –

1 अभय कुमार त्रिपाठी, 'आजादी लोकतंत्र', अथिली पत्रिका, अंक (नवजागरण के जनसंचार, अथिली पत्रिका अंक), प्रकाशक रविकांत और विनीत कुमार, प्रकाशन वर्ष सितंबर 2018, दिल्ली, पृष्ठ सं० 58, 59

2 आकांक्षा यादव, 'सोशल मीडिया और हमारी आजादी के सरोकार', पत्रिका (संवाद पथ), प्रधान संपादक – चतर सिंह किशोर पाहुजा, संपादक – डॉ० प्रमोद कुमार शर्मा, वर्ष अप्रैल – जून 2018, दिल्ली, पृष्ठ सं० 103

3 डॉ० रतन लाल, 'दलित चेतना और सोशल मीडिया', पत्रिका हंस (नवजागरण के जनसंचार, अथिली टाइम्स), रविकांत और विनीत कुमार, प्रकाशन वर्ष – सितंबर 2018, दिल्ली, पृष्ठ सं० 144–145

4 रजनी गोसाई, 'तेजी से उभरता जनसंचार का नया माध्यमः सोशल मीडिया', पत्रिका संवाद पथ, प्रधान संपादक – चतर सिंह किशोर पाहुजा, संपादक – डॉ० प्रमोद कुमार शर्मा, वर्ष अप्रैल–जून 2018, दिल्ली, पृष्ठ सं० 111.

5 खुबूरूल हसन, 'वर्तमान परिप्रेक्ष्य में सोशल मीडिया की उपयोगिता', पत्रिका संवाद पथ, प्रधान संपादक – प्रो0 बीना शर्मा, संपादक डॉ0 मंजू रॉय, वर्ष जुलाई सितम्बर 2023 दिल्ली, पृश्ठ सं. 69

6 अमर उजाला, रविवार 16 अक्टूबर 2026, नई दिल्ली, पृष्ठ सं० 10

7 राजेश चौधरी, 'सोशल मीडिया पोस्ट कब पहुँचा सकती है जेल...', नवभारत टाइम्स, रविवार 18 अक्टूबर 2026, पृष्ठ सं० 12.

डॉ0 सतीश चन्द अग्रवाल

प्रधानाचार्य

डॉ0 के0 एन0 मोदी साइंस एण्ड कॉमर्स कॉलिज,

मोदीनगर 201204 गाजियाबाद।

21

अलका सरावगी के उपन्यासों में मारवाड़ी समाज एवं संस्कृति का चित्रण

आरती कुमारी

सारांश

हिंदी साहित्य में अलका सरावगी का विशिष्ट स्थान है। उन्होंने अपने उपन्यासों के माध्यम से भारतीय समाज, संस्कृति, इतिहास, पारिवारिक संबंधों, सामाजिक विसंगतियों और बदलते जीवन–मूल्यों को गहराई से अभिव्यक्त किया है। उनके साहित्य में मारवाड़ी समाज का चित्रण विशेष महत्त्व रखता है। मारवाड़ी समुदाय की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, राजस्थान से कोलकाता की ओर प्रवास, व्यापारिक गतिविधियाँ, पारिवारिक परंपराएँ, सामाजिक प्रतिष्ठा, सांस्कृतिक पहचान और आधुनिकता के साथ उसका संघर्ष उनके लेखन के महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं। विशेष रूप से कलिकथा रू वाया बाइपास में लेखिका ने मारवाड़ी समाज के कई पीढ़ियों के अनुभवों को व्यापक ऐतिहासिक और सामाजिक संदर्भ में प्रस्तुत किया है। उनके उपन्यासों में मारवाड़ी समाज केवल आर्थिक रूप से समृद्ध समुदाय के रूप में उपस्थित नहीं होता, बल्कि उसकी आंतरिक जटिलताओं, मानवीय संवेदनाओं, सांस्कृतिक अंतर्विरोधों और बदलती मानसिकता का भी चित्रण मिलता है। प्रस्तुत शोध–लेख में अलका सरावगी के उपन्यासों के आधार पर मारवाड़ी समाज एवं संस्कृति के विभिन्न पक्षों का विश्लेषण किया गया है।

प्रमुख शब्दः संस्कृति, प्रवास, व्यापार, पारिवारिक व्यवस्था, सांस्कृतिक पहचान, आधुनिकता।

प्रस्तावना

साहित्य समाज का दर्पण होने के साथ–साथ उसके अंतर्विरोधों, संघर्षों और परिवर्तनशील परिस्थितियों का सृजनात्मक दस्तावेज भी होता है। किसी साहित्यकार की रचना केवल व्यक्तिगत अनुभूतियों की अभिव्यक्ति नहीं होती, बल्कि उसमें अपने समय, समाज, इतिहास और संस्कृति की अनेक परतें समाहित रहती हैं। हिंदी साहित्य में अनेक रचनाकारों ने भारतीय समाज के विविध वर्गों और समुदायों को अपनी रचनाओं का विषय बनाया है। इसी परंपरा में अलका सरावगी का लेखन विशेष महत्त्व रखता है। उन्होंने अपने उपन्यासों में उस सामाजिक संसार को अभिव्यक्त किया है, जिसकी पहचान व्यापार, पारिवारिक परंपराओं, सामुदायिक संबंधों और सांस्कृतिक निरंतरता से जुड़ी रही है।

अलका सरावगी का जन्म कोलकाता के एक मारवाड़ी परिवार में हुआ। इस कारण उन्हें मारवाड़ी समाज की जीवन–पद्धति, पारिवारिक संरचना, सामाजिक व्यवहार और सांस्कृतिक परिवेश को निकट से देखने–समझने का अवसर मिला। उनके लेखन में यह "अनुभव केवल आत्मकथात्मक स्मृति बनकर नहीं आता, बल्कि वह व्यापक सामाजिक और ऐतिहासिक विश्लेषण का रूप ग्रहण करता है। उनकी दृष्टि मारवाड़ी समाज के प्रति न तो केवल प्रशंसात्मक है और न ही पूर्वाग्रहपूर्ण। वे इस समुदाय की उपलब्धियों के साथ–साथ उसकी सीमाओं, विसंगतियों और आंतरिक संघर्षों को भी सामने लाती हैं।"1

अलका सरावगी के साहित्य को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि मारवाड़ी समाज की सांस्कृतिक पहचान केवल राजस्थान के भौगोलिक क्षेत्र तक सीमित नहीं रही है। "व्यापार और रोजगार की तलाश में इस समुदाय के अनेक परिवार देश के विभिन्न नगरों में जाकर बसे। कोलकाता भी ऐसे प्रमुख नगरों में शामिल रहा, जहाँ मारवाड़ी समुदाय ने आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक स्तर पर अपनी पहचान स्थापित की। इस प्रवास ने उसकी जीवन–पद्धति को प्रभावित किया। एक ओर उसने अपनी पारंपरिक मान्यताओं और रीति–रिवाजों को सुरक्षित रखने का प्रयास किया, दूसरी ओर नए नगर और समाज के साथ सामंजस्य स्थापित करने की चुनौती भी स्वीकार की। अलका सरावगी के उपन्यास इसी सांस्कृतिक परिवर्तन की कहानी प्रस्तुत करते हैं।"2

मारवाड़ी समाज की ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

मारवाड़ी समाज का ऐतिहासिक विकास राजस्थान के मारवाड़ क्षेत्र से जुड़ा हुआ है। राजस्थान की भौगोलिक परिस्थितियों, सीमित कृषि संसाधनों और आर्थिक चुनौतियों ने इस समुदाय के अनेक लोगों को व्यापार तथा रोजगार के लिए अन्य क्षेत्रों की ओर जाने के लिए प्रेरित किया। समय के साथ मारवाड़ी व्यापारी भारत के विभिन्न नगरों में स्थापित हुए। कोलकाता उनके लिए व्यापार और आर्थिक गतिविधियों का एक महत्त्वपूर्ण केंद्र बना। ब्रिटिश शासन के दौरान कोलकाता का आर्थिक और राजनीतिक महत्त्व बढ़ा। बंदरगाह, व्यापारिक संस्थानों और औपनिवेशिक प्रशासन के विस्तार ने अनेक व्यापारिक समुदायों के लिए नए अवसर पैदा किए। मारवाड़ी समुदाय ने भी इन अवसरों का लाभ उठाया। धीरे–धीरे इस समुदाय के लोगों ने व्यापार, उद्योग, वित्त और अन्य आर्थिक क्षेत्रों में अपनी पहचान बनाई। किंतु आर्थिक सफलता के साथ उनकी सांस्कृतिक पहचान का प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण बना रहा।

एक नए नगर में बसने के बाद किसी भी समुदाय के सामने दोहरी चुनौती होती है। उसे अपनी मूल सांस्कृतिक पहचान बनाए रखनी होती है और साथ ही नए सामाजिक परिवेश के साथ तालमेल भी स्थापित करना होता है। मारवाड़ी समाज के संदर्भ में यह चुनौती विशेष रूप से दिखाई देती है। राजस्थान की भाषा,

खान–पान, धार्मिक मान्यताओं, पारिवारिक परंपराओं और सामाजिक रीति–रिवाजों को कोलकाता जैसे बहुभाषिक तथा बहुसांस्कृतिक नगर में सुरक्षित रखना आसान नहीं था। इसके बावजूद समुदाय ने अपनी परंपराओं को बनाए रखने का प्रयास किया।

अलका सरावगी इस ऐतिहासिक प्रक्रिया को साहित्यिक रूप प्रदान करती हैं। उनके यहाँ "मारवाड़ी समाज का इतिहास केवल व्यापारिक सफलता का इतिहास नहीं है, बल्कि उसमें विस्थापन, स्मृति, पहचान, सामाजिक संबंध और सांस्कृतिक संघर्ष की अनेक कहानियाँ शामिल हैं।"3

कलिकथाः वाया बाइपास में मारवाड़ी समाज का चित्रण

अलका सरावगी का उपन्यास कलिकथाः वाया बाइपास मारवाड़ी समाज के चित्रण की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण रचना है। इस उपन्यास में लेखिका ने "कोलकाता में बसे मारवाड़ी समुदाय के इतिहास, सामाजिक जीवन और सांस्कृतिक पहचान को केंद्र में रखा है। उपन्यास का कथानक किशोर बाबू और उनके परिवार के माध्यम से कई पीढ़ियों के जीवन को सामने लाता है। इसके माध्यम से पाठक मारवाड़ी समाज के अतीत, वर्तमान और बदलती परिस्थितियों से परिचित होता है।"4

उपन्यास का प्रमुख पात्र किशोर बाबू एक ऐसे व्यक्ति हैं, जिनका जीवन मारवाड़ी समाज की पारंपरिक मानसिकता और आधुनिक सामाजिक परिवेश के बीच स्थित है। बाइपास सर्जरी के बाद उनके जीवन में आया परिवर्तन केवल शारीरिक घटना नहीं है, बल्कि वह उनके भीतर अतीत को देखने और समझने की नई दृष्टि भी विकसित करता है। वे कोलकाता की गलियों, बाजारों, सामाजिक गतिविधियों और ऐतिहासिक घटनाओं को नए ढंग से देखने लगते हैं। इस प्रक्रिया में उनके सामने अपने परिवार और समुदाय का इतिहास भी खुलता है।

उपन्यास में किशोर बाबू के माध्यम से लेखिका यह स्पष्ट करती हैं कि किसी समुदाय का इतिहास केवल बड़े राजनीतिक और आर्थिक घटनाक्रमों से निर्मित नहीं होता। उसके निर्माण में परिवारों की स्मृतियाँ, व्यक्तिगत अनुभव, सामाजिक संबंध और दैनिक जीवन की छोटी–छोटी घटनाएँ भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इस प्रकार कलिकथा रू वाया बाइपास मारवाड़ी समाज का एक व्यापक सामाजिक–सांस्कृतिक आख्यान बन जाता है।

उपन्यास में रामविलास बाबू और उनके परिवार की कथा के माध्यम से राजस्थान से कोलकाता की ओर हुए प्रवास की पृष्ठभूमि सामने आती है। यह प्रवास केवल भौगोलिक स्थान परिवर्तन नहीं है, बल्कि एक नई सामाजिक और आर्थिक दुनिया में प्रवेश करने की प्रक्रिया भी है। मारवाड़ी समुदाय को नए नगर में अपनी पहचान स्थापित करनी पड़ती है। व्यापार के माध्यम से आर्थिक स्थिरता प्राप्त करने के साथ–साथ उसे स्थानीय समाज के साथ संबंध भी विकसित करने होते हैं।

लेखिका ने इस प्रवास को एक सरल सफलता–कथा के रूप में प्रस्तुत नहीं किया है। "इसके पीछे अनेक संघर्ष, असुरक्षाएँ और सामाजिक चुनौतियाँ भी मौजूद हैं। परिवार से दूर रहना, नई परिस्थितियों में स्वयं को स्थापित करना और अपनी सांस्कृतिक परंपराओं को सुरक्षित रखना प्रवासी जीवन के महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं। इस प्रकार उपन्यास में मारवाड़ी समाज का इतिहास मानवीय अनुभवों से जुड़कर सामने आता है।"5

व्यापारिक संस्कृति और आर्थिक मानसिकता

मारवाड़ी समाज की पहचान में व्यापारिक गतिविधियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। अलका सरावगी के उपन्यासों में व्यापार केवल जीविका का साधन नहीं, बल्कि सामाजिक प्रतिष्ठा, पारिवारिक उत्तराधिकार और सामुदायिक पहचान से जुड़ा हुआ दिखाई देता है। व्यापार के माध्यम से परिवार आर्थिक रूप से सशक्त होता है और समाज में अपनी स्थिति स्थापित करता है।

कलिकथाः वाया बाइपास में व्यापारिक संसार का चित्रण मारवाड़ी समाज की मानसिकता को समझने का अवसर प्रदान करता है। उपन्यास में आर्थिक गतिविधियों के साथ परिवार, सामाजिक संबंध और ऐतिहासिक परिस्थितियाँ भी जुड़ी हुई हैं। व्यापार के विस्तार के साथ परिवार की सामाजिक स्थिति में परिवर्तन आता है। आर्थिक समृद्धि परिवार के जीवन–स्तर, रहन–सहन और सामाजिक प्रतिष्ठा को प्रभावित करती है।

हालाँकि लेखिका व्यापारिक सफलता को जीवन की अंतिम उपलब्धि नहीं मानतीं। वे यह प्रश्न भी उठाती हैं कि आर्थिक समृद्धि के बावजूद मनुष्य अपने जीवन में कितना संतुष्ट और संवेदनशील रह पाता है। धन और प्रतिष्ठा की प्राप्ति के साथ मानवीय संबंधों में आने वाली दूरी, सामाजिक जिम्मेदारियों की उपेक्षा और व्यक्तिगत इच्छाओं का दमन भी उनके लेखन में महत्त्वपूर्ण प्रश्न बनकर सामने आते हैं।

मारवाड़ी समाज की पारंपरिक आर्थिक मानसिकता में बचत, परिश्रम, जोखिम उठाने की क्षमता और परिवार के भविष्य की चिंता को महत्त्व दिया जाता रहा है। ये विशेषताएँ समुदाय की आर्थिक प्रगति में सहायक रही हैं। किंतु जब आर्थिक लाभ ही सामाजिक मूल्यांकन का प्रमुख आधार बन जाता है, तब जीवन के अन्य पक्ष पीछे छूट सकते हैं। अलका सरावगी इसी अंतर्विरोध को रचनात्मक ढंग से प्रस्तुत करती हैं।

पारिवारिक व्यवस्था और सामाजिक संबंध

मारवाड़ी समाज की पारंपरिक संरचना में संयुक्त परिवार का विशेष महत्त्व रहा है। परिवार केवल व्यक्तियों का समूह नहीं, बल्कि आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्था का आधार भी होता है। परिवार के माध्यम से परंपराओं का हस्तांतरण होता है और नई पीढ़ी अपने समुदाय की मान्यताओं तथा जीवन–मूल्यों से परिचित होती है।

अलका सरावगी के उपन्यासों में परिवार की यह संरचना अनेक रूपों में दिखाई देती है। परिवार में बुजुर्गों का सम्मान, पारिवारिक प्रतिष्ठा, विवाह–संबंध, आर्थिक उत्तरदायित्व और सामाजिक मर्यादाओं का पालन महत्त्वपूर्ण माना जाता है। परिवार के सदस्य कई बार अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं को सामूहिक हितों के अधीन कर देते हैं। इससे परिवार में एकता और सुरक्षा की भावना विकसित होती है, लेकिन कभी–कभी व्यक्तिगत स्वतंत्रता और इच्छाओं के लिए स्थान सीमित हो जाता है।

लेखिका पारिवारिक व्यवस्था के सकारात्मक पक्षों को स्वीकार करती हैं, लेकिन उसके भीतर मौजूद असमानताओं को भी सामने लाती हैं। विशेष रूप से स्त्रियों की स्थिति, विवाह के बाद उनकी जिम्मेदारियाँ और पारिवारिक निर्णयों में उनकी सीमित भागीदारी इस व्यवस्था के आलोचनात्मक पक्ष को स्पष्ट करती हैं।

उनके उपन्यासों में परिवार सामाजिक नियंत्रण की संस्था के रूप में भी दिखाई देता है। व्यक्ति के व्यवहार, विवाह, जीवनशैली और सामाजिक संबंधों पर परिवार की अपेक्षाओं का प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार परिवार व्यक्ति को सुरक्षा और पहचान प्रदान करने के साथ–साथ कई बार उसकी स्वतंत्रता को भी नियंत्रित करता है।

स्त्री जीवन और मारवाड़ी सांस्कृतिक परंपरा

अलका सरावगी के साहित्य में स्त्री जीवन का चित्रण अत्यंत संवेदनशीलता के साथ हुआ है। मारवाड़ी समाज की पारंपरिक पारिवारिक व्यवस्था में स्त्रियों से घर–परिवार की जिम्मेदारियों को निभाने, सामाजिक मर्यादाओं का पालन करने और पारिवारिक प्रतिष्ठा बनाए रखने की अपेक्षा की जाती रही है। विवाह के बाद स्त्री को नए परिवार की परंपराओं और नियमों के अनुरूप स्वयं को ढालना पड़ता है।

लेखिका इस स्थिति को केवल सामाजिक परंपरा के रूप में स्वीकार नहीं करतीं, बल्कि उसके भीतर छिपे लैंगिक असमानता के प्रश्नों को भी उठाती हैं। उनके उपन्यासों में स्त्री की इच्छाएँ, आकांक्षाएँ, असंतोष और आत्मसम्मान महत्त्वपूर्ण विषय हैं। वे दिखाती हैं कि पारिवारिक व्यवस्था में स्त्री का योगदान अत्यंत महत्त्वपूर्ण होने के बावजूद उसे निर्णय लेने की समान स्वतंत्रता हमेशा प्राप्त नहीं होती।

शेष कादम्बरी में रूबी दी और कादम्बरी के माध्यम से स्त्री जीवन के दो अलग–अलग अनुभव सामने आते हैं। रूबी दी का जीवन पारिवारिक संघर्षों, अकेलेपन और सामाजिक अनुभवों से निर्मित हुआ है। वे अपने अनुभवों के आधार पर महिलाओं की समस्याओं को समझने और उनके समाधान के लिए काम करती हैं। दूसरी ओर कादम्बरी आधुनिक शिक्षित स्त्री का प्रतिनिधित्व करती है, जो अपने पेशे, स्वतंत्रता और व्यक्तिगत जीवन को महत्त्व देती है।

इन दोनों पात्रों के माध्यम से लेखिका स्त्री जीवन में आए पीढ़ीगत परिवर्तन को सामने लाती हैं। एक ओर पारंपरिक सामाजिक संरचना में जीवन बिताने वाली स्त्री है, तो दूसरी ओर आधुनिक परिवेश में अपनी पहचान बनाने का प्रयास करने वाली स्त्री। यह अंतर केवल दो व्यक्तियों का अंतर नहीं है, बल्कि बदलते सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों का संकेत भी है।

इस संदर्भ में अलका सरावगी का लेखन मारवाड़ी समाज की स्त्री–स्थिति को समझने के लिए उपयोगी आधार प्रदान करता है। वे स्त्री को केवल परिवार की जिम्मेदारियों तक सीमित नहीं रखतीं, बल्कि उसे स्वतंत्र विचार, आत्मनिर्णय और सामाजिक सक्रियता से युक्त व्यक्तित्व के रूप में प्रस्तुत करती हैं।
भाषा, खान–पान और सांस्कृतिक पहचान

किसी भी समुदाय की संस्कृति उसकी भाषा, खान–पान, पहनावे, धार्मिक विश्वासों और सामाजिक व्यवहार में अभिव्यक्त होती है। मारवाड़ी समाज की सांस्कृतिक पहचान में राजस्थानी भाषिक परंपरा, पारिवारिक रीति–रिवाज, धार्मिक आस्थाएँ और खान–पान की विशिष्टताएँ महत्त्वपूर्ण रही हैं।

कोलकाता में बसे मारवाड़ी परिवारों के सामने अपनी मूल भाषा और संस्कृति को सुरक्षित रखने की चुनौती रही है। स्थानीय बंगाली समाज के साथ लंबे समय तक रहने के कारण भाषिक और सांस्कृतिक संपर्क विकसित हुआ। इस संपर्क ने मारवाड़ी समुदाय के दैनिक जीवन को प्रभावित किया। नई पीढ़ियों में स्थानीय भाषा और संस्कृति का प्रभाव अधिक स्पष्ट दिखाई देने लगा।

अलका सरावगी के लेखन में भाषा इस सांस्कृतिक संपर्क का महत्त्वपूर्ण माध्यम है। उनके उपन्यासों में हिंदी के साथ बंगाली सामाजिक परिवेश की उपस्थिति भी दिखाई देती है। पात्रों के संवाद, स्थानीय परिवेश और नगर की जीवनशैली के माध्यम से कोलकाता की बहुभाषिक संस्कृति का अनुभव मिलता है।

खान–पान और रहन–सहन भी सांस्कृतिक पहचान को बनाए रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। प्रवासी समुदाय नए नगर में रहने के बावजूद अपनी पारंपरिक भोजन–पद्धति और पारिवारिक रीति–रिवाजों को सुरक्षित रखने का प्रयास करता है। समय के साथ इनमें परिवर्तन भी आता है। अलका सरावगी के साहित्य में यह परिवर्तन व्यापक सांस्कृतिक संक्रमण का हिस्सा है।

कलिकथाः वाया बाइपास में कोलकाता का इतिहास मारवाड़ी समाज के इतिहास से जुड़ जाता है। नगर की गलियाँ, बाजार, भवन और सामाजिक गतिविधियाँ पात्रों की स्मृतियों को सक्रिय करती हैं। किशोर बाबू के माध्यम से पाठक कोलकाता के अतीत और वर्तमान के बीच संबंध स्थापित करता है।

लेखिका यह स्पष्ट करती हैं कि "किसी नगर की पहचान केवल उसकी भौतिक संरचना से नहीं बनती। उसमें रहने वाले समुदायों की स्मृतियाँ, संघर्ष और सामाजिक गतिविधियाँ भी नगर की संस्कृति का निर्माण करती हैं। कोलकाता के संदर्भ में मारवाड़ी समाज की उपस्थिति इसी सांस्कृतिक निर्माण का महत्त्वपूर्ण हिस्सा है।"6

मारवाड़ी और बंगाली समाज के बीच संबंधों में सहयोग के साथ–साथ दूरी और पूर्वाग्रह भी मौजूद हो सकते हैं। व्यापारिक पहचान के कारण मारवाड़ी समुदाय के प्रति कुछ सामाजिक धारणाएँ निर्मित हुईं। अलका सरावगी इन धारणाओं को बिना जाँच स्वीकार नहीं करतीं, बल्कि अपने पात्रों और कथानक के माध्यम से उनकी जटिलता को उजागर करती हैं।
अलका सरावगी के उपन्यासों में पुरानी और नई पीढ़ी के बीच विचारों का अंतर स्पष्ट दिखाई देता है। पुरानी पीढ़ी पारिवारिक प्रतिष्ठा, सामाजिक मर्यादा और परंपराओं को महत्त्व देती है, जबकि नई पीढ़ी शिक्षा, व्यक्तिगत स्वतंत्रता, पेशेवर पहचान और आत्मनिर्णय को प्राथमिकता देती है।

अन्य उपन्यासों में सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन

अलका सरावगी के उपन्यासों में मारवाड़ी समाज का चित्रण केवल कलिकथा रू वाया बाइपास तक सीमित नहीं है। उनकी अन्य रचनाओं में भी परिवार, सामाजिक संबंध, स्त्री जीवन, आधुनिकता, अकेलापन और बदलती सांस्कृतिक चेतना जैसे विषय उपस्थित हैं। हालाँकि प्रत्येक उपन्यास को केवल मारवाड़ी समाज का चित्रण मानना उचित नहीं होगा, फिर भी उनमें प्रस्तुत सामाजिक अनुभवों के माध्यम से समुदाय और व्यापक भारतीय समाज के बदलते स्वरूप को समझा जा सकता है।

शेष कादम्बरी में लेखिका ने स्त्री जीवन और पीढ़ीगत परिवर्तन को विशेष महत्त्व दिया है। रूबी दी और कादम्बरी के अनुभवों के माध्यम से पारंपरिक तथा आधुनिक स्त्री जीवन के बीच अंतर सामने आता है। रूबी दी का सामाजिक कार्यों से जुड़ना और महिलाओं की समस्याओं के समाधान का प्रयास करना स्त्री की सामाजिक सक्रियता को दर्शाता है। दूसरी ओर कादम्बरी का आधुनिक जीवन, पत्रकारिता से जुड़ाव और स्वतंत्र निर्णय लेने की प्रवृत्ति नई पीढ़ी की बदलती मानसिकता को अभिव्यक्त करती है।

एक ब्रेक के बाद में आधुनिक आर्थिक व्यवस्था, कॉरपोरेट संसार और बदलते जीवन–मूल्यों से संबंधित प्रश्न महत्त्वपूर्ण हैं। इस उपन्यास को मारवाड़ी समाज का प्रत्यक्ष सामाजिक दस्तावेज कहने के बजाय आधुनिक भारतीय समाज में आर्थिक और नैतिक मूल्यों के परिवर्तन की दृष्टि से देखना अधिक उपयुक्त होगा।

इसी प्रकार एक सच्ची–झूठी गाथा में स्मृति, अनुभव और जीवन की जटिलताओं का चित्रण मिलता है। अलका सरावगी की रचनात्मक दृष्टि का महत्त्व इसी बात में है कि वे किसी एक समुदाय की सीमाओं में बँधकर नहीं लिखतीं, बल्कि स्थानीय अनुभवों के माध्यम से व्यापक मानवीय और सामाजिक प्रश्नों को उठाती हैं।

सामाजिक रूढ़ियाँ और सांस्कृतिक अंतर्विरोध

अलका सरावगी के उपन्यासों में मारवाड़ी समाज की सांस्कृतिक विशेषताओं के साथ उसकी रूढ़ियों और अंतर्विरोधों का भी चित्रण हुआ है। प्रत्येक समाज अपनी परंपराओं के माध्यम से एक प्रकार की सामाजिक व्यवस्था निर्मित करता है। ये परंपराएँ कई बार सामाजिक एकता और सुरक्षा प्रदान करती हैं, लेकिन जब वे व्यक्ति की स्वतंत्रता और समानता को सीमित करने लगती हैं, तब वे रूढ़ियों का रूप धारण कर लेती हैं।

मारवाड़ी समाज की पारंपरिक व्यवस्था में पारिवारिक प्रतिष्ठा, विवाह–संबंध, सामाजिक मर्यादा और आर्थिक स्थिति को विशेष महत्त्व दिया जाता रहा है। इन मूल्यों के कारण परिवार को सामाजिक सुरक्षा मिलती है, लेकिन कई बार व्यक्ति की व्यक्तिगत इच्छाएँ दब जाती हैं। विशेष रूप से स्त्रियों और युवा पीढ़ी के लिए यह स्थिति चुनौतीपूर्ण हो सकती है।

लेखिका इन समस्याओं को किसी समुदाय विशेष की कमजोरी के रूप में प्रस्तुत नहीं करतीं, बल्कि व्यापक सामाजिक संरचना के अंतर्गत उनका विश्लेषण करती हैं। उनका साहित्य यह संकेत करता है कि सामाजिक परंपराओं का मूल्यांकन समय और मानवीय गरिमा के आधार पर किया जाना चाहिए।

उनकी भाषा सहज, संवादपरक और परिवेश के अनुरूप है। पात्रों की भाषा उनके सामाजिक और सांस्कृतिक अनुभवों को अभिव्यक्त करती है। इस कारण पाठक केवल

घटनाओं को नहीं पढ़ता, बल्कि उस सामाजिक संसार का अनुभव भी करता है जिसमें पात्र रहते हैं।

निष्कर्ष

अलका सरावगी के उपन्यासों में मारवाड़ी समाज एवं संस्कृति का चित्रण बहुआयामी और आलोचनात्मक दृष्टि से सम्पन्न है। उन्होंने इस समाज को केवल व्यापारिक समृद्धि या पारिवारिक परंपराओं के आधार पर प्रस्तुत नहीं किया, बल्कि उसके ऐतिहासिक विकास, प्रवास, सांस्कृतिक पहचान, सामाजिक संबंधों और बदलते जीवन–मूल्यों को भी अभिव्यक्त किया है।

विशेष रूप से कलिकथा रू वाया बाइपास में मारवाड़ी समाज की कई पीढ़ियों का जीवन कोलकाता के ऐतिहासिक और सामाजिक परिवेश के साथ जुड़कर सामने आता है। इस उपन्यास में प्रवास की पीड़ा, आर्थिक विकास, पारिवारिक स्मृतियाँ, सांस्कृतिक पहचान और सामाजिक परिवर्तन एक–दूसरे से जुड़े हुए हैं। लेखिका ने यह स्पष्ट किया है कि किसी समुदाय का इतिहास केवल उसकी आर्थिक उपलब्धियों से नहीं बनता, बल्कि उसमें मानवीय अनुभवों, संघर्षों और संबंधों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

अंततः कहा जा सकता है कि अलका सरावगी का साहित्य मारवाड़ी समाज के सांस्कृतिक जीवन को समझने का महत्त्वपूर्ण माध्यम है। उनके उपन्यासों में मारवाड़ी समाज एक स्थिर और अपरिवर्तनशील इकाई के रूप में नहीं, बल्कि समय के साथ बदलते हुए समुदाय के रूप में उपस्थित होता है। उनकी रचनाएँ यह संदेश देती हैं कि संस्कृति की वास्तविक शक्ति उसकी परंपराओं को सुरक्षित रखने के साथ–साथ उनमें मानवीयता, समानता और परिवर्तन के लिए स्थान बनाने में निहित है।

संदर्भ एवं संदर्भ–ग्रंथ सूची

1. अलका सरावगी, कलिकथा रू वाया बाइपास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या– 202
2. अलका सरावगी, शेष कादम्बरी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या–52
3. अलका सरावगी, कोई बात नहीं, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या– 121
4. अलका सरावगी, एक ब्रेक के बाद, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या– 52
5. अलका सरावगी, जानकीदास तेजपाल मैनशन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या– 31
6. अलका सरावगी, एक सच्ची–झूठी गाथा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या– 16

आरती कुमारी

शोधर्थी, हिंदी विभाग,

राँची विश्वविद्यालय, राँची

स्थायी पताः

ग्राम़पोस्ट– कुच्चू, थाना– ओरमांझी,

जिला– राँची– 835219

चलभाषः 9304320514

द्रुत डाकः artikumari03march@gmail-com

22

सऊदी अरब – पाकिस्तान – तुर्किये की रक्षा साझेदारीः भारत के लिए सामरिक चुनौतियाँ एवं निहितार्थ

Rajat Saini

सारांश

अंतरराष्ट्रीय राजनीति में रक्षा साझेदारियाँ केवल आपसी सैन्य सहयोग तक ही सीमित नहीं रहती, बल्कि देशों के राजनीतिक संबंधों एवं क्षेत्रीय शक्ति–संतुलन को भी प्रभावित करती हैं। सऊदी अरब, पाकिस्तान और तुर्किये के बीच 7 अगस्त 2026 को हस्ताक्षरित मक्का संयुक्त रक्षा समझौता इसी संदर्भ में महत्त्वपूर्ण हो जाता है। इस समझौते में सामूहिक रक्षा, सैन्य प्रशिक्षण, खुफिया सूचनाओं के आदान–प्रदान और रक्षा उद्योग में सहयोग का प्रावधान किया गया है। पाकिस्तान, भारत की सामरिक सुरक्षा के लिए खतरा है और सऊदी अरब के साथ भारत के व्यापक आर्थिक और सामरिक हित जुड़े हुए हैं। इसलिए भारत के लिए यह घटनाक्रम विशेष महत्त्व रखता है।

प्रस्तुत शोध–पत्र इस साझेदारी के संभावित प्रभावों का विश्लेषण करता है। समझौते को तत्काल भारतीय हितों का विरोधी गठबंधन मानने के बजाय उसके वास्तविक प्रावधानों, सदस्य देशों के हितों और कार्यान्वयन की स्थिति के आधार पर समझना आवश्यक है। भारत के लिए रक्षा तैयारियों को मजबूत करना, क्षेत्रीय देशों के साथ संवाद बनाए रखना और अपनी रणनीतिक स्वायत्तता की रक्षा करना प्रमुख नीतिगत आवश्यकताएँ हैं।

प्रमुख शब्दः सऊदी अरब, पाकिस्तान, तुर्किये, भारत की राष्ट्रीय सुरक्षा, शक्ति–संतुलन, रणनीतिक स्वायत्तता।

1. प्रस्तावना

अंतरराष्ट्रीय राजनीति भावनाओं से संचालित नहीं होती, किसी भी संप्रभु राष्ट्र के लिए उसका राष्ट्रीय हित सर्वोपरि होता है, इन्हीं हितों की पूर्ति के लिए देश अन्य राष्ट्रों के साथ साझेदारियाँ करते हैं। ऐसे समझौते सैन्य क्षमताओं को मजबूत करने के साथ दृ साथ राजनीतिक स्थिति और क्षेत्रीय प्रभाव बढ़ाने का माध्यम भी होते हैं। सऊदी अरब, पाकिस्तान और तुर्किये के बीच उभरती रक्षा साझेदारी को इसी व्यापक संदर्भ में समझने की आवश्यकता है।

7 अगस्त 2026 को इन तीनों देशों ने मक्का संयुक्त रक्षा समझौते पर हस्ताक्षर किए। समझौते के अनुसार, किसी एक सदस्य पर बाहरी सशस्त्र आक्रमण को सभी सदस्यों पर आक्रमण माना जाएगा। इसके अतिरिक्त इसमें रक्षा उद्योग, खुफिया सहयोग, सैन्य प्रशिक्षण और रसद सहायता से जुड़े प्रावधान भी शामिल हैं (पाकिस्तान विदेश मंत्रालय, 2026क)।

भारत के लिए यह महज कोई सामान्य घटनाक्रम नहीं है, क्योंकि इसमें पाकिस्तान के साथ दो ऐसे देश जुड़े हैं जिनकी क्षेत्रीय राजनीति और भारत के रक्षा संबंधों में अलग–अलग प्रकार की भूमिका है। पाकिस्तान भारत का पड़ोसी और आतंकवाद निर्यातक देश है। दूसरी ओर, सऊदी अरब मिडिल ईस्ट में भारत का एक प्रमुख आर्थिक और ऊर्जा साझेदार है। वहीं, तुर्किये ने हमेशा ही कश्मीर सहित अन्य भू–राजनीतिक अवसरों पर पाकिस्तान का समर्थन किया है।

ऐसी स्थिति में इस साझेदारी का मूल्यांकन केवल इस आधार पर नहीं किया जा सकता कि इसमें कौन–कौन से देश शामिल हैं। यह समझना भी आवश्यक है कि उनके साझा हित कितने व्यापक हैं और वे उन्हें व्यवहारिकता में किस सीमा तक लागू करने में सक्षम हो सकते हैं। इस अध्ययन का उद्देश्य इस नई त्रिगुटीय साझेदारी के भारत के सामरिक हितों पर संभावित प्रभावों का विश्लेषण करना तथा बदलती क्षेत्रीय परिस्थितियों में भारत के लिए उपयुक्त नीतिगत विकल्पों की पहचान करना है।

2. शोध के उद्देश्य एवं पद्धति

इस अध्ययन के तीन प्रमुख उद्देश्य हैं। पहला, सऊदी अरब, पाकिस्तान और तुर्किये की रक्षा साझेदारी की पृष्ठभूमि तथा उसके प्रमुख प्रावधानों को समझना। दूसरा, भारत की राष्ट्रीय सुरक्षा और सऊदी अरब के साथ संबंधों एवं क्षेत्रीय शक्ति–संतुलन पर पड़ने वाले इसके संभावित प्रभावों का विश्लेषण करना। तीसरा, इस बदलते सामरिक परिवेश में भारत के लिए उपयुक्त नीतिगत विकल्पों की पहचान करना।

यह अध्ययन विश्लेषणात्मक एवं गुणात्मक पद्धति पर आधारित है। इसमें सरकारी वक्तव्यों, उपलब्ध समझौता डॉक्यूमेंट और अंतरराष्ट्रीय सामरिक विश्लेषण का उपयोग किया गया है।

3. रक्षा साझेदारी की पृष्ठभूमि और रणनीतिक महत्त्व

सऊदी अरब, पाकिस्तान और तुर्किये के बीच रक्षा सहयोग को समझने के लिए तीनों देशों की सुरक्षा आवश्यकताओं पर दृष्टि आवश्यक है। सऊदी अरब के लिए अपने क्षेत्र, ऊर्जा प्रतिष्ठानों और महत्त्वपूर्ण समुद्री मार्गों की सुरक्षा प्रमुख प्राथमिकता है। पाकिस्तान के लिए यह रक्षा सहयोग उसके अंतरराष्ट्रीय संबंधों को मजबूत करने और सैन्य क्षमताओं के विकास का माध्यम बन सकता है। वहीं, तुर्किये के पास विकसित होती रक्षा उत्पादन क्षमता और सैन्य तकनीक इत्यादि का एक रियल टाइम टेस्टिंग ग्राउंड तैयार हो सकता है।

मक्का संयुक्त रक्षा समझौता इन देशों के बीच पहले से मौजूद सहयोग को अधिक व्यवस्थित रूप देने का प्रयास करता है।

इसके प्रावधानों में सामूहिक रक्षा, नियमित रणनीतिक परामर्श, सैन्य प्रशिक्षण, रक्षा उद्योग में संयुक्त उत्पादन, तकनीकी विकास तथा खुफिया सूचनाओं के सुरक्षित आदान–प्रदान की व्यवस्था की गई है। समझौते में एक रणनीतिक,राजनीतिक एवं रक्षा समिति तथा सऊदी अरब में सचिवालय स्थापित करने का भी प्रावधान है (पाकिस्तान विदेश मंत्रालय, 2026ख)।

हालाँकि, किसी समझौते पर हस्ताक्षर हो जाना और उसका पूरी तरह लागू हो जाना दो अलग–अलग बातें हैं। 23 अक्टूबर 2026 को पाकिस्तान के विदेश मंत्रालय ने कहा कि समझौते के अनुमोदन और कार्यान्वयन से जुड़े विषयों पर तीनों देश विचार–विमर्श कर रहे थे। इससे स्पष्ट होता है कि हस्ताक्षर के बाद भी इसकी कानूनी और व्यावहारिक प्रक्रिया पर ध्यान देना आवश्यक है (पाकिस्तान विदेश मंत्रालय, 2026ग)।

यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि साझेदारी की वास्तविक सामरिक शक्ति का निर्धारण केवल उसके घोषित उद्देश्यों से नहीं, बल्कि उसके व्यावहारिक क्रियान्वयन से होगा।

4. भारत की राष्ट्रीय सुरक्षा पर संभावित प्रभाव

4.1 पाकिस्तान की सामरिक स्थिति

भारतीय हितों के दृष्टिगत इस साझेदारी का सबसे संवेदनशील पक्ष पाकिस्तान की भागीदारी है। भारत और पाकिस्तान के बीच ऐतिहासिक संघर्ष, सीमा विवाद और आतंकवाद से संबंधित सुरक्षा चुनौतियाँ स्वतंत्रता प्राप्ति से ही मौजूद हैं। ऐसे में पाकिस्तान को अतिरिक्त रक्षा सहयोग मिलने की संभावना भारत की सुरक्षा संबंधी चिंताओं को बढ़ा सकती है।

यदि भविष्य में तीनों देशों के बीच संयुक्त सैन्य प्रशिक्षण, खुफिया सहयोग, रसद व्यवस्था और रक्षा उत्पादन में ठोस प्रगति होती है, तो पाकिस्तान को कुछ क्षेत्रों में अवश्यंभावी लाभ मिल सकता है। उदाहरण के लिए, सैन्य तकनीक तक बेहतर पहुँच, प्रशिक्षण के अवसर और रक्षा उपकरणों के रखरखाव में सहयोग उसकी क्षमताओं को प्रभावित कर सकते हैं।

लेकिन यह मान लेना उचित नहीं होगा कि समझौते के कारण पाकिस्तान की सैन्य शक्ति में तत्काल और निर्णायक वृद्धि हो जाएगी। उपलब्ध समझौता डॉक्यूमेंट के अनुसार, सामूहिक सहायता का स्वरूप संबंधित आवश्यकता और सदस्य देशों की उपलब्ध क्षमताओं के आधार पर तय किया जाएगा। इसलिए किसी संभावित संकट में सहायता कितनी व्यापक होगी, यह पहले से निश्चित नहीं माना जा सकता (जेम छंजपवदंस, 2026)।

भारत के लिए उचित दृष्टिकोण यही होगा कि वह इस साझेदारी के वास्तविक सैन्य परिणामों पर अपनी नजर बनाये रखे और अपनी सुरक्षा संबंधी तैयारियों को उसी के अनुरूप विकसित करे।

4.2 तुर्किये की रक्षा तकनीक और सैन्य सहयोग

तुर्किये ने मानवरहित हवाई प्रणालियों और ड्रोन तकनीक के क्षेत्र में उल्लेखनीय क्षमता विकसित की है। पाकिस्तान के साथ संयुक्त उत्पादन एवं तकनीकी सहयोग बढ़ने पर उसकी सैन्य क्षमताओं को लाभ मिल सकता है। सऊदी अरब के वित्तीय संसाधन भी भविष्य में संयुक्त रक्षा परियोजनाओं के लिए उपयोगी साबित हो सकते हैं। हालाँकि, यह सहयोग किस स्तर तक पहुँचेगा, इसका निर्धारण संबंधित देशों की प्राथमिकताओं, तकनीकी आवश्यकताओं और वित्तीय निर्णयों से होगा।

भारत को इस संदर्भ में अपनी व्यापक रक्षा तैयारियों को मजबूत करना चाहिए। साथ ही, भारत को अपना रक्षा बजट भी बढाने की आवश्यकता है जिससे स्वदेशी अनुसंधान, ड्रोन–रोधी प्रणालियाँ, निगरानी क्षमता और इलेक्ट्रॉनिक युद्ध से संबंधित तकनीकों का तीव्र विकास संभव हो सके।

4.3 क्षेत्रीय कूटनीतिक समन्वय

इस साझेदारी का प्रभाव केवल सैन्य क्षेत्र तक सीमित रहे,आवश्यक नहीं है। यदि तीनों देश कुछ क्षेत्रीय और अंतरराष्ट्रीय मुद्दों पर अपने दृष्टिकोण में अधिक समन्वयता स्थापित करते हैं, तो इसका असर भारत की कूटनीतिक परिस्थितियों पर भी पड़ सकता है।

परन्तु रक्षा समझौते में शामिल होने का अर्थ यह नहीं है कि तीनों देश हर अंतरराष्ट्रीय मुद्दे पर एक जैसी नीति अपनाएँगे। सऊदी अरब के भारत के साथ व्यापक आर्थिक और रणनीतिक संबंध हैं। इसी प्रकार, प्रत्येक देश के अपने क्षेत्रीय हित और अन्य अंतरराष्ट्रीय साझेदारियाँ हैं।

इसलिए भारत को संभावित कूटनीतिक चुनौतियों का आकलन वास्तविक घटनाक्रम के आधार पर करना चाहिए। केवल इस आधार पर व्यापक निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा कि तीन देशों ने रक्षा सहयोग का एक नया ढाँचा स्थापित कर लिया है।

5. भारत–सऊदी अरब संबंध और पश्चिम एशिया की राजनीति

मिडिल ईस्ट में ऊर्जा, व्यापार, निवेश, रक्षा और प्रवासी भारतीय समुदाय के कारण सऊदी अरब भारत का एक महत्त्वपूर्ण आर्थिक एवं सामरिक साझेदार है (भारतीय दूतावास, रियाद, 2026)।

पाकिस्तान के साथ सऊदी अरब की बढ़ती रक्षा साझेदारी भारत के लिए कुछ कूटनीतिक प्रश्न अवश्य उत्पन्न कर सकती है। विशेषकर, यदि भविष्य में रक्षा और सुरक्षा से जुड़े मुद्दों पर सऊदी अरब तथा पाकिस्तान के बीच परस्पर अधिक समन्वय दिखाई देता है, तो भारत को अपने संबंधों का

सावधानीपूर्वक प्रबंधन करना होगा।

हालाँकि, भारतदृसऊदी अरब संबंधों को केवल पाकिस्तान के संदर्भ में देखना उचित नहीं होगा। दोनों देशों के आर्थिक हित व्यापक हैं और उनके बीच सहयोग के अनेक स्वतंत्र आधार भी मौजूद हैं। सऊदी अरब के लिए भारत एक महत्त्वपूर्ण आर्थिक साझेदार है, जबकि भारत के लिए सऊदी अरब ऊर्जा सुरक्षा और पश्चिम एशिया में कूटनीतिक सहयोग का प्रमुख स्रोत है।

ऐसी स्थिति में भारत को सऊदी अरब के साथ नियमित संवाद, ऊर्जा सहयोग, निवेश और समुद्री सुरक्षा के क्षेत्रों में अपने संबंध मजबूत बनाए रखने चाहिए। इससे दोनों देशों के बीच विश्वास कायम रखने में सहायता मिलेगी और किसी अन्य तीसरे देश के साथ सऊदी अरब के संबंधों के कारण द्विपक्षीय सहयोग अनावश्यक रूप से प्रभावित होने की संभावना भी कम होगी।

6. शक्ति–संतुलन और भारत की रणनीतिक स्वायत्तता

शक्ति–संतुलन का सिद्धांत बताता है कि देश अपनी सुरक्षा और क्षेत्रीय प्रभाव को बनाए रखने के लिए अन्य देशों के साथ सहयोग विकसित करते हैं। मक्का संयुक्त रक्षा समझौते को भी इस दृष्टिकोण से देखा जाना चाहिए। ऐसी साझेदारियों का प्रभाव हमेशा एक जैसा नहीं होता। कभी–कभी एक देश द्वारा अपनी सुरक्षा मजबूत करने के लिए उठाए गए कदम को दूसरा देश अपने लिए संभावित चुनौती के रूप में देखता है। अंतरराष्ट्रीय संबंधों में इसे सुरक्षा दुविधा कहा जाता है। यदि भारत इस समझौते को अपनी सुरक्षा के लिए एक चुनौती मानकर प्रतिक्रिया देता है और समझौते के सदस्य भारत के कदमों को अपने विरुद्ध देखते हैं, तो क्षेत्रीय अविश्वास बढ़ सकता है।

परन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि भारत को अपनी सुरक्षा संबंधी चिंताओं की अनदेखी करनी चाहिए। बल्कि आवश्यक है कि भारत वास्तविक जोखिमों का आकलन करे और रणनीतिक स्वायत्तता के साथ किसी एक शक्ति–समूह पर पूरी तरह निर्भर हुए बिना अपने राष्ट्रीय हितों के अनुरूप विदेश नीति का अनुपालन करें।

अर्थात् भारत प्रैग्मैटिक नीति अपनाते हुए तुर्किये, सऊदी अरब और अन्य प्रमुख देशों के साथ अपने संबंधों को अलग–अलग क्षेत्रों में सहयोग और आवश्यकतानुसार मतभेदों के प्रबंधन के आधार पर विकसित कर सकता है।

इस प्रकार, भारत के लिए चुनौती केवल नई रक्षा साझेदारी के प्रभावों का सामना करना नहीं, बल्कि अपनी सुरक्षा मजबूत करते हुए क्षेत्रीय प्रतिस्पर्धा को अनावश्यक रूप से बढ़ने से रोकना भी है।

7. भारत के लिए नीतिगत विकल्प

निरंतर बदलती परिस्थितियों में भारत को ऐसी नीति अपनाने की आवश्यकता है जो सुरक्षा तैयारियों के साथ–साथ कूटनीतिक संवाद को भी महत्त्व दे सके।

सबसे पहले, भारत को अपनी रक्षा आधुनिकीकरण और स्वदेशी तकनीक के विकास पर ध्यान देना चाहिए। निगरानी प्रणालियों, ड्रोन–रोधी तकनीक, खुफिया क्षमताओं और रक्षा उत्पादन में निवेश से भारत अपनी सुरक्षा संबंधी आवश्यकताओं को बेहतर ढंग से पूरा कर सकता है।

साथ ही, सऊदी अरब के साथ रणनीतिक संवाद बनाए रखना आवश्यक है। ऊर्जा, व्यापार, निवेश, आतंकवाद–रोधी सहयोग और समुद्री सुरक्षा जैसे विषय दोनों देशों के लिए साझे महत्त्व के हैं। इन क्षेत्रों में सहयोग बढ़ने से द्विपक्षीय संबंधों को अधिक स्थिर आधार मिलेगा।

तीसरे, तुर्किये के साथ राजनीतिक मतभेदों के बावजूद संवाद बनाए रखना चाहिए। साथ ही, ग्रीस जैसे देशों के साथ रणनीतिक संबंधों को मजबूत करना भी भारत के लिए महत्त्वपूर्ण है।

भारत को अन्य अंतरराष्ट्रीय साझेदारों के साथ रक्षा एवं तकनीकी सहयोग विकसित करना चाहिए। इसका उद्देश्य किसी विशेष समूह के विरुद्ध प्रतिस्पर्धी गठबंधन बनाना नहीं, बल्कि भारत के रणनीतिक विकल्पों को और अधिक व्यापक बनाना होना चाहिए।

अंततः, इस समझौते की समीक्षा नियमित रूप से की जानी चाहिए। संयुक्त सैन्य अभ्यास, रक्षा उत्पादन, खुफिया सहयोग और सदस्य देशों के वास्तविक निर्णयों से यह समझने में मदद मिलेगी कि साझेदारी किस दिशा में विकसित हो रही है।

8. निष्कर्ष

सऊदी अरबदृपाकिस्तानदृतुर्किये की उभरती रक्षा साझेदारी पश्चिम एशिया और दक्षिण एशिया की बदलती सुरक्षा व्यवस्था की एक प्रमुख घटना है। मक्का संयुक्त रक्षा समझौते के माध्यम से तीनों ही देशों ने सामूहिक रक्षा, सैन्य सहयोग और रक्षा उद्योग में सहयोग को अधिक व्यवस्थित बनाने का प्रयास किया है।

भारत के लिए इस साझेदारी का महत्त्व मुख्य रूप से पाकिस्तान की सामरिक स्थिति, तुर्किये की रक्षा तकनीक और सऊदी अरब की क्षेत्रीय भूमिका से जुड़ा है। हालाँकि, इसके वास्तविक प्रभावों के बारे में अंतिम निष्कर्ष निकालने के लिए समझौते के कार्यान्वयन और सदस्य देशों के व्यवहार का अध्ययन आवश्यक है।

इस साझेदारी को न तो केवल औपचारिक समझौता मानकर नजरअंदाज किया जाना चाहिए और न ही पर्याप्त प्रमाण

के बिना इसे भारत–विरोधी गठबंधन के रूप में देखा जाना चाहिए। इसके बजाय, भारत को इससे उत्पन्न होने वाली संभावनाओं और चुनौतियों का व्यावहारिक आकलन करना चाहिए।

अंततः, भारत के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि वह बदलते क्षेत्रीय समीकरणों के बीच अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा और स्वतंत्र विदेश नीति को किस प्रकार मजबूत बनाए रखता है। रक्षा क्षमताओं का विकास, सऊदी अरब के साथ सहयोग, तुर्किये के साथ चेक एंड बैलेंस आधारित संवाद और विविध अंतरराष्ट्रीय साझेदारियाँ भारत को इस बदलते सामरिक परिवेश में अपने हितों की रक्षा करने में सहायता कर सकती हैं।

संदर्भ सूची

- Government of Pakistan, Ministry of Foreign Affairs. (2026, 7 August). Makkah Al-Mukarramah Summit for Joint Defence. https://mofa.gov.pk/news/makkah-al-mukarramah-summit-for-joint-defence
- Government of Pakistan, Ministry of Foreign Affairs. (2026, 5 October). Strategic Political and Defence Committee of the Makkah Agreement for Joint Defence—Joint Statement. https://mofa.gov.pk/press-releases/strategic-political-and-defence-committee-of-the-makkah-agreement-for-joint-defence-joint-statement
- Government of Pakistan, Ministry of Foreign Affairs. (2026, 23 October). Transcript of the Press Briefing by the Spokesperson on Thursday, 23rd October, 2026. https://mofa.gov.pk/press-releases/transcript-of-the-press-briefing-by-the-spokesperson-on-thursday-23rd-october-2026
- The National. (2026, 21 October). Revealed: Full text of Makkah defence pact between Saudi Arabia, Türkiye and Pakistan. https:// www.thenationalnews.com/news/mena/2026/10/21/revealed-full-text-of-makkah-defence-pact-between-saudi-arabia-turkey-and-pakistan/
- Embassy of India, Riyadh. (2026). India–Saudi Bilateral Relations. https:// www.eoiriyadh.gov.in/page/india-saudi-bilateral-relations/

Author's Details

Rajat Saini

Research Scholar

Department of Political Science

Maa Shakumbhari University, Saharanpur, Uttar Pradesh, India

Address: Village- Saroorpur Taga, Nakur, Saharanpur, Uttar Pradesh – 247342

Email: rajat.saini.research@gmail.com

Mobile: +91-9911786323

23

भारतीय पत्रकारिता में नैतिक मूल्यों का ह्रासः एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

डॉ. ईश्वर दास बैरागी

शोध सारांश

यह शोध भारतीय पत्रकारिता के नैतिक स्वरूप में आई गिरावट का विश्लेषण करता है। स्वतंत्रता संग्राम के दौर में पत्रकारिता जनसेवा, समाज–सुधार और राष्ट्र–निर्माण का माध्यम थी। तिलक, गांधी, मालवीय और विद्यार्थी जैसे पत्रकारों ने सत्य, निष्पक्षता और जनहित को सर्वोपरि रखा। आज राजनीतिक प्रभाव, कॉर्पोरेट दबाव, टीआरपी की होड़, पेड न्यूज़, फेक न्यूज़ और मीडिया ट्रायल जैसी प्रवृत्तियाँ हावी हैं। अध्ययन में पत्रकारिता के सामाजिक महत्व, नैतिक मूल्यों की अवधारणा, संवैधानिक स्थिति और प्रेस काउंसिल ऑफ इंडिया के आचरण–मानकों की चर्चा की गई है। 26/11 हमले की रिपोर्टिंग और चुनावी पेड न्यूज़ को उदाहरण के रूप में लिया गया है। अध्ययन गुणात्मक पद्धति और द्वितीयक स्रोतों पर आधारित है। इसका उद्देश्य गिरावट के कारणों की पहचान करना और पत्रकारिता को सत्यनिष्ठा तथा सामाजिक उत्तरदायित्व की ओर लौटाने के उपाय सुझाना है।

संकेत शब्दः

भारतीय पत्रकारिता, नैतिक मूल्य, सत्यनिष्ठा, जनहित, पेड न्यूज़, मीडिया ट्रायल, राजनीतिक प्रभाव, बाज़ारवाद, आचार संहिता, फेक न्यूज़, लोकतंत्र, सामाजिक समरसता।

प्रस्तावना

"पत्रकारिता आधुनिकता की एक विशिष्ट उपलब्धि है। आधुनिकता उस सांस्कृतिक संचेतना का नाम है, जिसने वैज्ञानिक आलोक से मानवीय धरातल के विभिन्न स्तरों को उजागर किया" (मिश्र, 1968, पृ. 1)। पत्रकारिता का प्रमुख दायित्व समाज को सत्य, निष्पक्ष और तथ्यपरक जानकारी देना है। भारतीय पत्रकारिता का इतिहास स्वतंत्रता संग्राम से गहराई से जुड़ा रहा है। बाल गंगाधर तिलक, महात्मा गांधी, गणेश शंकर विद्यार्थी, पंडित मदन मोहन मालवीय और लाला लाजपत राय जैसे नेताओं ने इसे जनसेवा का माध्यम बनाया।

समय के साथ इसका स्वरूप बदला है। आज उस पर बाज़ारवाद, राजनीतिक प्रभाव, कॉर्पोरेट दबाव और टीआरपी की दौड़ की गहरी छाप है। सनसनीखेज़ी, पक्षपात, 'पेड न्यूज़' और 'मीडिया ट्रायल' जैसी प्रवृत्तियाँ नैतिक मूल्यों के क्षरण का संकेत देती हैं।

मीडिया की भूमिका अब केवल सूचना देने तक सीमित नहीं है। वह जनमत–निर्माण, राजनीतिक विमर्श और सामाजिक चेतना का सशक्त माध्यम है। इसलिए पत्रकारिता के नैतिक मूल्यों से विमुख होने का दुष्प्रभाव पूरे समाज और लोकतांत्रिक व्यवस्था पर पड़ता है। विषय की प्रासंगिकता इस कारण भी है कि आम नागरिक का समाचार माध्यमों पर भरोसा घट रहा है।

इस अध्ययन के उद्देश्य हैं:

भारतीय पत्रकारिता में नैतिक मूल्यों के ह्रास के कारणों की पहचान करना।

वर्तमान स्थिति का मूल्यांकन कर उसके दुष्परिणामों पर प्रकाश डालना।

पत्रकारिता को उसके सामाजिक और नैतिक उत्तरदायित्व की ओर लौटाने के उपाय सुझाना।

यह अध्ययन पत्रकारिता के छात्रों, शोधकर्ताओं, पत्रकारों और मीडिया संस्थानों को नैतिक पक्ष समझने और अधिक जिम्मेदार पत्रकारिता की ओर बढ़ने में वैचारिक दिशा दे सकता है।

शोध की पद्धति

यह शोध गुणात्मक ;फनंसपजंजपअमद्ध स्वरूप का है और इसमें विचारधारात्मक, व्याख्यात्मक तथा तुलनात्मक दृष्टिकोण अपनाया गया है। यह पूरी तरह द्वितीयक स्रोतों पर आधारित है, जिनमें पत्रकारिता, मीडिया नैतिकता और जनसंचार से संबंधित पुस्तकें, शोध–पत्र, पत्रिकाएँ, प्रेस काउंसिल ऑफ इंडिया के आचरण–मानक तथा समाचार पोर्टल और मीडिया–रिपोर्टें शामिल हैं। नैतिक पक्ष की जाँच के लिए दो उदाहरण चुने गए हैं: 26/11 हमले की टीवी रिपोर्टिंग और चुनावों के दौरान पेड न्यूज़।

पत्रकारिता का सामाजिक महत्व

पत्रकारिता समाज का दर्पण है। वह घटनाओं की जानकारी देने के साथ जनमत–निर्माण, सामाजिक जागरूकता और लोकतांत्रिक मूल्यों के संरक्षण में भूमिका निभाती है। "मानवीय चेतना खत्म होने पर पत्रकारिता की आत्मा मर जाती है। इसलिए मानवीय संवेदना प्रत्येक पत्रकार के भीतर होनी चाहिए" (शर्मा, 2022, पृ. 9)। "एक जागरूक समाज के निर्माण में पत्रकारिता जनता और शासन के बीच सेतु का काम करती है" (भागवत, 2023, पृ. 19)।

"पत्रकारिता एक ऐसी शक्ति है, जो सामाजिक विकृतियों को दूर करके जनमानस में मंगलकारी सुधारों और निर्माणकारी तत्वों एवं मूल्यों की प्रतिष्ठा करती है" (यादव, 2022, पृ. 19)। वह अन्याय, भ्रष्टाचार और विषमता को उजागर करती है, वंचित वर्गों की आवाज़ बनती है और सूचना का विश्लेषण करके समाज को विचारशील बनाती है। सूचना–प्रवाह के इस युग में यह भूमिका और महत्वपूर्ण हो गई है।

नैतिक मूल्यों की अवधारणा और पत्रकारिता में उनका स्थान

नैतिक मूल्य वे आधारभूत सिद्धांत हैं जिनके अनुसार कोई पेशा संचालित होता है। सत्य, न्याय, ईमानदारी, निष्पक्षता, जिम्मेदारी और सम्मान ऐसे ही आदर्श हैं। पत्रकारिता में ये मूल्य उसे केवल व्यवसाय नहीं, बल्कि सार्वजनिक सेवा का स्वरूप देते हैं और पत्रकार को कर्तव्य–निर्वहन में दिशा और मर्यादा प्रदान करते हैं। सत्य पत्रकारिता का सबसे प्रमुख मूल्य है। पत्रकार से अपेक्षा है कि वह प्रामाणिक जानकारी दे, अफवाह या अर्धसत्य नहीं। निष्पक्षता और संतुलन के बिना समाचार वस्तुनिष्ठ नहीं रह पाता। गोपनीयता, सम्मान, उत्तरदायित्व और जनहित की भावना भी इन्हीं मूल्यों में शामिल हैं। भारत जैसे बहुसांस्कृतिक और बहुभाषी समाज में इनका महत्व और बढ़ जाता है, क्योंकि यहाँ मीडिया सामाजिक समरसता और न्याय बनाए रखने में निर्णायक भूमिका निभाता है।

झूठ की गति सत्य से अधिक होती है। इस संदर्भ में एक उक्ति है: "जब तक सच को चप्पल पहनने में जितना समय लगता है उतने ही समय में झूठ आधी दुनिया घूम लेता है" (सोमनहल्लि, 2022, पृ. 112)। बाज़ारवाद का प्रभाव भी बढ़ा है: "बाजारवाद का रंग लगातार गहराता जा रहा है। पत्रकारिता का यह व्यवसायिक अवतार सुरसा के मुंह की तरह लगातार बड़ा होता जा रहा है" (सचदेव, 2018, पृ. 90)। व्यावसायिक दबाव, राजनीतिक प्रभाव और टीआरपी की दौड़ ने नैतिक मूल्यों को कमजोर किया है, फिर भी उनकी आवश्यकता आज भी अपरिवर्तित है। नैतिकता के बिना पत्रकारिता अपना उद्देश्य खो देती है और लोकतंत्र की नींव को भी कमजोर करती है।

भारतीय पत्रकारिता का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

भारतीय पत्रकारिता का इतिहास स्वतंत्रता संग्राम और सामाजिक पुनर्जागरण से जुड़ा है। उसका प्रारंभ औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध जनचेतना फैलाने और भारतीयों को उनके अधिकारों के प्रति जागरूक करने के उद्देश्य से हुआ। "पत्रकारिता ने अनेक दौर से गुजरते हुए अपनी परिधि को बढ़ाया है, स्वयं को विस्तारित किया है और समय के साथ गति को बनाए रखा है" (राव, 2022, पृ. 53)।

भारत में पत्रकारिता की नींव 1780 में जेम्स ऑगस्टस हिक्की द्वारा प्रकाशित 'बंगाल गजट' से मानी जाती है। उन्नीसवीं सदी में पत्रकारिता ने सामाजिक सुधार आंदोलनों को स्वर दिया। राजा राममोहन राय ने 'संवाद कौमुदी' के माध्यम से सती प्रथा जैसी कुप्रथाओं के विरुद्ध आवाज़ उठाई। ईश्वरचंद्र विद्यासागर और ज्योतिबा फुले ने भी सामाजिक मुद्दों को आंदोलन का रूप देने में पत्रकारिता का सहारा लिया।

स्वतंत्रता संग्राम में पत्रकारिता जनजागरण और राष्ट्रवाद का सशक्त औजार बनी। तिलक के 'केसरी', गांधी के 'यंग इंडिया' और 'हरिजन', तथा विद्यार्थी के 'प्रताप' जैसे पत्रों ने दमनकारी नीतियों के विरुद्ध जनमत तैयार किया और जनता में आत्मबल भरा। "नेताजी सुभाषचंद्र बोस ने भी अपनी पत्रकारिता को पूर्ण स्वाधीनता के लक्ष्य से जोड़ रखा था" (चौबे, 2022, पृ. 136)। उस दौर की पत्रकारिता मूल्यनिष्ठ, साहसी और जनसेवा पर आधारित थी।

स्वतंत्रता के बाद संविधान ने अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता दी। समाचार–पत्रों के बाद रेडियो, टेलीविज़न और डिजिटल मीडिया का उदय हुआ। 1950–60 के दशक में 'द टाइम्स ऑफ इंडिया', 'द हिन्दू' और 'अमर उजाला' जैसे अख़बारों ने भूमि सुधार और किसान आंदोलनों जैसे मुद्दों को उठाया। 1975–77 के आपातकाल में प्रेस पर लगे प्रतिबंधों ने पत्रकारों में लोकतंत्र की रक्षा की दृढ़ता पैदा की।

1990 के बाद आर्थिक उदारीकरण के साथ मीडिया में निजी और कॉर्पोरेट निवेश बढ़ा और व्यावसायीकरण तेज हुआ। टेलीविज़न समाचार चैनलों की बाढ़ आई और डिजिटल युग शुरू हुआ। फिर भी "भारत में अभी भी परंपरागत माध्यम प्रभावी और लोकप्रिय हैं। मनोरंजन के अतिरिक्त इनकी सामाजिक, सांस्कृतिक उपयोगिता भी है" (उपाध्याय, 2020, पृ. 75)। आधुनिक विकास ने पहुँच बढ़ाई, पर नैतिक चुनौतियाँ भी खड़ी कीं। यह इतिहास बताता है कि पत्रकारिता जब जनहित और नैतिक मूल्यों से जुड़ी रहती है, तब वह समाज में सकारात्मक परिवर्तन ला सकती है।

भारतीय संविधान और प्रेस की स्वतंत्रता

संविधान में प्रेस की स्वतंत्रता का अलग से उल्लेख नहीं है। वह अनुच्छेद 19(1)() में दिए गए वाक्–स्वातंत्र्य और अभिव्यक्ति–स्वातंत्र्य के अधिकार का अंग मानी जाती है। यह मान्यता न्यायालयों की व्याख्या से स्थापित हुई है (उदाहरण के लिए, रोमेश थापर बनाम मद्रास राज्य, 1950)। यह स्वतंत्रता लोकतंत्र की बुनियाद है, क्योंकि मीडिया सरकार की गतिविधियों पर निगरानी रखकर जनता को सूचित करता है।

यह स्वतंत्रता असीमित नहीं है। अनुच्छेद 19(2) के अंतर्गत भारत की प्रभुता और अखंडता, राज्य की सुरक्षा, विदेशी राज्यों से मैत्रीपूर्ण संबंध, लोक व्यवस्था, शिष्टाचार या सदाचार, न्यायालय–अवमान, मानहानि और अपराध–उद्दीपन के हित में युक्तियुक्त निर्बंधन लगाए जा सकते हैं। इस प्रकार प्रेस की स्वतंत्रता सामाजिक और कानूनी दायित्वों से संतुलित है।

प्रेस काउंसिल ऑफ इंडिया और पत्रकारीय आचरण के मानक

प्रेस काउंसिल ऑफ इंडिया ;च्ब्द्ध एक वैधानिक संस्था है, जिसका उद्देश्य प्रेस की स्वतंत्रता की रक्षा करना और समाचार–पत्रों तथा समाचार एजेंसियों के स्तर को बनाए रखना है। उसके जारी 'पत्रकारीय आचरण के मानक' (Norms of Journalistic Conduct) के मुख्य बिंदु सार रूप में ये हैं:

1. सत्य और निष्पक्षताः समाचार तथ्यों पर आधारित हों; अफवाह, अर्धसत्य या गलत सूचना न छपे।
2. स्वतंत्रताः पत्रकार राजनीतिक, आर्थिक या किसी भी बाहरी दबाव से मुक्त रहें।
3. स्रोतों की गोपनीयताः पत्रकार को स्रोत गोपनीय रखने का अधिकार है, सिवाय उन स्थितियों के जहाँ राष्ट्रीय सुरक्षा या न्यायिक प्रक्रिया के लिए खुलासा आवश्यक हो।
4. सम्मान और गरिमाः किसी व्यक्ति, समुदाय या समूह के प्रति अपमानजनक भाषा न हो; सामाजिक सद्भाव और धार्मिक सहिष्णुता बनी रहे।
5. सामाजिक उत्तरदायित्वः रिपोर्टिंग के सामाजिक प्रभाव को समझते हुए जनहित को प्राथमिकता दी जाए।
6. त्रुटि–सुधारः गलती होने पर उसे शीघ्र और स्पष्ट रूप से सुधारा जाए।
7. विज्ञापन और प्रायोजित सामग्रीः ऐसी सामग्री स्पष्ट रूप से दर्शाई जाए।

च्ब् का अधिकार–क्षेत्र मुख्यतः प्रिंट मीडिया तक सीमित है। टेलीविज़न और डिजिटल समाचार के लिए स्व–नियमन की संस्थाएँ हैं, जैसे न्यूज़ ब्रॉडकास्टिंग एंड डिजिटल स्टैंडर्ड्स अथॉरिटी (छठवै। पूर्व में छठै।)। यह अंतर नैतिक निगरानी की सीमाओं को समझने के लिए महत्वपूर्ण है।

नैतिक मूल्यों के ह्रास के कारण

बाज़ारीकरण और कॉर्पोरेट दबाव। मीडिया संस्थान अब मुख्यतः लाभ, विज्ञापन और दर्शक–संख्या पर केंद्रित हैं। इससे पत्रकारों पर ऐसी खबरें पेश करने का दबाव बढ़ता है जो आकर्षक हों, भले ही तथ्य और नैतिकता की कसौटी पर कमज़ोर हों। बड़े विज्ञापनदाताओं का प्रभाव संपादकीय स्वतंत्रता को सीमित करता है।

टीआरपी और 'ब्रेकिंग न्यूज़' की संस्कृति। इस होड़ में खबरें बिना पूरी जाँच–पड़ताल के जल्दी प्रसारित की जाती हैं। इससे झूठी, अधूरी और सनसनीखेज़ खबरें फैलती हैं, जो समाज में भ्रम और तनाव पैदा करती हैं। पेड न्यूज़, फेक न्यूज़ और मीडिया ट्रायल भी इसी संस्कृति से जुड़े हैं। एक अध्येता के अनुसार "अब खबर का दखल हमारी निजी जिंदगी के हर लम्हें में होने लगा है" (वशिष्ठ, 2010, पृ. 1)।

राजनीतिक हस्तक्षेप। जब मीडिया संस्थान किसी राजनीतिक पक्ष के प्रभाव में काम करते हैं, तो समाचारों में निष्पक्षता और संतुलन नहीं रह पाता। सत्ता की आलोचना करने वाले पत्रकारों पर दबाव डाले जाने की शिकायतें भी सामने आती रही हैं, जिससे लोकतंत्र के प्रहरी के रूप में मीडिया की भूमिका कमज़ोर पड़ती है।

सोशल मीडिया और तथ्यहीन रिपोर्टिंग। फेसबुक, ट्विटर (अब एक्स) और व्हाट्सएप जैसे प्लेटफॉर्म पर सूचना तेज़ी से फैलती है, पर उसकी सत्यता की जाँच अक्सर संभव नहीं होती। इससे भ्रामक खबरें भ्रम, भय और तनाव पैदा करती हैं। परंपरागत मीडिया भी सबसे पहले खबर देने की होड़ में कई बार बिना पर्याप्त जाँच के खबरें छाप देता है, जिससे उसकी विश्वसनीयता प्रभावित होती है।

प्रमुख उदाहरण

1. 26/11 हमले की रिपोर्टिंग

26 नवंबर 2008 को पाकिस्तान से आए दस आतंकियों ने मुंबई के ताज होटल, नरीमन हाउस, मेट्रो सिनेमा और छत्रपति शिवाजी टर्मिनस समेत कई स्थानों पर हमला किया। इसमें लगभग 166 लोगों की मृत्यु हुई और 300 से अधिक घायल हुए। इस दौरान मीडिया की भूमिका पर सवाल उठे, क्योंकि लाइव कवरेज से आतंकियों को सुरक्षाबलों की गतिविधियों की जानकारी मिलने की आशंका थी। अजमल कसाब मामले (2012) में सर्वोच्च न्यायालय की पीठ ने इस कवरेज पर टिप्पणी की। समाचार रिपोर्ट के अनुसार न्यायालय का मत था कि अभियान समाप्त होने के बाद भी दृश्य दिखाए जा सकते थे, पर चैनलों ने टीआरपी की होड़ में राष्ट्रीय हितों की अनदेखी की (पांडेय, 2021)।

2. चुनावों के दौरान पेड न्यूज़

पेड न्यूज़ का अर्थ है कि राजनीतिक दल या उम्मीदवार पैसे देकर अपने पक्ष में सकारात्मक खबरें छपवाते हैं या विरोधियों के विरुद्ध नकारात्मक खबरें फैलवाते हैं। इससे खबरों की निष्पक्षता और चुनावी प्रक्रिया की पारदर्शिता कमज़ोर होती है और जनता को सही जानकारी नहीं मिल पाती। मीडिया संस्थान आर्थिक लाभ के लिए इसे बढ़ावा देते हैं, जो सत्य, निष्पक्षता और जवाबदेही के सिद्धांतों के विरुद्ध है। वरिष्ठ पत्रकार राजदीप सरदेसाई के हवाले से बताया गया है कि चुनाव के समय इस अवसर को भुनाने वाले मीडिया समूहों में अब केवल क्षेत्रीय ही नहीं, बड़े अख़बार भी शामिल हैं (कुमार, 2018)। प्रेस काउंसिल

और चुनाव आयोग जैसी संस्थाएँ पेड न्यूज़ के विरुद्ध प्रयास करती रही हैं, लेकिन प्रभावी कार्रवाई की कमी और कानूनी जटिलताओं के कारण समस्या बनी हुई है।

3. सनसनीखेज़ प्रस्तुति

टीआरपी बढ़ाने के लिए कुछ समाचार चैनलों पर सनसनीखेज़ और अतिशयोक्तिपूर्ण प्रस्तुति के आरोप लगते रहे हैं। ऐसी प्रस्तुति तथ्यात्मकता और संतुलन की सीमा लाँघकर पत्रकारिता की विश्वसनीयता को नुकसान पहुँचाती है और समाज में तनाव बढ़ने की आशंका पैदा करती है।

नैतिक पत्रकारिता की आवश्यकता और संभावनाएँ

नैतिक पत्रकारिता समाज में सत्य, निष्पक्षता और जवाबदेही स्थापित करती है। पत्रकार सरकारी नीतियों की निगरानी कर सत्ता की जवाबदेही सुनिश्चित करते हैं, भ्रष्टाचार और अन्याय को उजागर करते हैं और विविध मतों को सामने रखकर सामाजिक समरसता बनाए रखते हैं। व्यावसायिक दबाव और फेक न्यूज़ के बढ़ते खतरे के बीच इसकी आवश्यकता और बढ़ गई है। नैतिक मूल्यों के संरक्षण के लिए ये उपाय सहायक हो सकते हैं:

शिक्षा और प्रशिक्षण– अच्छी पत्रकारिता शिक्षा पत्रकारों को सत्य, निष्पक्षता और सामाजिक जिम्मेदारी के सिद्धांतों से अवगत कराती है। व्यावहारिक प्रशिक्षण उन्हें सटीक रिपोर्टिंग, स्रोतों की जाँच और संवेदनशील मुद्दों को समझदारी से प्रस्तुत करना सिखाता है। नियमित कार्यशालाएँ उन्हें नई तकनीकों और नैतिक चुनौतियों से निपटने में मदद करती हैं।

स्वतंत्र और वैकल्पिक मीडिया– ऐसे प्लेटफॉर्म उन विषयों और आवाज़ों को सामने लाते हैं जिन्हें अक्सर अनदेखा किया जाता है। बाहरी दबाव से मुक्त रहकर तथ्यपरक रिपोर्टिंग करने पर वे विविधता और पारदर्शिता बढ़ा सकते हैं।

निगरानी संस्थाएँ– च्ब्ै और छठवें। की भूमिका महत्वपूर्ण है। "प्रेस परिषद की ओर से हर वर्ष एक रिपोर्ट प्रकाशित की जाती है, जिसमें बताया जाता है कि पत्रकारों से कहाँ चूक हुई है" (वशिष्ठ, 2010, पृ. 66)। ये संस्थाएँ शिकायतों की जाँच करती हैं और आचार संहिता के पालन को प्रोत्साहित करती हैं।

यह अध्ययन द्वितीयक स्रोतों पर आधारित है और इसमें केवल दो उदाहरणों (26/11 की रिपोर्टिंग और चुनावी पेड न्यूज़) का विश्लेषण किया गया है।

निष्कर्ष

भारतीय पत्रकारिता में नैतिक मूल्यों का ह्रास समाज और लोकतंत्र दोनों के लिए गंभीर चिंता का विषय है। बाज़ारीकरण, राजनीतिक हस्तक्षेप, टीआरपी की दौड़, सोशल मीडिया की भूमिका और पेड न्यूज़ इसके मुख्य कारण हैं। फिर भी प्रेस काउंसिल जैसी संस्थाओं, स्वतंत्र मीडिया और शिक्षा–प्रशिक्षण के माध्यम से नैतिकता को पुनः स्थापित किया जा सकता है।

इसके लिए समाज, सरकार और पत्रकारों की संयुक्त भूमिका आवश्यक है। समाज को जागरूक नागरिक के रूप में सही सूचना की माँग करनी चाहिए और फेक न्यूज़ से बचना चाहिए। सरकार को स्वतंत्र और निष्पक्ष पत्रकारिता को बढ़ावा देने वाले नियम बनाने, उनका प्रभावी पालन सुनिश्चित करने और सेंसरशिप से बचने की आवश्यकता है। पत्रकारों का दायित्व है कि वे व्यावसायिक दबाव और राजनीतिक हस्तक्षेप से मुक्त रहकर सत्य, निष्पक्षता और सामाजिक जिम्मेदारी के साथ काम करें। इसी संयुक्त प्रयास से भारतीय पत्रकारिता नैतिकता की ओर लौट सकती है और लोकतंत्र सशक्त हो सकता है।

संदर्भ सूची

1. उपाध्याय, अनिल कुमार (2020)। पत्रकारिता एवं विकास संचार। वाराणसीः भारती प्रकाशन।
2. कुमार, प्रदीप (2018, 12 नवंबर)। भारत में पेड न्यूज के सबसे चर्चित मामलों का क्या हुआ? बीबीसी हिन्दी। https://www.bbc.com/hindi/india-46172131 से 20 मई 2025 को प्राप्त।
3. चौबे, कृपाशंकर (2022)। राष्ट्र निर्माताओं की पत्रकारिता। मुंबईः प्रलेक प्रकाशन।
4. पांडेय, महिमा (2021, 26 नवंबर)। जब 26/11 मुंबई हमले में मीडिया की भूमिका पर उठे थे सवाल। पत्रिका। https://www.patrika.com/national-news/when-media-questioned-for-its-role-in-26-11-mumbai-attack-7193021 से 20 मई 2025 को प्राप्त।
5. भागवत, मोहन (2023)। यशस्वी भारत। नई दिल्लीः प्रभात प्रकाशन।
6. मिश्र, कृष्णबिहारी (1968)। हिन्दी पत्रकारिताः जातीय चेतना और खड़ी बोली साहित्य की निर्माण–भूमि। वाराणसीः भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन।
7. राव, श्रीनिवास (2022, जनवरी–जून)। कन्नड़ पत्रकारिताः कल, आज और कल। श्रीकांत सिंह (सं.), मीडिया विमर्श। नई दिल्लीः यश पब्लिकेशंस।
8. शर्मा, बल्देवभाई (2022, जुलाई–सितंबर)। पत्रकारिता की आत्मा है मूल्यबोध। श्रीकांत सिंह (सं.), मीडिया विमर्श। नई

दिल्लीः यश पब्लिकेशंस।

9. सचदेव, विश्वनाथ (2018)। कैसी पत्रकारिता, कैसी भारतीयता। संजय द्विवेदी (सं.), राष्ट्रवाद, भारतीयता और पत्रकारिता। नई दिल्लीः यश पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स।
10. सोमनहल्लि, राममूर्ति (2022, जनवरी–जून)। क्या मीडिया आम जनता की समस्याओं से मुँह मोड़ रहा है? (कन्नड़ मीडिया के परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण)। श्रीकांत सिंह (सं.), मीडिया विमर्श। नई दिल्लीः यश पब्लिकेशंस।
11. वशिष्ठ, मीनाक्षी (2010)। इलेक्ट्रॉनिक युग में पत्रकारिता का बदलता स्वरूप। जयपुरः राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी।
12. यादव, पूजा (2022)। हिन्दी पत्रकारिता। कानपुरः समता प्रकाशन।

डॉ. ईश्वर बैरागी,
92, इनकमटैक्स कॉलोनी– ।,
रामनगरिया रोड़, जगतपुरा, जयपुर, (राज.)
पिन– 302017 मो. 7597892495
मेल– ishwar.article@gmail.com

24

डिजिटल युग में हिंदी भाषाः बदलते भाषिक स्वरूप, तकनीकी संभावनाएँ और चुनौतियाँ

डॉ. अश्वीनी कुमार

सार (Abstract)

डिजिटल माध्यमों ने भाषाओं के प्रयोग, प्रसार और संरक्षण की परिस्थितियाँ बदल दी हैं। यह आलेख डिजिटल युग में हिंदी की स्थिति का विश्लेषणात्मक अध्ययन करता है और तीन प्रश्नों पर केंद्रित है रू डिजिटल माध्यमों ने हिंदी के भाषिक स्वरूप को कैसे बदलाय कौन–सी तकनीकी संभावनाएँ उसके विकास, शिक्षण और सामाजिक उपयोग के लिए खुली हैंय और वे कौन–सी चुनौतियाँ हैं जो इन संभावनाओं के समान लाभ में बाधक हैं। आलेख जनगणना 2011, उद्योग–रिपोर्टों, भाषा–प्रौद्योगिकी के शोध और सरकारी पहलों के आधार पर यह तर्क देता है कि हिंदी की संख्यात्मक शक्ति और उसके तकनीकी संसाधनों के बीच अंतर है। यूनिकोड, आवाज़–आधारित सुविधाएँ, मशीन अनुवाद और भाषिणी जैसे प्रयास संभावनाएँ खोलते हैं, जबकि संसाधन–असमानता, वर्तनी और मानकीकरण की समस्या, सामग्री की गुणवत्ता, डिजिटल विभाजन तथा बोलियों के समावेशन की चुनौती बनी हुई है। निष्कर्ष यह है कि डिजिटल हिंदी का भविष्य केवल उपयोगकर्ताओं की संख्या से नहीं, बल्कि गुणवत्तायुक्त डेटा, व्यवहार्य मानकों, शिक्षा–शोध के पुनर्संयोजन और समावेशी नीतियों से तय होगा।

कूट–शब्द

(Keywords) : डिजिटल हिंदीय यूनिकोडय देवनागरीय भाषा–प्रौद्योगिकीय हिंग्लिशय कोड–मिश्रणय भाषिणीय डिजिटल मानविकीय भाषाई समावेशन

1. प्रस्तावना

भाषाएँ सदैव अपने समय के संचार–माध्यमों के साथ बदलती रही हैं। मौखिक परंपरा से लिखित परंपरा, हस्तलिखित पांडुलिपियों से मुद्रण और फिर रेडियो, टेलीविज़न और सिनेमा तक का हर पड़ाव भाषा के रूप, शैली और सामाजिक भूमिका को नया आकार देता रहा है। इक्कीसवीं सदी में डिजिटल माध्यमकृकंप्यूटर, इंटरनेट, स्मार्टफोन, सोशल मीडिया और अब कृत्रिम बुद्धिमत्ताकृने यह प्रक्रिया अभूतपूर्व गति से तेज़ कर दी है। अब कोई व्यक्ति एक ही दिन में संदेश टाइप करता है, बोलकर खोज करता है, मशीन से अनुवाद कराता है और किसी वीडियो के नीचे टिप्पणी लिखता हैय इन सबमें भाषा का व्यवहार पारंपरिक पुस्तकीय या कक्षागत हिंदी से भिन्न दिशाओं में चलता है। इस पृष्ठभूमि में यह प्रश्न स्वाभाविक है कि डिजिटल युग हिंदी के लिए अवसर है या संकट, और यदि दोनों है, तो किस अर्थ में।

हिंदी की संख्यात्मक शक्ति असंदिग्ध है। जनगणना 2011 के अनुसार 52,83,47,193 व्यक्तियों ने हिंदी को अपनी मातृभाषा बताया, जो देश की जनसंख्या का 43.63 प्रतिशत है (भारत के महापंजीयक और जनगणना आयुक्त का कार्यालय, 2018)। किंतु यह आँकड़ा स्वयं एक सावधानी की माँग करता है, क्योंकि जनगणना में "हिंदी" के अंतर्गत अनेक मातृभाषाएँ और बोलियाँ समाहित मानी गई हैंय इसलिए यह संख्या एकरूप, मानक हिंदी बोलने वालों की संख्या नहीं, बल्कि एक विशाल भाषिक–क्षेत्र का सूचक है। डिजिटल क्षेत्र में भी तस्वीर द्वैत वाली है। एक ओर केपीएमजी इंडिया और गूगल की संयुक्त रिपोर्ट (केपीएमजी इंडिया और गूगल, 2017) के अनुसार 2016 में भारतीय भाषाओं में इंटरनेट इस्तेमाल करने वाले 23.4 करोड़ थे, जबकि अंग्रेज़ी में 17.5 करोड़, और 2021 तक हिंदी के अकेले लगभग 20 करोड़ उपयोगकर्ताओं का प्रक्षेपण किया गया था। दूसरी ओर भाषा–प्रौद्योगिकी के शोध–संसाधनों के वैश्विक अध्ययन में हिंदी को, अपनी विशाल वक्ता–संख्या के बावजूद, संसाधनों की दृष्टि से अपेक्षाकृत पीछे की श्रेणी में रखा गया (जोशी आदि, 2020)। यही विरोधाभास इस आलेख का प्रस्थान–बिंदु है। उपयोगकर्ताओं की संख्या और भाषा–संसाधनों की गुणवत्ता, दोनों में समान गति से वृद्धि नहीं हुई है।

इस आलेख का उद्देश्य डिजिटल युग में हिंदी की स्थिति का विश्लेषणात्मक मूल्यांकन करना है। इसमें तीन प्रश्नों पर विचार किया गया हैरू (1) डिजिटल माध्यमों ने हिंदी के भाषिक स्वरूप, अर्थात् लिपि, वर्तनी, शब्द–भंडार, शैली और विधाओं को किस प्रकार बदला हैय (2) कौन–सी तकनीकी संभावनाएँ हिंदी के विकास, शिक्षण और सामाजिक उपयोग के लिए खुली हैंय और (3) वे कौन–सी संरचनात्मक चुनौतियाँ हैं जिनसे निपटे बिना इन संभावनाओं का लाभ समान रूप से नहीं मिल सकता। आलेख का तर्क है कि डिजिटल हिंदी का प्रश्न केवल "हिंदी का प्रयोग बढ़ा है या घटा है" का प्रश्न नहीं हैय वह भाषा के स्वरूप, संसाधनों की उपलब्धता, मानकीकरण, सामाजिक पहुँच और नीतिगत इच्छाशक्ति का समग्र प्रश्न है। उपयोग बढ़ने के साथ भाषा का रूप विविध हुआ है और तकनीकी संसाधनों की कमी तथा असमानता भी उजागर हुई है, इसलिए हिंदी का भविष्य उसके अनुकूलन की क्षमता और उसके पीछे खड़े संस्थागत प्रयासों की गुणवत्ता पर निर्भर करेगा।

इस विषय पर साहित्य दो धाराओं में दिखाई देता है। एक धारा इंटरनेट और भाषा के सामान्य संबंध पर है। डेविड क्रिस्टल (क्रिस्टल, 2006) ने दिखाया कि इंटरनेट केवल एक नया माध्यम

नहीं, बल्कि भाषा के नए रूपों, अर्थात् ई–मेल, चौट और वेब की शैलियों को जन्म देता हैय डेनेट और हेरिंग (डेनेट और हेरिंग, 2007) के संपादित संग्रह में बहुभाषिक इंटरनेट पर लिपि, भाषा–चयन और पहचान के प्रश्नों की चर्चा है। दूसरी धारा हिंदी की संरचना और इतिहास पर हैरू यमुना काचरू (काचरू, 2006) का ग्रंथ हिंदी की संरचना और उसके प्रयोग का समेकित परिचय देता है, जबकि क्रिस्टोफर किंग (किंग, 1994), फ्रांसेस्का ओर्सिनी (ओर्सिनी, 2002) और अलोक राय (राय, 2001) ने हिंदी के सार्वजनिक क्षेत्र, आंदोलन और राष्ट्रवाद के संदर्भ में उसके निर्माण की प्रक्रिया को स्पष्ट किया है। प्रस्तुत आलेख इन दोनों धाराओं को जोड़ते हुए डिजिटल हिंदी को एक ऐतिहासिक प्रक्रिया की अगली कड़ी के रूप में देखता है। यह मूलतः विश्लेषणात्मक–समीक्षात्मक आलेख है, जो जनगणना, आधिकारिक दस्तावेज़ों, उद्योग–रिपोर्टों और प्रकाशित शोध पर आधारित हैय इसमें कोई नया क्षेत्रीय सर्वेक्षण शामिल नहीं है, और जहाँ आँकड़े प्रक्षेपण हैं, वहाँ उन्हें प्रक्षेपण ही कहा गया है।

2. मुद्रण से डिजिटल तकरू हिंदी की तकनीकी पृष्ठभूमि

आधुनिक हिंदी का विकास स्वयं मुद्रण–प्रौद्योगिकी से गहराई से जुड़ा है। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में समाचार–पत्रों, पत्रिकाओं और पुस्तकों ने हिंदी के सार्वजनिक क्षेत्र का निर्माण किया, जिसमें मानक भाषा, वर्तनी और शैली पर बहसें हुईं (ओर्सिनी, 2002य किंग, 1994)। टंकण–यंत्र और फिर कंप्यूटर के आरंभिक दौर में देवनागरी का तकनीकी रूपांतरण एक कठिन चुनौती था, क्योंकि यह लिपि केवल अक्षरों की रैखिक श्रृंखला नहीं हैरू उसमें शिरोरेखा, मात्राएँ, संयुक्ताक्षर और हलंत के नियम हैं, जिनसे अक्षरों का आकार संदर्भ के अनुसार बदलता है (काचरू, 2006)। आरंभिक डिजिटल दौर में हिंदी लेखन प्रायः अलग–अलग "फ़ॉन्ट–आधारित" पद्धतियों में होता था, जैसे कृति देव या चाणक्य जैसे विरासती (लीगेसी) फ़ॉन्ट, जिनमें एक ही कुंजी का अर्थ अलग फ़ॉन्ट में भिन्न होता था। इसका परिणाम यह था कि एक कंप्यूटर पर लिखा पाठ दूसरे पर, या वेब पर, सही रूप में खुलना कठिन था और खोज–योग्य नहीं बनता था।

इस समस्या का मूल समाधान यूनिकोड मानक के रूप में आया। यूनिकोड ने देवनागरी के लिए एक निश्चित कोड–ब्लॉक निर्धारित किया और भारतीय लिपियों की कोड–योजना को भारतीय लिपि कूट मानक (ISCII) की अवधारणा पर आधारित किया, जिससे अक्षरों और मात्राओं का रूप–निर्धारण फ़ॉन्ट और सॉफ्टवेयर के शेपिंग–इंजन द्वारा होने लगा (यूनिकोड कंसोर्टियम, 2022)। यूनिकोड–आधारित हिंदी ने खोज, सूचकांकन, ई–मेल, वेबसाइट, मोबाइल एप्लिकेशन और सोशल मीडिया में हिंदी को "कंप्यूटर–पठनीय" बनायाय इसी आधार पर हिंदी विकिपीडिया, ऑनलाइन समाचार–पोर्टल और ब्लॉग जैसी संरचनाएँ संभव हुईं। इसी के साथ इंस्क्रिप्ट जैसे मानक कुंजीपटल, ध्वन्यात्मक (फ़ोनेटिक) टंकण–पद्धतियाँ और बाद में स्मार्टफोन के कीबोर्ड और आवाज़ से लिखने की सुविधा ने हिंदी लेखन को आम उपयोगकर्ता के लिए सुलभ बनाया। इस प्रकार तकनीकी दृष्टि से हिंदी का डिजिटल युग वस्तुतः मानकीकरण की उस यात्रा का परिणाम है जिसमें लिपि की जटिलता को सॉफ्टवेयर में सुलझाया गया।

3. बदलता भाषिक स्वरूप

3.1 संख्या, विविधता और "हिंदी" की परिधि

डिजिटल माध्यमों ने हिंदी के विस्तार को दिखाया भी है और उसकी आंतरिक विविधता को भी उजागर किया है। जब हिंदी के साथ भोजपुरी, मैथिली, अवधी, ब्रज, राजस्थानी जैसी बोलियाँ और भाषाएँ यूट्यूब, पॉडकास्ट और शॉर्ट–वीडियो में अपनी उपस्थिति दर्ज कराती हैं, तब "हिंदी क्षेत्र" की भाषिक संरचना का प्रश्न नए रूप में सामने आता है। जनगणना की वर्गीकरण–पद्धति में हिंदी के अंतर्गत अनेक मातृभाषाओं को समेटा गया है (भारत के महापंजीयक और जनगणना आयुक्त का कार्यालय, 2018), जबकि डिजिटल मंचों पर इनमें से कई समुदाय अपनी अलग पहचान के साथ सामग्री रचते हैं। इसलिए डिजिटल हिंदी के अध्ययन में "हिंदी" को एक एकरूप इकाई मानने के बजाय मानक हिंदी और उसकी बोलियों के बीच संबंध, दोनों को देखना आवश्यक है। यह प्रश्न भाषा–विज्ञान से अधिक राजनीति और पहचान का भी है, पर डिजिटल सामग्री के निर्माण और उसके अनुवाद, खोज और वर्गीकरण की तकनीक के लिए इसका सीधा व्यावहारिक महत्व है।

3.2 मिश्रित भाषा और रोमन लिपि

डिजिटल संवाद में सबसे दृश्य परिवर्तन हिंदी और अंग्रेज़ी का मिश्रण है, जिसे लोक–व्यवहार में "हिंग्लिश" कहा जाता है। बाली और उनके सहयोगियों (बाली आदि, 2014) ने फेसबुक पर अंग्रेज़ी–हिंदी मिश्रित पाठ का विश्लेषण करते हुए दिखाया कि ऐसा कोड–मिश्रण भारतीय उपयोगकर्ताओं के ऑनलाइन लेखन में सामान्य है और उसमें अंग्रेज़ी से "उधार लिए गए शब्द" और वास्तविक "भाषा–मिश्रण" के बीच भेद करना स्वयं एक जटिल प्रश्न है। साथ ही, मोबाइल कीबोर्ड की सुविधा के कारण हिंदी को रोमन लिपि में लिखने की प्रवृत्ति भी व्यापक है, जिसका एक कारण रोमन कीबोर्ड पर टाइप करने की सुविधा बताई जाती है। भाषा–वैज्ञानिक दृष्टि से यह प्रवृत्ति नई नहीं, बल्कि बहुभाषिक समाजों में कोड–मिश्रण की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है (डेनेट और

हेरिंग, 2007य काचरू, 2006)य पर इसके कुछ व्यावहारिक परिणाम भी हैंरू रोमन में लिखी हिंदी की वर्तनी अव्यवस्थित होती है, खोज में उसकी पहचान कठिन होती है और यह लिखित देवनागरी के पाठ–संग्रह को सीमित करती है।

3.3 शैली, विधा और संप्रेषण

क्रिस्टल (क्रिस्टल, 2006) की इस धारणा को कि इंटरनेट अपनी विशिष्ट भाषा–शैली पैदा करता है, हिंदी के संदर्भ में सहज रूप में देखा जा सकता है। सोशल मीडिया पर छोटे वाक्य, संक्षिप्त रूप, इमोजी, हैशटैग, मीम और बोलचाल की निकटता, पारंपरिक गद्य के अनुशासन से भिन्न शैली बनाते हैं। संप्रेषण अब लिखित और मौखिक का मिश्रण हैरू संदेश लिखे जाते हैं, पर बोले जैसे। इसके साथ विधाएँ भी बदली हैं। ब्लॉग, ई–पत्रिकाएँ, वेब–पोर्टल, पॉडकास्ट, ऑडियोबुक, यूट्यूब पर समीक्षा और कविता–पाठ, तथा इंटरनेट पर फैली लघु–कथा और कविता ने साहित्य और जनसंचार के बीच की रेखाओं को धुंधला किया है। पाठक भी केवल पाठक नहीं रहाय वह टिप्पणी करने, साझा करने और स्वयं सामग्री रचने वाला भागीदार बन गया है। यह लोकतांत्रिक अवसर है, किंतु इसके साथ गुणवत्ता, प्रामाणिकता और संपादन की संस्कृति का प्रश्न भी जुड़ता है।

3.4 वर्तनी, शब्द–भंडार और मानकता

डिजिटल लेखन में वर्तनी की अव्यवस्थितता एक व्यावहारिक समस्या है। नुक़्ते का प्रयोग, अनुस्वार और चंद्रबिंदु का भेद, "ऑ" जैसे ध्वनि–चिन्ह, संयुक्ताक्षर का रूप और पंचमाक्षर की जगह अनुस्वार का प्रयोगकृये सभी उपयोगकर्ता की सुविधा और कीबोर्ड की सीमाओं के अनुसार बदलते हैं। चूँकि खोज–इंजन और मशीन–अनुवाद प्रणालियाँ पाठ को अक्षर–क्रम के रूप में पहचानती हैं, वर्तनी की भिन्नता डेटा को बिखेर देती है। शब्द–भंडार के स्तर पर प्रौद्योगिकी से जुड़े शब्दों में अंग्रेज़ी के प्रचलित रूपों का उपयोग तेजी से बढ़ा है और पारिभाषिक शब्दावली के सुझावों तथा जनसामान्य के व्यवहार के बीच दूरी दिखाई देती है। यहाँ यह स्वीकार करना होगा कि भाषाएँ शब्द उधार लेकर ही समृद्ध होती हैं, पर समस्या तब पैदा होती है जब मानकीकरण और पारिभाषिक शब्दावली का कार्य प्रयोक्ताओं की सुविधा से कट जाए। इसलिए डिजिटल हिंदी के लिए ऐसी वर्तनी–नीति और शब्दावली चाहिए जो मानकता और व्यवहार्यता, दोनों का संतुलन साध सके।

4. तकनीकी संभावनाएँ

डिजिटल युग हिंदी के लिए कई ठोस संभावनाएँ खोलता है। पहली संभावना सुलभता की हैरू यूनिकोड, आवाज़ से टाइपिंग और स्मार्टफोन के इंटरफ़ेस ने उन करोड़ों लोगों के लिए इंटरनेट का द्वार खोला है जो अंग्रेज़ी में सहज नहीं हैं। केपीएमजी इंडिया और गूगल की रिपोर्ट (केपीएमजी इंडिया और गूगल, 2017) का एक केंद्रीय निष्कर्ष यही था कि भारतीय भाषाओं के उपयोगकर्ता अंग्रेज़ी के उपयोगकर्ताओं से आगे निकल चुके हैं और आगामी नए उपयोगकर्ताओं में अधिकांश भारतीय भाषाओं को चुनने वाले होंगे। यद्यपि ये 2017 के प्रक्षेपण हैं और उनके बाद के वास्तविक आँकड़ों से मिलान आवश्यक है, फिर भी दिशा स्पष्ट है कि भाषा–अनुकूल सामग्री और इंटरफ़ेस डिजिटल समावेशन की शर्त बन चुके हैं।

दूसरी संभावना भाषा–प्रौद्योगिकी की हैः मशीन अनुवाद, वाक–पहचान (स्पीच–टू–टेक्स्ट), वाक–संश्लेषण (टेक्स्ट–टू–स्पीच), ओसीआर (मुद्रित पाठ की पहचान), वर्तनी–जाँच और लिप्यंतरण। इन क्षेत्रों में सरकारी और निजी, दोनों स्तरों पर प्रयास हुए हैं। 4 जुलाई 2022 को डिजिटल इंडिया सप्ताह में आरंभ किया गया राष्ट्रीय भाषा अनुवाद मिशन "भाषिणी" इसका प्रमुख उदाहरण है, जिसका उद्देश्य प्राकृतिक भाषा–प्रौद्योगिकियों के माध्यम से भाषाई बाधाएँ घटाना और डिजिटल समावेशन बढ़ाना बताया गया है। आधिकारिक विवरणों के अनुसार इस मंच पर हज़ार से अधिक एआई–आधारित भाषा–मॉडल उपलब्ध कराए गए हैं (डिजिटल इंडिया भाषिणी प्रभाग, बिना तिथि)। इन दावों की स्वतंत्र गुणवत्ता–परीक्षा आवश्यक है, किंतु संस्थागत दिशा महत्वपूर्ण है कि भाषा–प्रौद्योगिकी को डिजिटल सार्वजनिक संसाधन के रूप में देखा जा रहा है।

तीसरी संभावना शिक्षा और शोध की है। डिजिटल पाठ्य–सामग्री, ई–पुस्तकालय, ऑनलाइन कक्षाएँ और खुले संसाधन हिंदी शिक्षण को कक्षा की चारदीवारी से बाहर ले जा सकते हैं। हिंदी साहित्य के डिजिटलीकरण से दुर्लभ पाठ सुलभ होते हैं, और कॉर्पस–आधारित अध्ययन के लिए पाठ–संग्रह बनाए जा सकते हैं, जिनसे शब्द–प्रयोग, वाक्य–रचना और शैलीगत परिवर्तनों का मात्रात्मक विश्लेषण संभव है। इसे प्रायः "डिजिटल मानविकी" कहा जाता है, जो हिंदी विभागों के लिए नए शोध–क्षेत्र खोलता है।

चौथी संभावना आर्थिक और रोज़गार की हैः अनुवाद, स्थानीयकरण, सामग्री–निर्माण, वॉइस–असिस्टेंट के लिए संवाद–डिज़ाइन और डेटा–एनोटेशन जैसे कार्यों में हिंदी की जानकारी का मूल्य बढ़ता है। यही कारण है कि भाषा और प्रौद्योगिकी का संगम हिंदी के स्नातकोत्तर और शोध–पाठ्यक्रमों में नए कौशल–आयाम जोड़ने का अवसर देता है।

पाँचवीं संभावना शासन और सेवा–वितरण की है। जब

सरकारी पोर्टल, बैंकिंग और डिजिटल भुगतान जैसी सेवाएँ हिंदी में सहज उपलब्ध होती हैं, तब नागरिकों की भागीदारी और पारदर्शिता बढ़ती है। संविधान का अनुच्छेद 351 संघ को हिंदी के प्रसार और विकास का निर्देश देता है (भारत सरकार, 1950), और डिजिटल युग में इस निर्देश का व्यावहारिक अर्थ यही बनता है कि हिंदी केवल राजभाषा के रूप में अधिसूचित नहीं, बल्कि तकनीकी इंटरफ़ेस की भाषा भी बने।

5. चुनौतियाँ

5.1 संसाधनों की असमानता

सबसे बुनियादी चुनौती भाषा–संसाधनों की है। जोशी और सहयोगियों (जोशी आदि, 2020) ने दुनिया की भाषाओं को लेबल्ड और अनलेबल्ड डेटा की उपलब्धता के आधार पर छह श्रेणियों में बाँटा। उनके वर्गीकरण में हिंदी को, अपनी बड़ी वक्ता–संख्या के बावजूद, उस श्रेणी में रखा गया जिसे "अंडरडॉग्स" कहा गया, जबकि अंग्रेज़ी सर्वाधिक संसाधन–संपन्न श्रेणी में है। इसका अर्थ यह है कि आधुनिक मशीन–लर्निंग मॉडल जिन विशाल, गुणवत्ता–युक्त पाठ–संग्रहों पर प्रशिक्षित होते हैं, वे हिंदी के लिए अपेक्षाकृत कम हैं। परिणामस्वरूप हिंदी में मशीन–अनुवाद, प्रश्नोत्तर या सारांशन की गुणवत्ता प्रायः अंग्रेज़ी से पीछे रहती है, विशेषकर विशेषज्ञ क्षेत्रों, मुहावरों, साहित्यिक पाठों और बोलियों के संदर्भ में।

5.2 सामग्री की गुणवत्ता और प्रामाणिकता

इंटरनेट पर हिंदी सामग्री की मात्रा बढ़ी है, पर उसकी गुणवत्ता समान रूप से नहीं बढ़ी। मशीन–अनुवाद से बनी अनूदित सामग्री में अक्सर शब्दानुवाद, अस्वाभाविक वाक्य–रचना और संदर्भहीन शब्द–चयन दिखाई देते हैं। अप्रमाणित सूचनाओं, भ्रामक समाचारों और अफवाहों के प्रसार में भी हिंदी सामग्री की संवेदनशीलता एक चिंता है, क्योंकि तथ्य–जाँच और संपादकीय निगरानी की संस्कृति सभी मंचों पर समान रूप से विकसित नहीं है। ज्ञान–सामग्री, जैसे विश्वकोशीय लेख, वैज्ञानिक और तकनीकी विवरण, और विधि–संबंधी सामग्री, हिंदी में अंग्रेज़ी की तुलना में सीमित है, जिससे हिंदी–माध्यम के विद्यार्थियों और शोधार्थियों को वैकल्पिक स्रोतों के लिए अंग्रेज़ी पर निर्भर रहना पड़ता है।

5.3 मानकीकरण और अंतर–संचालनीयता

यद्यपि यूनिकोड ने बड़ा समाधान दिया है, फिर भी व्यावहारिक स्तर पर कई समस्याएँ शेष हैं: विरासती फ़ॉन्ट में बनी पुरानी सामग्री का रूपांतरण, अलग–अलग प्लेटफ़ॉर्म पर संयुक्ताक्षरों का भिन्न प्रदर्शन, पीडीएफ में फ़ॉन्ट–एम्बेडिंग के कारण पाठ का खोज–योग्य न रहना, और वर्तनी की भिन्नता। सरकारी और शैक्षिक दस्तावेज़ों का बड़ा भाग अब भी ऐसे रूपों में है जिनसे मशीन–पठनीय पाठ निकालना कठिन है। यह केवल तकनीकी असुविधा नहीं, बल्कि भाषा–संसाधन के निर्माण की मूल बाधा है, क्योंकि जो पाठ मशीन के लिए पठनीय नहीं है, वह डेटा के रूप में उपलब्ध नहीं हो पाता।

5.4 डिजिटल विभाजन और भाषिक न्याय

डिजिटल सुविधाएँ सबको समान रूप से नहीं मिलतीं। ग्रामीण–शहरी, लैंगिक और आर्थिक अंतर इंटरनेट की पहुँच और डिजिटल साक्षरता में दिखाई देते हैं। हिंदी भाषी क्षेत्र का सामाजिक–आर्थिक विविधता वाला ढाँचा इस विभाजन को और संवेदनशील बनाता है। इसके साथ भाषिक न्याय का प्रश्न भी हैरू यदि स्थानीय बोलियाँ और अल्पसंख्यक भाषाएँ तकनीकी संसाधनों से बाहर रहेंगी, तो "हिंदी" के नाम पर विकसित प्रणालियाँ भी बोलियों के बोलने वालों के लिए उपयोगी नहीं रहेंगी। इसलिए हिंदी के डिजिटल विकास को बोलियों और क्षेत्रीय भाषाओं के विरुद्ध नहीं, बल्कि उनके साथ सहयोग के रूप में समझना होगा।

5.5 नीति, शिक्षण और संस्थागत तत्परता

अंतिम चुनौती संस्थागत है। हिंदी विभागों के पाठ्यक्रम और शोध–परंपरा का बड़ा भाग साहित्य–केंद्रित रहा है, और भाषा–विज्ञान, कंप्यूटेशनल भाषाविज्ञान और डिजिटल मानविकी जैसे क्षेत्रों के साथ उसका संवाद सीमित है। तकनीकी विशेषज्ञों और भाषाविदों के बीच सहयोग के बिना डेटा–निर्माण, एनोटेशन और मूल्यांकन के मानक नहीं बन सकते। जो नीतियाँ घोषित हैं, उनका भी निरंतर मूल्यांकन ज़रूरी हैः नई शिक्षा नीति 2020 बहुभाषिकता और घर की भाषा या मातृभाषा में शिक्षा पर बल देती है (शिक्षा मंत्रालय, 2020), पर डिजिटल शिक्षण–सामग्री की उपलब्धता और शिक्षक–प्रशिक्षण के बिना यह बल व्यवहार में सीमित रह सकता है।

तालिका 1

डिजिटल हिंदी रू संभावनाएँ, चुनौतियाँ और सुझाव

आयाम संभावनाएँ चुनौतियाँ सुझाव

सुलभता और पहुँच यूनिकोड, आवाज़ से टंकण और मोबाइल से करोड़ों नए उपयोगकर्ता डिजिटल विभाजनय ग्रामीण, लैंगिक और आर्थिक असमानताएँ डिजिटल साक्षरताय हिंदी–अनुकूल इंटरफ़ेस और सेवाएँ भाषा–प्रौद्योगिकी अनुवाद, वाक्–पहचान, ओसीआर, लिप्यंतरण, भाषिणी संसाधनों की कमीय मूल्यांकन–मानकों का अभाव खुले कॉर्पसय पारदर्शी बेंचमार्कय समुदाय की भागीदारी भाषिक स्वरूप नई शैलियाँ और विधाएँय बोलियों की दृश्यता वर्तनी की अनियमितताय रोमन लिपि का

प्रसार व्यवहार्य वर्तनी–नीतिय मानक और बोलचाल का संतुलन

सामग्री ज्ञान और साहित्य का डिजिटलीकरणय नई विधाएँ मशीन–अनुवाद की गुणवत्ताय भ्रामक सूचना संपादन और तथ्य–जाँच की संस्कृतिय मौलिक सामग्री का निर्माण

शिक्षा और शोध ई–संसाधनय कॉर्पस अध्ययनय डिजिटल मानविकी साहित्य–केंद्रित पाठ्यक्रमय सीमित अंतर–अनुशासनिक संवाद पाठ्यक्रम–पुनर्योजनय शिक्षक–प्रशिक्षण

टिप्पणी. तालिका लेखक द्वारा इस आलेख के विश्लेषण के आधार पर संकलित।

6. साहित्य, पत्रकारिता और शिक्षण पर प्रभाव

डिजिटल युग का प्रभाव केवल बोलचाल और संवाद तक सीमित नहीं हैय वह साहित्य, पत्रकारिता और शिक्षण की संस्थाओं तक पहुँचा है। साहित्य के क्षेत्र में ब्लॉग, ई–पत्रिकाएँ, ऑनलाइन पुस्तकालय, सोशल मीडिया पर कविता और लघुकथा तथा ऑडियोबुक और पॉडकास्ट ने प्रकाशन के पारंपरिक द्वारपाल, अर्थात् संपादक और प्रकाशक, की भूमिका को सापेक्ष रूप से कमजोर किया है। नए लेखक को पाठक तक पहुँचने के लिए अब पुस्तक–प्रकाशन की प्रतीक्षा आवश्यक नहीं रह गई, और पाठक तुरंत प्रतिक्रिया दे सकता है। इसके सकारात्मक पक्ष में साहित्यिक भागीदारी का विस्तार और नई प्रतिभाओं की दृश्यता हैय नकारात्मक पक्ष में संपादकीय कसौटी की कमी, लोकप्रियता को गुणवत्ता का पर्याय मान लेने की प्रवृत्ति और रचनात्मक कार्य की अखंडता है। ऑडियो–वीडियो माध्यमों के कारण वाचिकता की वापसी भी दिखाई देती है, जिसे वॉल्टर ओंग (ओंग, 1982) की अवधारणा के अनुसार "द्वितीयक वाचिकता" कहा जा सकता हैरू वह वाचिकता जो लिखित और मुद्रित संस्कृति से गुजरकर इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों में पुनः उभरती है। हिंदी की कविता–पाठ और कथा–वाचन की परंपरा के लिए यह स्वाभाविक भूमि है।

पत्रकारिता में डिजिटल माध्यम ने समाचार के उत्पादन और उपभोग, दोनों का तंत्र बदला है। ऑनलाइन पोर्टल और सोशल मीडिया ने समाचार को तात्कालिक बनाया है, पर इसके साथ शीर्षकों में सनसनी, जल्दबाजी की वर्तनी–त्रुटियाँ और अनुवाद–आधारित समाचार–सामग्री की गुणवत्ता का प्रश्न भी उठा है। हिंदी पत्रकारिता का भाषिक स्तर इसलिए महत्वपूर्ण है कि वह करोड़ों पाठकों के लिए भाषा का सबसे सुलभ और सर्वाधिक प्रभावी मानक बनाता हैय इसका क्षरण या सुधार, दोनों का असर सामान्य भाषा–व्यवहार पर पड़ता है।

शिक्षण के स्तर पर डिजिटल साधन हिंदी के अध्यापन को अधिक सुलभ, बहु–संवेदी और सहभागी बना सकते हैं। ऑडियो–पाठ, वीडियो–व्याख्यान, स्वतः वर्तनी–जाँच, शब्दकोश–एप्लिकेशन और खुले शैक्षिक संसाधन विद्यार्थियों को स्वतंत्र अभ्यास का अवसर देते हैं। परंतु तकनीक अपने–आप शिक्षण–गुणवत्ता नहीं बढ़ाती। हिंदी शिक्षक की भूमिका अब केवल पाठ्य–विषय समझाने वाले की नहीं, बल्कि विद्यार्थी को विश्वसनीय और अविश्वसनीय सामग्री, मानक और अनौपचारिक प्रयोग, तथा मशीन–निर्मित और मौलिक पाठ के बीच भेद करना सिखाने वाले मार्गदर्शक की भी है। इसलिए डिजिटल युग में हिंदी शिक्षक का प्रशिक्षण और विद्यार्थियों की डिजिटल भाषिक साक्षरता भाषा–नीति का आवश्यक अंग है।

7. नीति और संस्थागत प्रयासरू एक संक्षिप्त मूल्यांकन

भारत में भाषा और प्रौद्योगिकी के प्रश्न पर नीतिगत और संस्थागत प्रयास कई स्तरों पर हुए हैं। संविधान के अनुच्छेद 343 और 351 हिंदी की राजभाषा–स्थिति और विकास के संवैधानिक आधार हैं (भारत सरकार, 1950)। इलेक्ट्रॉनिकी और सूचना प्रौद्योगिकी मंत्रालय के अंतर्गत भारतीय भाषाओं के लिए प्रौद्योगिकी विकास (ज्क्प्स्) कार्यक्रम और सी–डैक जैसी संस्थाएँ भाषा–प्रौद्योगिकी के विकास में सक्रिय रही हैं, और भाषिणी मिशन इसी शृंखला का नया चरण है (डिजिटल इंडिया भाषिणी प्रभाग, बिना तिथि)। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर यूनेस्को की 2003 की अनुशंसा बहुभाषिकता और साइबरस्पेस में सार्वभौमिक पहुँच के संवर्धन पर बल देती है (यूनेस्को, 2003)। इन प्रयासों का सामूहिक संकेत यही है कि भाषा अब केवल सांस्कृतिक नहीं, डिजिटल अवसंरचना का भी प्रश्न है। साथ ही, इन प्रयासों का मूल्यांकन उनके परिणामों, अर्थात् सुलभ सेवाओं, गुणवत्ता–मानकों, खुले डेटा और उपयोगकर्ता–अनुभव के आधार पर होना चाहिए, केवल घोषणाओं या मंचों की संख्या के आधार पर नहीं।

8. आगे की राहःसुझाव

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कुछ व्यावहारिक सुझाव प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

1. खुले और गुणवत्तायुक्त पाठ–संग्रहों का निर्माणरू साहित्य, समाचार, विधि, विज्ञान और दैनिक संवाद, सभी क्षेत्रों के प्रतिनिधि कॉर्पस, जिनमें बोलियों का समावेश हो, कॉपीराइट और नैतिकता के मानकों के साथ विकसित किए जाएँ।
2. वर्तनी और शब्दावली के लिए व्यवहार्य मानकरू मानकता के साथ प्रयोक्ताओं की सुविधा को ध्यान में रखकर, तकनीकी शब्दावली का निरंतर परीक्षण हो और उसमें लोक–व्यवहार

की प्रतिक्रिया शामिल हो।

3. पुरानी सामग्री का रूपांतरणः विरासती फ़ॉन्ट और छवि–रूप में रखे महत्वपूर्ण हिंदी पाठों का यूनिकोड और ओसीआर के माध्यम से डिजिटलीकरण।
4. शिक्षा और शोध का पुनर्संयोजनरू हिंदी विभागों में भाषा–प्रौद्योगिकी, कॉर्पस भाषाविज्ञान और डिजिटल मानविकी पर पाठ्यक्रम और अंतर–अनुशासनिक परियोजनाएँ।
5. उत्तरदायी एआईरू मॉडलों के मूल्यांकन में हिंदी और बोलियों के लिए पारदर्शी बेंचमार्क, पूर्वाग्रह की जाँच और सामुदायिक सहभागिता।
6. डिजिटल साक्षरतारू विशेषकर महिलाओं और ग्रामीण समुदायों के लिए, ताकि हिंदी में उपलब्ध सेवाएँ वास्तविक अर्थ में सबकी पहुँच में हों।

9. निष्कर्ष

इस आलेख में डिजिटल युग में हिंदी के भाषिक स्वरूप, तकनीकी संभावनाओं और चुनौतियों का विश्लेषण किया गया। पहला निष्कर्ष यह है कि डिजिटल माध्यम हिंदी के लिए केवल एक नया मंच नहीं, बल्कि उसके भाषिक व्यवहार को बदलने वाली संरचना है। लिपि के स्तर पर यूनिकोड ने देवनागरी को तकनीकी रूप से सुसंगत बनाया, जबकि शैली और विधा के स्तर पर सोशल मीडिया, मिश्रित भाषा, रोमन लिपि में लेखन, ब्लॉग और ऑडियो–वीडियो माध्यमों ने भाषा की सीमाओं को विस्तृत किया। इसे भाषा के "क्षरण" के रूप में देखने से अधिक उपयुक्त यह है कि इसे बहुभाषिक समाज में प्रयोग की स्वाभाविक विविधता के रूप में समझा जाए, जबकि अनुशासित लेखन, वर्तनी की एकरूपता और संपादकीय गुणवत्ता को चिंता के वास्तविक क्षेत्र के रूप में स्वीकार किया जाए।

दूसरा निष्कर्ष यह है कि हिंदी की संख्यात्मक शक्ति और उसकी तकनीकी स्थिति के बीच अंतर है। जनगणना और उपयोगकर्ता–आँकड़े हिंदी की विशाल उपस्थिति दिखाते हैं, पर भाषा–संसाधनों के वैश्विक अध्ययन में उसका पीछे की श्रेणी में रहना बताता है कि संख्या अपने–आप गुणवत्ता और तकनीकी सुविधा में नहीं बदलती। यह अंतर पाठ–संग्रहों, मानकों, मूल्यांकन–कसौटियों और अनुसंधान–क्षमता के निर्माण से ही पाटा जा सकता है। इस संदर्भ में भाषिणी जैसे राष्ट्रीय प्रयास, अकादमिक शोध–समुदाय और निजी कंपनियों की पहलें महत्वपूर्ण हैं, पर उनकी सफलता का मापदंड सुलभता, गुणवत्ता और समावेशन होगा।

तीसरा निष्कर्ष यह है कि डिजिटल हिंदी का प्रश्न सामाजिक न्याय और समावेशन से भी जुड़ा है। भाषा–प्रौद्योगिकी का लाभ तभी वास्तविक होगा जब उसकी पहुँच गाँव और शहर, स्त्री और पुरुष, मानक हिंदी और बोलियों के बोलने वालों, सभी तक समान रूप से हो। इसलिए हिंदी का डिजिटल विकास किसी एक संस्था, कंपनी या सरकारी विभाग का दायित्व नहीं, बल्कि भाषाविदों, साहित्यकारों, शिक्षकों, तकनीकी विशेषज्ञों, नीति–निर्माताओं और स्वयं प्रयोक्ताओं का साझा कार्य है।

चौथा निष्कर्ष हिंदी विभागों और हिंदी–शिक्षण की भूमिका से संबंधित है। यदि हिंदी का अध्ययन–अध्यापन केवल साहित्य के पारंपरिक पाठ तक सीमित रहेगा, तो वह उस भाषिक यथार्थ से कटता जाएगा जिसमें विद्यार्थी और समाज रोज़ संवाद करते हैं। इसके विपरीत, यदि हिंदी विभाग भाषा–विज्ञान, कॉर्पस–अध्ययन, डिजिटल मानविकी और भाषा–प्रौद्योगिकी से संवाद स्थापित करें, तो ये न केवल अपने शोध–क्षेत्र का विस्तार करेंगे, बल्कि हिंदी के डिजिटल भविष्य के निर्माण में सक्रिय भागीदार भी बनेंगे। अंततः भाषा का भविष्य उसके बोलने वालों की संख्या से अधिक इस बात से तय होता है कि वह नई परिस्थितियों में अपने ज्ञान, साहित्य और संवाद की क्षमता को कितनी सजगता से बनाए रखती और बढ़ाती हैय डिजिटल युग हिंदी से यही अपेक्षा करता है।

इस अध्ययन की सीमाएँ भी हैं। यह द्वितीयक स्रोतों पर आधारित है, उपयोगकर्ता–आँकड़े 2017 के प्रक्षेपणों पर टिके हैं और तकनीक तेज़ी से बदल रही है, इसलिए यहाँ दिए गए तकनीकी विवरणों का नियमित अद्यतन आवश्यक है। भविष्य के शोध में हिंदी और बोलियों के सोशल मीडिया पाठ का कॉर्पस–आधारित विश्लेषण, विद्यार्थियों और शिक्षकों की डिजिटल भाषा–आदतों का क्षेत्रीय सर्वेक्षण, और हिंदी के लिए भाषा–मॉडलों के मूल्यांकन जैसे विषय आगे बढ़ाए जा सकते हैं।

डॉ. अश्वीनी कुमार
सहायक प्राध्यापक
हिंदी विभाग
टी० पी० एस० कॉलेज, पटना
पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय, पटना

25

शब्दर्षि आचार्य रामचंद्र वर्मा की साहित्य–साधना

डॉ0 जंग बहादुर पाण्डेय

सारांश

किसी सरस्वती पुत्र की सुदीर्घ सारस्वत साधना का आकलन या मूल्यांकन करना आसान काम नहीं है, विशेषतरूउस सरस्वती पुत्र की साधना का आकलन करना तो और भी कठिन कार्य है, जिसके चिंतन का आकाश विस्तृत तथा व्यापक हो और जो एक साथ कई भाषाओं एवं विधाओं में निष्णात हो। ऐसे वाणी साधक का बहिरंग जितना व्यापक एवं विस्तृत होता है, अंतरंग उससे कहीं अधिक गहरा। हिंदी, संस्कृत, उर्दू –फारसी और अंग्रेजी के नदीष्ण विद्वान और कोशकार आचार्य रामचंद्र वर्मा ऐसे ही वाणी साधक और सरस्वती के वरद् पुत्र थे। उन्होंने दर्जनों पुस्तकों का मराठी, बंगला एवं अंग्रेजी से हिंदी में अनुवाद किया, हिंदी शब्दसागर, संक्षिप्त हिंदी शब्द सागर,प्रमाणिक हिंदी शब्द कोश,मानक हिंदी शब्दकोश और उर्दू हिंदी शब्दकोश का संपादन किया और अच्छी हिंदी पुस्तक का प्रणयन किया। उनके शताधिक शोध आलेख विभिन्न राष्ट्रीय अंतर्राष्ट्रीय पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित एवं प्रशंसित हुए हैं। उन्हें उनकी सुदीर्घ हिंदी सेवा के लिए भारत सरकार ने पद्म श्री प्रदान कर सम्मानित किया तथा अनेक हिंदी सेवी संस्थाओं ने शब्दर्षि एवं शब्द शिल्पी सम्मान से नवाजा।

आजादी के बाद 14 सितम्बर 1949 को हिन्दी भारतीय गणराज्य की राज भाषा घोषित हुई। पिछले कई वर्षों में न केवल भारत में, बल्कि संसार के विभिन्न देशों में इसका प्रसार बढ़ा है। अनेक देशों में हिन्दी पढ़ाई जाती है और हिन्दी के संबंध में खोज संबंधी कार्य बराबर हो रहे हैं। फिजी,सूरीनाम, त्रिनिदाद, गुयाना और मारिशस में हिन्दी बड़ी लोकप्रिय है। इसके अलावा रोजी–रोटी की तलाश में जितने भारतीय विदेशों में बस गये हैं, उनके कारण हिन्दी का प्रचार –प्रसार अधिक हुआ है।हिंदी के व्यापक प्रचार प्रसार के लिए अब तक 12 विश्व हिंदी सम्मेलन हो चुके हैं। प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन 10–12 जनवरी 1975 में नागपुर में हुआ था और 12 वां विश्व हिंदी सम्मेलन 15–17 फरवरी 2023 में फिजी के नादी शहर में हुआ था।

संस्थाओं की अपेक्षा पर्यटक, व्यापारी और नौकरी के सिलसिले में जाने वाले लोगों के कारण ही भाषा का प्रसार होता है। आर्य सभ्यता –संस्कृति के साथ–साथ संस्कृत का प्रसार बृहत्तर भारत में वर्मा, श्याम, कम्बोज, बाली, नवद्वीप, मलय, चम्पा आदि में हुआ था। बाद में बौद्ध–युग में जब प्राकृत और पालि ने साहित्य तथा जनभाषा का रूप ग्रहण किया, तब इन्हीं लोगों के कारण एशिया के विभिन्न देशों में इसका प्रसार हुआ था। भारतीय संस्कृति का इतिहास प्राकृत, पालि, शौरसेनी अपभ्रंश भाषाओं के बाद गंगा–यमुना के क्षेत्र में एक नयी भाषा की सृष्टि हुई –जो हिन्दी के नाम से प्रसिद्ध हुई ।

इसी बीच पश्चिम की ओर से आने वाले आक्रमणकारियों के कारण भारतीय संस्कृति पर मुसलमानी सभ्यता का प्रभाव पड़ा। अरबी–फारसी के अनेक शब्द हिन्दी में घुल मिल गये। लेकिन फारसी–अरबी के चलते भी अपनी भाषा का महत्व कम नहीं हुआ। अमीर खुसरो,जायसी, रहीम, रसखान आदि ने हिन्दी को ही अपनाया। वर्तमान हिन्दी के निर्माण में अहिन्दी भाषा–भाषियों का सहयोग अविस्मरणीय रहा है। गुजराती भाषा को छोड़कर भारत की सभी भाषाओं का प्रथम व्याकरण ईसाई मिशनरियों के पादरियों ने बनाया था। उत्तर प्रदेश तथा बिहार में उर्दू–फारसी के स्थान पर हिन्दी शिक्षा की नींव पंडित भूदेव मुखोपाध्याय ने रखी थी।

आधुनिक हिन्दी के जन्मदाता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र थे; पर भाषा में सुधार करने का श्रेय बाबू बालमुकुन्द गुप्त,पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा डा श्याम सुन्दर दास को दिया गया । इसके बाद जो पीड़ी हिन्दी को समृद्ध करने के लिए आयी, उनमें बाबू रामचंद्र वर्मा अग्रणी थे। आपके समकालीन विद्वानों में पं. किशोरी वास वाजपेयी, डॉ. हरदेव बाहरी, डॉ.ब्रजमोहन आदि रहे हैं। वर्मा जी भी अहिन्दी भाषा–भाषी थे। पंजाब के खत्री चौपड़ा।

जीवन परिचयः–आचार्य रामचन्द्र वर्मा के एक पूर्व पुरुष पंजाब के राजा राणा रणजीत सिंह के यहाँ दीवान थे। आपके दादा श्री गोविन्द राय जी सन् 1857 के गदर के समय काशी चले आये। उनके सुपुत्र अर्थात् वर्मा जी के पिता परमेश्वरी दास भी उनके साथ थे।

काशी में सभी प्रान्तों के निवासियों का अपना अलग–अलग मुहल्ला है। एक प्रकार से यह नगर छोटा भारत है। काशी में लाहौर टोला पंजाबी खत्रियों का मुहल्ला है। गोविन्द राय जी यहाँ काशीवास करने आये थे, पर जीविका के लिए रानी कुंआ के समीप एक किराए की दुकान लेकर कपड़े का व्यापार करने लगे। यह मुहल्ला वस्त्र व्यवसायों का बृहत् बाजार है।

लाहौर टोला के समीप फूट्टा गणेश मंदिर के समीप 08 जनवरी सन् 1889 को रामचन्द्र वर्मा जी का जन्म हुआ था। उन दिनों काशी में स्कूलों की कमी थी। आपकी प्रारंभिक शिक्षा ठठेरी बाजार स्थित भारतेन्दु हरिश्चंद्र द्वारा स्थापित हरिश्चंद्र स्कूल में हुई थी। ज्ञातव्य है कि उन दिनों शिक्षा का माध्यम उर्दू–फारसी था, जो कि मुगल सल्तनत की देन थी।

रामचंद्र वर्मा जी अभी अपने जीवन का नौवां बसन्त भी पार नहीं कर पाये थे कि पिताजी का निधन हो गया और इस दुर्घटना के बाद पुत्र–शोक के कारण दादाजी भी परलोकवासी हो गये। फलतः दुकान बन्द हो गयी। परिवार में ऐसा कोई पुरुष नहीं था, जो व्यवसाय को चलाता । इसी गरीबी के कारण वर्मा जी आठवीं कक्षा के आगे पढ़ नहीं सके। माँ एक पुत्र तथा दो पुत्रियों को लेकर गरीबी की चक्की में पिसती रही।

पटना स्थित खड्ग विलास प्रेस का जो महत्व है, वही महत्व काशी में भारत जीवन प्रेस का रहा है। साहित्यकार अपने जीवन के प्रारंभ से मंडली बनाकर अड्डेबाजी करते हैं। काशी में भारतेन्दु–युग के पूर्व से इसकी परम्परा रही है। बाबू रामकृष्ण वर्मा अपने प्रेस से श्भारत जीवनश नामक एक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित करते थे जिसके वे सम्पादक, मुद्रक और प्रकाशक थे। इस प्रेस में नित्य तत्कालीन साहित्यिकों में सर्वश्री पं. किशोरी लाल गोस्वामी, बाबू राधाकृष्ण दास, बाबू जगन्नाथ दास रत्नाकर, बाबू देवकी नन्दन खत्री, पं. अम्बिका दत्त व्यास, बाबू कार्त्तिक प्रसाद खत्री आदि आते थे।

बाबू रामकृष्ण वर्मा के भतीजे का नाम श्री कृष्ण वर्मा था, जो रामचंद्र वर्मा के सहपाठी थे। वर्मा जी अपने सहपाठी के साथ यहाँ आते रहे। संभवतः इस मंडली में आने के कारण वर्मा जी में साहित्य के प्रति आकर्षण बढ़ा। साप्ताहिक पत्र का कार्यालय होने के कारण यहां अनेक पत्र–पत्रिकाएँ आती थीं। वर्मा जी को यहां पढ़ने की सुविधा मिली। इसके अलावा बाबू रामकृष्ण वर्मा द्वारा प्रकाशित पुस्तकें पढ़ने का भी अवसर मिला। स्वयं वर्मा जी ने एक वक्तव्य में कहा था कि –उन दिनों मैं काफी तेजी से पढ़ता था । भारत जीवन प्रेस द्वारा प्रकाशित 1500 के लगभग पुस्तकें पढ़ चुका था। स्कूल में उर्दू–फारसी का अध्ययन करने के कारण इन दोनों भाषाओं की पुस्तकों का अध्ययन जारी रहा । किशोरावस्था में पढ़ने का शौक लग जाने पर व्यक्ति खाना–पीना भूल जाता है। उस समय यह उपन्यास अच्छा है या कहानी बुरी है, इन बातों का ध्यान नहीं रहता । बुभुक्ष मन हर तरह की पुस्तकें पढ़ने में लग जाता था ।

आपने अपने बारे में लिखा है कि इस ईस्वी शताब्दी के बिल्कुल आरंभिक सनों में, जबकि मेरी अवस्था बारह–तेरह वर्ष की ही थी और मैं हरिश्चन्द्र स्कूल के चौथे–पांचवे दरजे में पढ़ता था, मैं अपने सहपाठियों को अशुद्ध बोलने पर प्रायः टोका करता था । पहले तो कुछ दिनों तक मेरे सहपाठी मेरी हँसी उड़ाते थे। पर धीरे–धीरे उनकी समझ में आने लगा कि मैं उन्हें जो कुछ बतलाता हूँ; ठीक बतलाता हूँ,फिर तो और लड़के भी दूसरों की भाषा संबंधी भूले पकड़ने लगे। कभी–कभी उन लोगों में झगड़ा भी हो जाता था। कोई कहता था कि यह प्रयोग ठीक है और कोई कहता था कि नहीं, यह ठीक है। उस समय निर्णय के लिए वे मेरे पास आते थे। मैं लज्जित होता था, संकुचित भी। कारण यह कि उनमें कुछ ऐसे लड़के होते थे जो अवस्था में भी मुझसे बड़े होते थे और पढ़ते भी ऊँचे दरजों में थे। फिर भी में अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार बतला देता था कि क्या ठीक है और क्या ठीक नहीं हैं? और उस समय मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहता था,जब मैं देखता कि मेरे निर्णय से दोनों पक्षों का समाधान हो गया तो वे प्रसन्न होते। फिर भी वह सब था लड़कपन का खिलवाड़ ही ।ष

बाबू राम कृष्ण वर्मा ने देखा कि यह बालक अध्ययन में विशेष रूचि लेता है और कभी–कभी भाषा संबंधी भूलों के प्रति ध्यान आकृष्ट करता है। तब उन्होंने प्रेस में प्रकाशित होने वाली सामग्रियों का प्रूफ संशोधन का कार्य सौंपा। बाबू राम कृष्ण वर्मा हिन्दी के अच्छे विद्वान थे। उन्होंने बालक रामचन्द्र वर्मा की प्रतिभा को पहचान लिया ।

शाम के समय जब विद्वत मंडली आती, तब रामचंद्र वर्मा जी को पास बैठाकर उनसे उनके शुद्ध रूप पूछा करते। जब वर्मा जी उन वाक्यों का शुद्ध रूप बना देते थे, तब प्रशंसा के साथ ही पूजनीय गुरूओं का आशीर्वाद मिलता था। इस प्रकार उन्हें भाषा शुद्ध करने का प्रशिक्षण प्राप्त हुआ। जबकि स्कूल में उर्दू के माध्यम से शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। भारत जीवन प्रेस से सम्पर्क होने पर ही उन्हें हिन्दी पढ़ने का शौक हुआ । यह सन् 1903 की बात है।

आचार्य राम चंद्र वर्मा जी के जीवन में अचानक एक ऐसी घटना हो गयी, जिसके कारण वे महत्वपूर्ण व्यक्ति बन गये। एक सामान्य भूल पर किसी का ध्यान नहीं गया, जबकि इस गलती के जनक स्वयं एक पत्रकार थे और नगर तथा साहित्य–जगत में उनकी प्रतिष्ठा थी। इस घटना का जिक्र करते हुए वर्मा जी ने बताया कि भाषा के दोषों पर पहले पहल कुछ गंभीरता पूर्वक विचार करने का अवसर मुझे शायद सन् 1906–07 में मिला। उन दिनों काशी से एक औपन्यासिक मासिक पत्र निकला करता था। एक दिन उसके कार्यालय की ओर से नीले रंग का छपा हुआ एक ऐसा पोस्टकार्ड श्भारत जीवनश में आया जिसके चारों ओर शोक सूचक काला हासिया लगा था। उस कार्ड पर कार्यालय के व्यवस्थापक की ओर से लिखा था–दुःख है कि इस कार्यालय के अध्यक्ष श्रीयुत..... के एक मात्र पिता का स्वर्गवास हो जाने के कारण इस मास का अंक ठीक समय पर न निकल सका ।श श्भारत जीवनश में अनेक विद्वानों ने वह कार्ड पढ़ा, पर किसी का ध्यान उसमें के श्एक मात्र पिताश पर न गया। जब मैंने उसे देखा तब मुझे उस मासिक–पत्र के सम्पादक के

पिता की मृत्यु का तो दुःख हुआ ही कारण यह कि सम्पादक जी स्कूल में मेरे सहपाठी रह चुके थे; पर उससे अधिक दुःख इस बात का हुआ कि उन्होंने श्एक मात्रश का अर्थ बिना समझे ही उसे अपने पिता के आगे लगा दिया था। उन्होंने कहीं किसी समाचार–पत्र में पढ़ा होगा कि अमुक सज्जन के एक मात्र पुत्र का देहान्त हो गया। बस, उन्होंने वही श्एक मात्रश अपने पिता के साथ लगा दिया था।

इस घटना के पश्चात् वर्मा जी अत्यन्त सजग दृष्टि से इस प्रकार की भूलों की ओर ध्यान रखने लगे। इससे लाभ यह हुआ कि इनकी भाषा परिमार्जित और शुद्ध होने लगी। बाबू राम कृष्ण वर्मा के प्रोत्साहन पर वर्मा जी हिन्दी में लेख लिखकर श्भारत जीवन में छपवाने लगे।

बाल गंगाधर तिलक महाराज मराठा केसरी पत्र के सम्पादक थे। इस पत्र का हिन्दी संस्करण नागपुर से प्रकाशित करने की योजना बनी। इस पत्र के प्रधान सम्पादक बाबू माधव राव सप्रे बनाये गये; तब काशी से रामचंद्र वर्मा जी को सहायक सम्पादक के रूप में बुला लिया गया। एक वर्ष यहाँ कार्य करने के बाद ये पुनः काशी चले आये।

यहाँ आने के कुछ दिनों बाद नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से श हिन्दी शब्द सागर श के सम्पादन का कार्य प्रारंभ हुआ। कोश के प्रधान सम्पादक थे–बाबू श्याम सुन्दर दास । सहायक सम्पादक थे– सर्व श्री आचार्य रामचंद्र शुक्ल, बालकृष्ण भट्ट, लाला भगवान दीन, बाबू अमीर सिंह। शब्द संग्रह करने के लिए जिन युवकों का चुनाव किया गया, उनमें वर्मा जी का नाम था। पुनः दिग्गज का साथ होने के कारण वर्मा जी ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया । सम्पादक–मंडली इनके सुझाव और श्रम से संतुष्ट हो गयी और इनको भी सहायक सम्पादक बना लिया गया। यह कार्य सन् 1929 तक चलता रहा।

हिन्दी शब्द सागर का कार्य समाप्त हो जाने के बाद वर्मा जी संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर का कार्य करने लगे। इसी बीच हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय ने उर्दू–हिन्दी कोश तैयार करने का अनुरोध किया। वर्मा जी के कोश कार्यों से प्रभावित होकर हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग ने मानक हिन्दी कोश का सम्पादन भार वर्मा जी को सौंपा । लगातार दस वर्ष तक सम्पादन करने के पश्चात् इन्होंने पांच खण्डों में इस ग्रंथ को तैयार किया।

वर्मा जी की युगान्तकारी कृति है –अच्छी हिन्दी। इस पुस्तक में इन्होंने पुस्तकों, समाचार पत्रों तथा अनुवादों के भूलों के उदाहरण देकर चर्चा की है। यह प्रसन्नता की बात है कि इस पुस्तक के कारण वर्मा जी को काफी ख्याति मिली और भारत के तमाम विश्व विद्यालयों, कालेजों ने इसे पाठ्य पुस्तक हिन्दी में स्वीकृत किया। अनुवाद तथा लेखन के लिए यह पुस्तक हिन्दी में अपने ढंग की अनूठी है।

वर्मा जी किसी भी शब्द को लेकर उसके अर्थ, रूप और प्रयोग पर कितनी गहराई से विचार करते थे, इसके गवाहों में आज भी डॉ. ब्रजमोहन और डॉ. बदरीनाथ कपूर (वर्मा जी के भतीजे) हैं। इनके निवास स्थान पर अक्सर इसी समस्या को लेकर गोष्ठी होती थी, जिस पर विचार किया जाता था। सामान्य पाठक या लेखक इस दृश्य को देखकर ऊब जाते थे, पर शब्द ब्रह्म के उपासक वर्मा जी को तब तक संतोष नहीं था, जब तब कि उसके सही अर्थ की तलाश न कर लें।आचार्य रामचंद्र वर्मा के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के अनेक आयाम हैं।

1सफल एवं समर्थ कोशकाररू–आचार्य वर्मा हिंदी के मूर्धन्य विद्वान के अतिरिक्त एक सफल एवं समर्थ कोशकार थे। उनके द्वारा प्रणीत–हिंदी शब्द सागर, संक्षिप्त शब्द सागर, हिंदी मानक कोश (5 भागों में प्रकाशित) प्रमाणिक हिंदी शब्दकोश और उर्दू हिंदी शब्द कोश इसके ज्वलंत उदाहरण हैं।

2 मूर्धन्य वैयाकरणरू–आचार्य वर्मा एक महान शब्द शिल्पी थे। हिंदी में अनेक वैयाकरण हुए हैं। यथा आचार्य कामता प्रसाद गुरु, डा हरदेव बाहरी, डा वासुदेव नंदन प्रसाद, डा वचन देव कुमार, डा राम खेलावन राय,डा शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव, डा राजेंद्र प्रसाद सिंह, डा रमेश चंद्र पाठक एवं मुरली मनोहर प्रसाद तथा डा जंग बहादुर पाण्डेय और भविष्य में भी होंगे, लेकिन आचार्य रामचंद्र वर्मा अपने ढंग के अकेले और अद्वितीय वैयाकरण रहे हैं। उनके द्वारा रचित अच्छी हिंदी व्याकरण की पुस्तक आज भी प्रतिमान है और प्रथम पांक्तेय है।उनकी प्रमुख कृतियां हैं 1अच्छी हिंदी 2 हिंदी प्रयोग मानक हिंदी व्याकरण 3 शब्द हिंदी कोश रचना 4–शब्द और अर्थ 5 शब्द साधना शब्दार्थ दर्शन 6 कोश कला 7 प्रमाणिक हिंदी कोश 8 उर्दू हिंदी कोश 9 संक्षिप्त हिंदी शब्द सागर 10 मानक हिंदी शब्दकोश (5 खंडों में हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग से प्रकाशित)

3 सफल अनुवादकरू– शब्द कोशों के प्रणयन के बाद वर्मा जी ने बंगला, मराठी, अंग्रेजी से अनेक पुस्तकों का अनुवाद किया है। हिंदी ज्ञानेश्वरी दास बोध,हिंदू राज तंत्र,साम्यवाद धर्म की उत्पति और विकास,पुरानी दुनिया, छत्रसाल,प्राचीन मुद्रा, रायफल तथा देवलोक आदि इनकी प्रमुख अनुदित कृतियां हैं।अगर उनकी सम्पूर्ण कृतियों को देखा जाय तो आश्चर्य होता है कि कैसे इतनी पुस्तकें का उन्होंने सफल अनुवाद किया है। एक जनश्रुति है कि वे एक साथ तीन आशुलिपिकों को लिखवाते थे।

4 कुशल संपादक रू–आचार्य वर्मा ने अनेक पुस्तकों और

शब्दकोशों का सफल संपादन कर जो कीर्तिमान स्थापित किया है, वह अपने आप में अद्वितीय एवं बेमिशाल है।

5 प्रखर पत्रकार रू– आचार्य वर्मा ने अपने साहित्यिक जीवन की शुरुआत पत्रकारिता से ही की थी। जीवन जगत पत्र से लेकर रणभेरी तथा केशरी तक में उन्होंने प्रखर पत्रकारिता का परिचय दिया। अपनी लेखनी से उन्होंने ब्रिटिश हुकुमत के खिलाफ आग उगली और सोये हुए भारतीयों को जगाया।

6 स्वतंत्रता आन्दोलन के डिक्टेटररू– सन् 1942 के आन्दोलन में दैनिक पत्रों पर प्रतिबंध था। आन्दोलन के सही समाचार नहीं छपते थे। इस अभाव की पूर्ति के लिए काशी में श्रणभेरीश नामक पत्र का प्रकाशन प्रारंभ किया गया था। सम्पादकाचार्य पं. बाबूराव विष्णुराव पराड़कर अग्रलेख तथा समाचार लिखते थे। साइक्लोस्टाईल पेपर पर प्रकाशन और वितरण की सारी जिम्मेवारी वर्मा जी करते रहे। सारा कार्य गुप्त रूप में होता था। पुलिस तथा सी. आई. डी. वाले लाख प्रयत्न करने पर भी वर्मा जी पता नहीं लगा सके।

इसके अलावा आन्दोलन में भाग लेनेवाले कार्यकर्ताओं की भोजन की व्यवस्था शिविरों में ठहराने तथा जेल जाने वाले लोगों के परिवारों की देखरेख का सारा भार वर्मा जी पर था। वस्तुतः उन्हें काशी नगरी के आन्दोलन का डिटेक्टर बनाया गया था। इतना करने पर भी वे जेल यात्रा से हमेशा बचते रहे। जब गिरफ्तार होने का मौका आया, तब अण्डर ग्राउण्ड हो गये । स्वतंत्रता सेनानी होने पर भी उन्होंने पेंशन लेना स्वीकार नहीं किया ।

नगर की अनेक संस्थाओं से जुड़े रहे । नागरी प्रचारिणी सभा के दो बार प्रबन्ध मंत्री और दो बार उप सभापति थे । सच तो यह है कि वे आजीवन हिन्दी तथा अपने नगर की सेवा करते हुए 18 जनवरी सन् 1969 को परलोकवासी हो गये।उनके आकस्मिक निधन से साहित्य जगत की जो अपूरणीय क्षति हुई, उसकी भरपाई आज तक नहीं हो सकी है।31 अक्टूबर 1984 को तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी की आकस्मिक हत्या पर नजीर बनारसी ने अपनी शोक संवेदना प्रकट करते हुए जो पंक्तियां कहीं थी, आज आचार्य रामचंद्र वर्मा जी के नहीं रहने पर याद आ रही हैंरू–

तेरे गम ने ऐसा गम दिया है,
दिल दाग –दाग है।
लाखों चिराग घर में हैं,
फिर भी घर बेचिराग है।

संदर्भ ग्रंथ :–

1हिंदी साहित्य का इतिहास–आचार्य रामचंद्र शुक्ल, काशी नागरी प्रचारिणी सभा–1929

2 मानक हिंदी शब्द कोश –(5भागों में)आचार्य रामचंद्र वर्मा–हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1960

3 बना रहे बनारस– विश्वनाथ मुखर्जी–भारतीय ज्ञान पीठ न ई दिल्ली 1958

डॉ0 जंग बहादुर पाण्डेय
पूर्व अध्यक्ष हिंदी विभाग
रांची विश्वविद्यालय, रांची
चलभाष–9431595318

Analyzing FDI-Induced Trends in India's Service Industry: Transformations in the Age of AI and Viksit Bharat 2047

Dr. Deepti* Unnatii**

The service sector development of India during its ongoing economic transformation heavily relies on Foreign Direct Investment (FDI), which significantly contributes to the nation's GDP and drives overall economic modernization. In the era of Artificial Intelligence (AI) technologies—FDI plays a pivotal role in shaping India's future growth trajectory under the vision of Viksit Bharat 2047.

India's service sector has seen an average annual FDI inflow growth of 5.73%, driven by the country's competitive advantages in knowledge-intensive industries and regulatory reforms aimed at attracting global capital. The study finds that FDI has a modest yet positive correlation with GDP growth (coefficient 0.126, p-value 0.356), signalling its role in enhancing productivity and sectoral modernization through technological adoption and capital deepening.

The analysis also highlights the transformative influence of urbanization, which shows a strong association with service-sector expansion (coefficient 0.862, p-value 0.000), This underscores the importance of balanced development, consistent with Viksit Bharat 2047's decentralization goals.

Introduction

The research investigates how Foreign Direct Investment (FDI) affects employment along with economic growth and the development of sectoral complexity in the Indian service sector. Such as Artificial Intelligence (AI) that are crucial to India's digital transformation.

Global economic integration proceeds mostly because of Foreign Direct Investment (FDI) being the main driving force. When a foreign entity makes long-term investments into productive assets in a foreign country, this process requires major control and business operation influence (Aarif & Tarique, 2022). FDI has become essential to globalization because it develops economic interdependence between investing nations and countries receiving investments, thus fostering innovation and technological diffusion aligned with the vision of Viksit Bharat 2047 (Bhattarai & Negi, 2020; Jana et al., 2019).

Distribution of FDI in India's Service Sector:

The services sector shows the highest rate of foreign direct investment (FDI) concentration when examining distribution percentages throughout Indian industrial sectors. The financial services together with real estate development and telecommunications industries stand out as leaders in consolidating international investment.

Cumulative Equity Inflow: April 2000 – June 2026

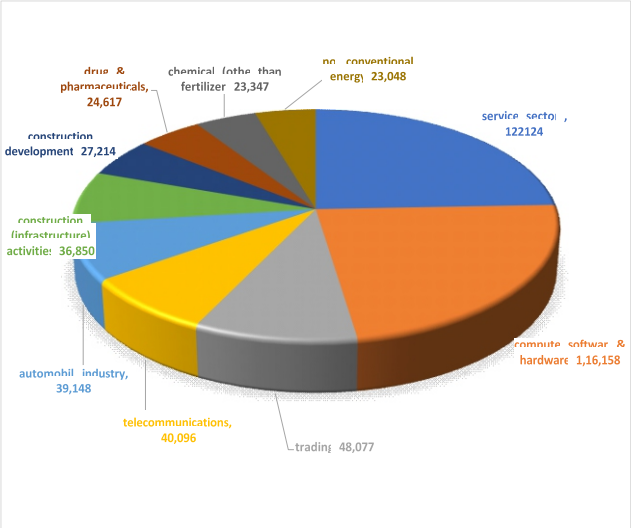

(Source: Department for Promotion of Industry and Internal Trade (DPIIT).

These figures demonstrate the services sector's increasing importance in luring foreign direct investment.

Research Methodology

To analyse the relationship between FDI and employment, the following econometric models and statistical tests will be employed:

Growth Model: A growth model such has been employed to understand the trends in FDI.

Foreign Investment Flows in Service Sector of India (in USD)

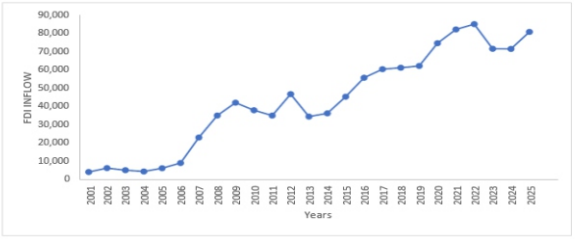

(Source: Department for Promotion of Industry and Internal Trade (DPIIT). (n.d.). FDI Statistics

Table 2: Results of Relationship Between Time and FDI Inflows

Statistic	Value
Intercept (C)	Coefficient: 2.901805
Time (TIME)	Coefficient: 0.055803
R-squared	0.556412
Adjusted R-squared	0.534233
F-statistic	25.08688
p-Value (F-statistic)	0.000067
Durbin-Watson stat	0.603982
Degree of Freedom (n-k)	22-2 = 20

(Source: Author's calculations based on analysis conducted using EViews[1] software.)

As per time series data on FDI inflow in service sector of India during 2001-02 to 2024-2025, the value in the semi log model can be put as:

$$logY_t = 2.901805 + 0.055803t$$

The analysis presented the relationship between time (years) and FDI inflows in the Indian service sector. The key findings and their interpretations are as follows:

Hypothesis Testing:

- Null Hypothesis (H_0): There is no significant relationship between time and FDI inflows ($\beta_1 = 0$).
- Alternative Hypothesis (H_1): There is a significant relationship between time and FDI inflows ($\beta_1 \neq 0$).
- Since the p-value (0.000067) is well below 0.05, the null hypothesis is rejected. This confirms that time has a statistically significant positive impact on FDI inflows in the Indian service sector.

Interpreting the Growth Rate:

Therefore, $r = 5.73\%$. The estimated growth rate r of 5.73% indicates a moderate but consistent upward trend in FDI inflows into India's service sector over the period 2002–03 to 2023–24. This compound annual growth rate reflects the sector's growing attractiveness to foreign investors, With the government's push towards Viksit Bharat 2047.

Linear Regression Model:

$$GDP = \beta_0 + \beta_1 FDI_{ss} + \beta_2 UrbanPopulation + \beta_3 GCF + \beta_4 Inflation + \varepsilon$$

Dynamics of GDP Growth, FDI in Services, and Economic Indicators in India (2002–2024)

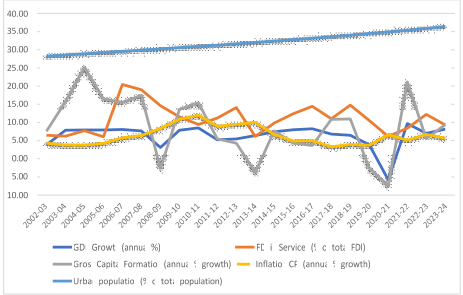

(Source: Department for Promotion of Industry and Internal Trade (DPIIT). (n.d.). *FDI Statistics*.

Linear Regression Results for GDP Growth Model

Statistic	Value
FDI in Services (% of total FDI) (β_1)	Coefficient: 0.125689; p-value: 0.3565
Urban population (% of total population) (β_2)	Coefficient: 0.184368; p-value: 0.4432
Gross Capital Formation (annual % growth) (β_3)	Coefficient: 0.286023; p-value: 0.0009
Inflation CPI (annual % growth) (β_4)	Coefficient: 0.145714; p-value: 0.5145
R-squared	0.525774
Adjusted R-squared	0.414191
Durbin-Watson stat	1.77878
Degree of Freedom (n-k)	22-5 = 17

(Source: Author's calculations based on analysis conducted using EViews[2] software.)

➢ Relationship Between FDI in Services and GDP Growth

The coefficient of 0.1264 indicates a positive relationship between FDI inflows into the service sector and GDP growth in India. The p-value of 0.3565 indicates that the relationship is not statistically significant at the 5% level in this model.

➢ Impact of Other Independent Variables

- Urban Population (% of total population): The positive coefficient of 0.1835 suggests a potential link between urbanization and higher GDP growth. However, the p-value of 0.4432 indicates statistical insignificance

- Gross Capital Formation (GCF): With a coefficient of 0.2862 and a highly significant p-value of 0.0009, GCF emerges as the most powerful growth driver.

- Inflation (CPI): The coefficient of 0.1464 indicates a weak positive relationship between inflation and GDP growth, but the p-value of 0.5145 renders this association statistically insignificant. Model Fit and Reliability

- R-squared (0.5261): The model explains 52.61% of the variation in GDP growth, indicating a moderate fit.

- Adjusted R-squared (0.4148): After accounting for the number of predictors, the model explains 41.48% of the variation in GDP growth. This suggests that while the model is moderately strong, additional variables could improve its explanatory power.

5. Hypothesis Testing

- Null Hypothesis (H_0): FDI inflows in the service sector do not significantly affect GDP growth in India ($\beta_1 = 0$).

- Alternative Hypothesis (H_1): FDI inflows in the service sector significantly affect GDP growth in India ($\beta_1 \neq 0$).

- Decision: Since the p-value for FDI in services

(0.3565) is greater than 0.05, we fail to reject the null hypothesis.

The linear regression model indicates a positive but statistically insignificant effect of FDI in services on GDP growth (coefficient = 0.1264, p-value = 0.3565).

Linear Regression Model: The model is specified as follows:

$$Employment_{SS} = \beta_0 + \beta_1 FDI_{SS} + \beta_2 GDP + \beta_3 Urban\ Population + \beta_4\ GovtExpEdu + \epsilon$$

Graph : Tracking Services Sector Employment with FDI, GDP, Urbanization, and Education Expenditure (2002–24)

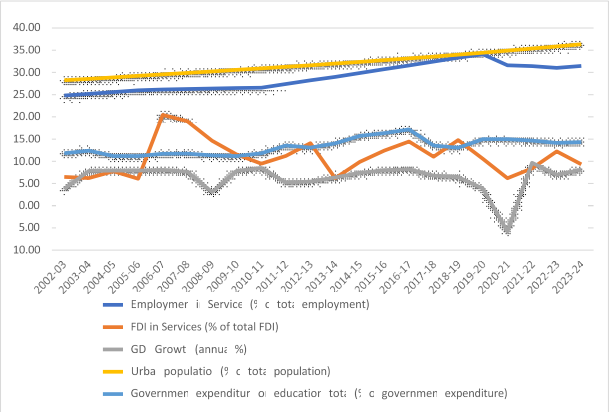

Source: Department for Promotion of Industry and Internal Trade (DPIIT). (n.d.). *FDI Statistics*.

Table : Regression Results of FDI in Services and Other Indicators on Employment in Services (% of Total Employment)

Statistic	Value
FDI in Services (% of total FDI) (β_1)	Coefficient: 0.052084; p-value: 0.4514
GDP Growth (annual %) (β_2)	Coefficient: -0.040275; p-value: 0.6470
Urban Population (% of Total Population) (β_3)	Coefficient: 0.862001 p-value: 0.0000
Gov. Exp. on Education (% of Gov. Exp.) ($\beta 4$)	Coefficient: 0.408181; p-value: 0.0676
R-squared	0.859978
Adjusted R-squared	0.82703
Durbin-Watson stat	0.68629
Degree of Freedom (n-k)	22-5 = 17

(Source: Author's calculations based on analysis conducted using EViews[3] software.)

➢ Relationship Between FDI in Services and Employment in Services

The coefficient for FDI in Services is 0.0521, indicating that a 1% rise in FDI inflows into the service sector is associated with a 0.0521% increase in service sector employment, holding other factors constant. Although the p-value (0.4514) reveals that this relationship is not statistically significant, the positive coefficient suggests a constructive trend—highlighting the potential of FDI as a facilitator of job creation.

➢ Impact of Other Independent Variables

- GDP Growth (annual %): The coefficient is -0.0403, suggesting a slight negative association between GDP growth and service sector employment, though statistically insignificant (p-value = 0.6470).
- Urban Population (% of Total Population): The coefficient of 0.7845 and a highly significant p-value of 0.0005 underscore a strong positive relationship between urbanization and employment in services.
- Government Expenditure on Education (% of Total Government Expenditure): The coefficient of 0.1329 suggests a modest positive association, but the p-value (0.6739) renders it statistically insignificant. The finding calls for more targeted alignment of education policy with emerging service sector demands, particularly AI, data analytics, financial technology, and digital communication skills—all central to India's workforce strategy for Viksit Bharat 2047.

3. Model Fit and Reliability

- R-squared (0.859978): The model explains 85.99% of the variation in service sector employment, which indicates high explanatory power.
- Adjusted R-squared (0.82703): After adjusting for degrees of freedom, the model still explains 82.7% of the variation, suggesting the included variables are meaningful predictors.
- Durbin-Watson statistic (0.68629): This value is well below 2, suggesting the presence of positive autocorrelation in the residuals, which could affect the reliability of standard errors and hypothesis testing.

4. Hypothesis Testing for FDI in Services

- Null Hypothesis (H_0): FDI inflows in the service sector do not significantly affect employment in services in India ($\beta_1 = 0$).
- Alternative Hypothesis (H_1): FDI inflows in the service sector significantly affect employment in services in India ($\beta_1 \neq 0$).
- Decision: Since the p-value for FDI in services (0.4514) is greater than 0.10, we fail to reject the null hypothesis. This means that FDI inflows in services do not have a statistically significant effect on employment in the sector.

While the statistical analysis reveals that FDI inflows into India's service sector do not have a significant direct impact on employment at conventional levels, the positive coefficient indicates a promising trend—highlighting FDI's potential to contribute to long-term employment

growth through modernization, skill development, and productivity gains in high-value service industries.

Conclusion and Recommendations

The study identifies that FDI inflows into the service sector have demonstrated a steady upward trajectory, with a Compound Annual Growth Rate (CAGR) of 5.73% from 2002–03 to 2023–24. This trend aligns with India's shift toward an urban-centric service economy where metropolitan and Tier-1 cities serve as the primary hubs for service-led expansion. At the same time, Gross Capital Formation (GCF) is found to have the most statistically significant influence on GDP growth (coefficient: 0.286, $p < 0.01$), reinforcing the role of domestic investment in infrastructure and human capital as a necessary complement to FDI.To fully harness the potential of FDI in service sector employment, India must integrate its foreign investment strategy with domestic capacity building, AI policy innovation, and the long-term developmental goals of Viksit Bharat 2047

References

Aarif, M., & Tarique, M. (2022). *Does FDI generate employment? An empirical study of Indian service sector*. *SDMIMD Journal of Management*.

Bhattarai, K., & Negi, V. (2020). *FDI and economic performance of firms in India. Sage Journal.*

Dhawan, A. P., & Devi, V. (2023). FDI and growth of service sector in India. *International Journal of Research and Analytical Reviews (IJRAR)*.

Kumar, S., Pattanaik, F., & Singh, A. K. (2021). *Modeling trade–employment elasticity nexus: Evidence from India. Sage Journal.*Madhavan, M., Dhandapani, T., & Tamizharasan, M. (2020). Growth of FDI inflows in the service sector in the Indian economy. *Journal of Xi'an University of Architecture & Technology*.

Mahapatra, A. (2023). Influence of FDI on Employment Development in India: An Analytical Study. *Wutan Huatan Jisuan Jishu*.

Nagarjuna, B. (2021). *The impact of Make in India on foreign direct investment: An analytical study. Small Enterprises Development, Management & Extension Journal.*

Bhaumik, S. K. (2015). *Principles of econometrics: A modern approach using EViews.* Oxford University.

Department for Promotion of Industry and Internal Trade (DPIIT). (2020, October 29). *Consolidated FDI Policy Circular 2020*

Department for Promotion of Industry and Internal Trade. (n.d.). *FDI statistics archives.* Government of India.

World Bank. (n.d.). *World Development Indicators: GDP Growth (Annual %)*

Dr. Deepti
Assistant Professor
Dept. of Economics,
M.S.J. Govt.PG College,
Bharatpur (Rajasthan)
deepti0980@rajasthan.in

Unnatii
Final Semester Student,
M.Sc. Economics and Analytics,
Christ University
unnatii345@gmail.com

27

Relevance of Constructivist Approach in the Present Scenario

Dr. Manoj Rani

Abstract:

Rooted in the theories of Jean Piaget, Lev Vygotsky, Jerome Bruner, Ernest Von Glasersfeld with additional contribution from John Dewey, the constructivist approach still holds relevance even in the present scenario than ever. It shifts learning from rote memorization of facts and information to student- oriented active knowledge construction. In this era of artificial intelligence, students have easy access to information and facts. In this situation, rote memorization of information and facts has become obsolete. Now the focus is on developing the ability of critical thinking, synthesis, analysis and interpretation among the students. The constructivist approach focuses on developing higher level thinking skills among the students instead of treating them as empty vessels and filling them with information and facts through rote memorization. The present paper deals with the importance and relevance of constructivist approach in the present scenario and discusses the challenges in the effective implementation of constructivist approach in the classroom and gives suggestions to overcome these challenges and provides strategies to implement the constructivist approach effectively in the classroom.

Keywords: Constructivist approach, artificial intelligence, rote memorization, higher level thinking skills

Introduction

The constructivist approach has its roots in the work of Jean Piaget, Lev Vygotsky, Jerome Bruner, Ernest Von Glasersfeld and John Dewey. More than a century old, the constructivist approach holds relevance even in the present scenario by recommending a paradigm shift from teacher-oriented information delivery system to learner-focused active enquiry system. It brings transition into the roles of the teacher and the students respectively. According to the constructivist approach, teacher is no more "a sage on the stage", they are guide, co-learners and facilitator of learning. They don't work as information givers and facts providers. They help the learners explore and discover new facts themselves and build new knowledge on the basis of prior knowledge. They organize learning activities in such a way that students can learn independently and as per their needs. The constructivist approach has brought an unprecedented change in the role of the learner as well. He is no more considered as the passive recipient of facts and information but he is regarded as an active investigator who is actively involved in discovering and exploring new knowledge. In this era of artificial intelligence, students have an instant and easy access to information and facts with the help of search engines. In this situation, the rote memorization of facts has become obsolete.

Application of Core Constructivist Strategies in Modern Scenario

Constructivists recommend inquiry-based learning in which students t ake the responsibility to define problems, pose questions, design research, make experiments, collect data and draw conclusion through direct exploration and observation. In the present era of artificial intelligence, students have easy access to facts and information. With the help of search engines, they can instantly access relevant facts and information. Inquiry based learning helps the students in evaluating sources, analysing complex data and verifying information.

Inquiry based learning cultivates and fosters critical thinking skills and problem-solving ability among the students. It makes them self-directed learners. In this information-rich world, inquiry-based learning keeps updating and upskilling the students.

In Instructional Scaffolding theory, Jeromy Bruner has used the term "Scaffolding" which refers to the temporary instructional support given by the teacher or mentor to the students and simultaneously refers to the withdrawal of the support when the students become capable of doing the task independently. In the present era, technology works as modern scaffolding. Adaptive learning platforms such as Knewton Alta, DreamBox Learning, McGraw Hill ALEKS, Duolingo act as modern scaffolding that support learners step through the Zone of Proximal Development. The term Zone of Proximal Development (ZPD) was first used by Lev Vygotsky in his Sociocultural Theory of Cognitive Development. ZPD refers to the gap and distance between what a learner can do independently and what he can achieve with the support of "more

knowledgeable others" (MKO).

In the constructivist approach, the teacher acts as facilitator, co-learner and guide who provides guidance to the students in performing difficult task and when they become capable of doing the task independently, he withdraws his support. He helps students in building higher order thinking skills such as analysis, evaluation, synthesis etc. that go beyond road memorization and passive recall of Information and facts. Such higher order thinking skills hold great relevance in the modern information rich world where students have instant and easy access to information. It is not sufficient for them to memorize the facts and information but it becomes necessary for the students to analyse, evaluate and synthesize the information, data and facts available. It requires higher order skills on the part of the students. Constructivist approach focuses on the development of higher order thinking skills among the students. Thus, in this context also, the constructivist approach holds great significance and relevance in the present scenario.

Challenges in the Implementation of Constructivist Approach

Constructivist approach gives importance to problem solving ability, hands-on experience, inquiry-based learning, construction of knowledge on the basis of observation and exploration of facts and information rather than passive learning and rote memorization of facts and information. It becomes really challenging to implement constructivist approach in the present scenario when our present examination system still gives importance to rote memorization and recall of facts and information rather than deeper understanding and exploratory thinking. Specialised teacher training and more planning is required to design and organise authentic and constructivist learning activities and experiences. More expertise and preparation is required on the part of the teacher to tackle a constructivist classroom. Implementing constructivist approach in the classroom becomes more challenging as it is based on project and inquiry-based learning which is very time-consuming. So, it becomes very difficult to complete the syllabus within the stipulated time. In order to implement the constructivist approach effectively in the classroom, there is need to bring change in the rigid curricula. Fixed time tables and linear curricula need to be matched with the non-linear and open-ended nature of learner-oriented exploration and inquiry-based learning. Constructivist approach brings a remarkable shift in the role of the teacher from a "sage on the stage" to "guide on the side". He provides necessary guidance to the students and facilitates their learning whenever they feel difficulty in performing a task and he withdraws his support when they become capable of doing the task independently. It requires more preparation on the part of the teacher as it focuses on interactive teaching instead of one- way lectures. It becomes more challenging for a teacher to deal with the classroom where learners enter with insufficient knowledge, several gaps in their basic knowledge and strong resistance to open- ended task and inquiry based-learning. Open- ended tasks, inquiry-based learning and independent discovery may lead to misconceptions, confusion and cognitive overload among the students. In order to help the students in their self- directed and inquiry-based learning, more inquiry-based methods are required. For this purpose, there is need to organise more teacher training programmes to train teachers in inquiry-based methods so that they can provide appropriate support to students in their self- directed and inquiry-based learning. There is need to make changes in the present B.Ed. curriculum which emphasizes theory over practical. To meet the requirements of the constructivist classroom, B.Ed. curricula need to be made more practical and based on inquiry methods. It becomes challenging to implement constructivist approach in the present educational institutions which are lacking in resources. To meet the requirements of a constructivist classroom, more learning tools, Information and communication technology resources, real world task setups and physical manipulatives are required to implement constructivist approach effectively and successfully in our educational institutions. So, the present educational institutions should be rich in resources and materials to implement constructivist approach and support students in their inquiry-based and self-directed journey of learning.

More standardised tests need to be constructed to facilitate self-reflection, self-evaluation and open-form assessment that includes open-ended questions and assesses students' analytical thinking skills, creativity, reasoning and problem-solving ability.

Conclusion

Rooted in the theories of Jean Piaget, Lev Vygotsky, Jerome Bruner, Ernest Von Glasersfeld with additional contribution from John Dewey, the constructivist approach still holds relevance even in the present scenario than ever by recommending a paradigm shift from teacher-oriented information delivery system to learner-focused active enquiry system. In the present era of artificial intelligence, students have easy access to facts and information. With the help of search engines, they can find out the relevant facts and information. Inquiry based learning, as recommended by the constructivists, helps the students in evaluating sources, analysing complex data and verifying information. However, it is very challenging to implement constructivist approach in the present scenario. But the challenges can be overcome by providing more resources, adapting the present curricula as per the requirements of the constructivist approach, inserting inquiry-based methods in the teacher training programmes, constructing more standardized tests suitable for open-form assessment.

References

Amineh, R.J. and Asl, H.D., 2015. Review of constructivism and social constructivism. Journal of Social Sciences, Literature and Languages, 1(1), pp.9-16.

Bada, S.O. and Olusegun, S., 2015. Constructivism learning theory: A paradigm for teaching and learning. Journal of Research & Method in Education, 5(6), pp.66-70.

Bruner, J. S. (1961). The act of discovery. Harvard Educational Review, 31(1), 21-32.

Dewey, J. (1929). The quest for certainty. New York: Minton.

McLeod, S., (2019). Constructivism as a theory for teaching and learning (online) available at https://www.simplypsychology.org/c onstructivism.html last accessed on 24th June 2022.

Piaget, J. (1980). The psychogenesis of knowledge and its epistemological significance.In M.Piatelli-Palmarini (Ed.), Language and learning (pp. 23-34). Cambridge, MA: Harvard University Press.

Singh, S. and Yaduvanshi, S., 2015. Constructivism in science classroom: Why and how. International Journal of Scientific and Research Publications, 5(3), pp.1-5.

WGU, (2018). What is constructivism? (online) available at https://www.wgu.edu/blog/whatconstructivism2005.

Vygotsky, L. S. (1962). Thought and language. Cambridge, MA: MIT Press.

Correspondence Address

Dr. Manoj Rani

Associate Professor

M.L.R.S. College of Education,

Charkhi Dadri- 127306

Contact no. 9992091269

28

Role of Economic Liberalization in India's Economic Development

Dr. Pardeep Kumar Sharma, Priyanka

Abstract

Economic liberalization has brought significant changes to the Indian economy by introducing a wide range of structural reforms aimed at improving economic efficiency, competitiveness, and growth. These reforms include changes in industrial policy, trade policy, foreign investment regulations, and the financial sector. The liberalization process has encouraged domestic and international competition, promoted the efficient allocation of resources, and stimulated structural transformation through changes in relative prices. Furthermore, the integration of the Indian economy with the global economic system has influenced patterns of migration, employment, and urbanization. The expansion of economic opportunities in urban areas has contributed to rural to urban migration and accelerated urban growth. However, these changes have also created challenges related to regional disparities, urban infrastructure, and the equitable distribution of economic benefits. Therefore, understanding the relationship between economic liberalization, migration, and urban growth is essential for assessing the broader implications of economic reforms for India's economic and spatial development.

Keywords: Indian Economy, Industrial Policy Liberalization, Structural Reforms, Trade Policy, Migration, Global Economy, Urbanization, Boost Urban Growth.

Introduction

Economic liberalization refers to the process of reducing government restrictions and regulations to promote economic growth, competition, and development. According to the International Monetary Fund (IMF) and the World Bank, economic liberalization involves both macroeconomic stabilization and microeconomic structural reforms. It aims to create a more open and market-oriented economy by reducing trade barriers, encouraging private sector participation, and facilitating the movement of capital and investment. In India, a major phase of economic liberalization began in 1991, when the government introduced a series of economic reforms to overcome the balance of payments crisis and accelerate economic development. These reforms marked a shift from the earlier restrictive economic policies towards a more open economic system. Special emphasis was placed on attracting Foreign Direct Investment (FDI) and encouraging international economic cooperation. Consequently, foreign investment was permitted in several sectors, including mining, petroleum exploration and refining, power generation, telecommunications, insurance, defence, media, and tourism, subject to applicable regulations.

The liberalization process also aimed to integrate the Indian economy with the global economy by promoting international trade, technological advancement, industrial development, and employment generation. However, India's performance in attracting foreign investment was relatively limited during the initial years of reform compared with some other developing economies, particularly China. The experience of economic liberalization highlighted the importance of improving infrastructure, strengthening financial institutions, simplifying administrative procedures, and creating a favourable investment environment. Thus, economic liberalization represented a significant transformation in India's economic policy. Although it created new opportunities for investment, production, and international trade, it also raised concerns regarding external payments, regional inequalities, and the balanced distribution of the benefits of economic growth. These challenges demonstrate the need for effective economic policies to ensure sustainable and inclusive development. The major factors responsible for India's external payment difficulties during the pre liberalization period included the following:

(I) Decline in Domestic Oil Production: A decline in domestic petroleum production increased India's dependence on imported oil, resulting in higher import expenditure and pressure on foreign exchange reserves.

(ii) Repayment Obligations to the IMF: India faced financial pressure due to its repayment obligations to the International Monetary Fund (IMF), which contributed to the country's external payment difficulties.

(iii) Liberalization of Imports: The relaxation of import restrictions increased the demand for foreign goods and services. When imports grew faster than exports, the trade

deficit widened, creating an imbalance in international trade.

(iv) Current Account Deficit and Fiscal Imbalance: A high fiscal deficit, when financed through money creation, could contribute to inflation. Higher domestic prices reduced the competitiveness of Indian goods in international markets and increased import demand, thereby putting additional pressure on the current account balance.

Privatization emerged as an important component of India's economic reforms, aiming to improve efficiency and promote competition in the economy. Its major benefits include the following:

(a) Availability of Affordable and Efficient Goods: Privatization encourages competition among producers, which can improve the quality of goods and services, increase efficiency, and help reduce prices.

(b) Wider Choice for Consumers: The participation of private enterprises alongside public sector organizations provides consumers with a wider range of goods and services and more alternatives in the market.

(c) Development of Entrepreneurial Skills: Privatization encourages private sector participation, promotes entrepreneurship, and creates opportunities for individuals to develop managerial, technical, and business skills.

The Study Area

India has been selected as the study area for the present research, which examines the geographical dimensions of economic liberalization and its implications for the country's economic development. For the purpose of analysis, each state and Union Territory has been considered as the smallest administrative unit of study. The Indian mainland extends from approximately 8°4′ N to 37°6′ N latitudes and 68°7′ E to 97°25′ E longitudes. India is a vast and geographically diverse country characterized by variations in physical features, population distribution, natural resources, and economic activities. India covers a geographical area of approximately 3,287,240 square kilometres, accounting for nearly 2.4 per cent of the world's total geographical area. The country is bounded by the Himalayan mountain range in the north and the Indian Ocean in the south. It shares its international boundaries with Pakistan and Afghanistan in the northwest, China, Nepal and Bhutan in the north, and Bangladesh and Myanmar in the east. India extends approximately 3,214 kilometres from north to south and 2,933 kilometres from east to west, with a coastline of about 7,516.5 kilometres, including its island territories. Its extensive geographical coverage and diverse physical and socioeconomic characteristics provide a significant basis for regional and national-level geographical research.

Map 1: Location of the Study Area

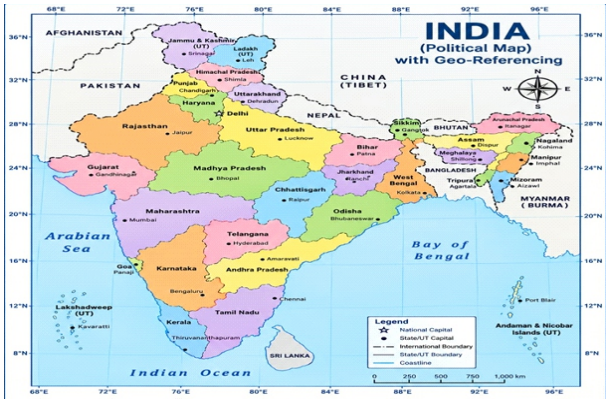

Source: prepared by the resource scholar with the help of Arc-GIS

Database and Methodology

The present study is primarily based on secondary data collected from various official and published sources. The major sources of information include the Census of India, the Central Statistical Office (CSO), publications and reports of the Ministry of Economic Affairs, the World Bank, and other relevant government agencies and research organisations. Published reports, statistical records, and other relevant documents have also been consulted to obtain the necessary information for the study. Appropriate statistical and cartographic techniques have been employed to organise, analyse, and interpret the collected data. These methodological approaches facilitate the systematic examination of the research problem and support the presentation of findings through tables, graphs, maps, and other relevant statistical representations.

Discussion :

The Industrial Policy reforms introduced in 1991 marked a significant turning point in the Indian economy by promoting foreign investment and liberalizing various industrial sectors. This policy shift represented a departure from the earlier restrictive approach towards foreign direct investment (FDI) and established a more

open and investment-friendly economic environment. Subsequently, the scope of foreign investment expanded across several sectors, including mining, oil exploration, petroleum refining and marketing, power generation, telecommunications, insurance, defence, media, and hospitality. Economic liberalization has contributed to increased domestic and international competition, encouraged structural transformations, and improved economic efficiency through changes in relative prices and resource allocation. Furthermore, structural adjustment has involved deregulation and reforms aimed at enhancing labour market flexibility. However, the effects of liberalization on employment, wages, and working conditions depend on the existing structure and performance of the labour market. Therefore, an assessment of the relationship between economic liberalization and labour market outcomes requires consideration of both the pace of economic reforms and the capacity of the labour market to adapt to changing economic conditions.

Table 1 : Unemployment Rates in Rural and Urban India, 2017-18 to 2023-24

Sr No.	Survey Year	Rural Male in %	Rural Female in %	Rural Person in %	Urban Male in %	Urban Female in %	Urban Person in %
1.	2017-18	5.8	3.8	5.3	7.1	10.7	7.7
2.	2018-19	5.5	3.5	5.0	7.0	9.8	7.6
3.	2019-20	4.5	2.6	3.9	6.4	8.9	6.9
4.	2020-21	3.8	2.1	3.2	6.1	8.6	6.7
5.	2021-22	3.8	2.2	3.1	5.8	7.9	6.3
6.	2022-23	2.8	1.8	2.4	4.7	7.5	5.4
7.	2023-24	2.7	2.1	2.5	4.4	7.1	5.1

Source: National Sample Survey (NSS) and Periodic Labour Force Survey (PLFS)

Figure 1: Unemployment Rates in Rural and Urban India, 2017-18 to 2023-24

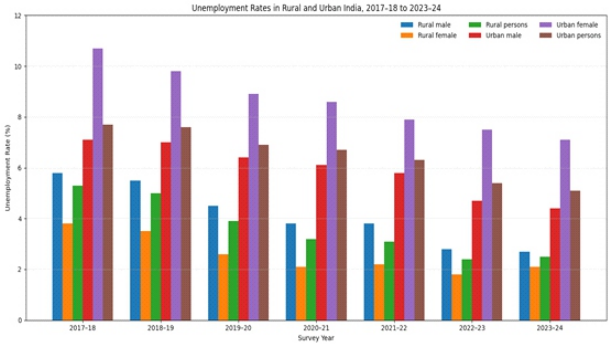

Table no. 1 illustrates the trends in unemployment rates in rural and urban India from 2017–18 to 2023–24. The data indicate an overall decline in unemployment across all categories during the study period. Rural male unemployment decreased from 5.8% to 2.7%, while rural female unemployment declined from 3.8% to 2.1%. Similarly, urban male unemployment fell from 7.1% to 4.4%, whereas urban female unemployment decreased from 10.7% to 7.1%. The overall unemployment rate declined from 5.3% to 2.5% in rural areas and from 7.7% to 5.1% in urban areas. Urban unemployment remained higher than rural unemployment throughout the period, and urban females consistently recorded the highest unemployment rates among the groups examined. These trends highlight geographical and gender-based differences in India's labour market and suggest an improvement in the reported unemployment situation, although further analysis is required to identify the underlying causes of these changes.

Table 2: Growth of Employment by Sectors

Sr.No.	Years	Primary Sectors (%)	Secondary Sectors (%)	Tertiary Sectors(%)	Total (%)
1.	2017-18	44.1	24.8	31.1	100.00
2.	2018-19	42.5	25.2	32.3	100.00
3.	2019-20	45.6	23.7	30.7	100.00
4.	2020-21	46.5	23.9	29.6	100.00
5.	2021-22	45.9	24.7	29.4	100.00
6.	2022-23	46.2	25.2	28.6	100.00
7.	2023-24	46.1	24.1	29.8	100.00

Source: Government of India employment statistics; PLFS reports

Figure 2: Growth of Employment by Sectors

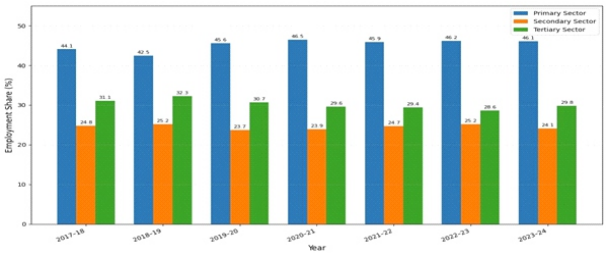

Source: Based on Table 2

The table presents the percentage distribution of employment across the primary, secondary, and tertiary sectors in India from 2017–18 to 2023–24. The primary sector accounted for the largest share of employment, increasing from 44.1% in 2017–18 to 46.1% in 2023–24, despite some fluctuations during the period. The secondary sector's share varied from 24.8% to 24.1%, while the tertiary sector's share declined from 31.1% to 29.8%. The data indicate that the primary sector continued to provide the largest proportion of employment in India, whereas the secondary and tertiary sectors accounted for

smaller shares. These changes reflect variations in the sectoral distribution of employment and suggest that the transition towards a service-oriented employment structure has not been consistent throughout the study period. However, the figures represent the percentage distribution of employment rather than the actual growth in the number of workers in each sector.

Positive Aspects : Some points regarding positive aspects are given below:

(a) Advancement in Communication and Technology: Liberalization promotes the exchange of modern knowledge, information, and communication technologies, improving connectivity and strengthening international trade and cultural relations.

(b) Employment Generation: Liberalization creates employment opportunities in developing countries through the expansion of export-oriented industries, information technology, software development, and other service sectors.

(c) Growth of the Tourism Industry: Liberalization encourages international tourism by improving connectivity, promoting cultural exchange, and attracting foreign tourists, thereby contributing to economic growth and employment generation.

(d) Expansion of International Trade: Free international trade enables countries to access a wider range of goods and services from global markets, increasing consumer choice and encouraging specialization in production.

(e) Increase in Foreign Investment: Globalization facilitates the international flow of capital, encouraging foreign investors to invest in emerging markets and utilize previously underdeveloped resources in developing countries.

(f) Development of Social Sectors: Economic growth associated with globalization can increase government revenues and investment in essential social sectors, including education, healthcare, transportation, and public infrastructure.

(g) Promotion of Competition and Price Stability: Globalization increases competition by allowing international products and services to enter domestic markets. This competition can improve product quality, enhance efficiency, and help moderate prices, although its effects on inflation depend on wider economic conditions.

(h) Improvement in Living Standards: Globalization can improve people's living standards by increasing employment opportunities, household incomes, and access to goods, services, and modern technologies. However, the benefits may vary across regions and income groups.

(i) Modernization of Education: International investment, educational partnerships, and franchise-based institutions facilitate the introduction of modern teaching methods, advanced technologies, and international academic standards, improving educational opportunities in developing countries.

Negative Aspects : Some points regarding negative aspects are given below :

(i) Over populates Urban cities-This is because new job opportunities and educational systems are based on urbanization. In 1800, 2% of the world's population was in urban cities. In 1950, 30% urbanized. In 2000, 47% world population began to live in urban cities and in 2008, the urban population reached over 50% (facts www.unhabitat.org.)

(ii) Conversion of Agricultural land to Urban land: Over 20% farmlands of developing countries have been converted to cities. Over 50% of farmlands of villages have got

merged with cities.

(iii) Disappearance of small/traditional cottage industries which generates more jobs than the large auto machines, e.g., textile, carpet,

pottery, handicrafts, etc. Over 40% such industries have vanished and skilled traditional artists have shifted to urban cities.

(iv) Trade invasion by MNCs through huge investments and takeover.

(v)Reduction in the cost of labour through the extensive use of machinery. Insecurity of jobs by hire and fire.

(vi) Migration of labour from rural to urban areas in search of jobs has raised the rate of unemployment in cities.

(vii) Liberate industries and business sectors for outsourcing from nations with cheap labour.

(viii) Eases dumping excessive produce to disintegrate importing country's economy.

(ix) To safeguard the interest of multinational and promote corruption by this.

(x) Attack on regional tradition and cultures. Indian

population have become a slave customer of foreign brands.

Conclusion:

Under the influence of economic liberalization, the Indian economy has made significant progress in the international market and achieved considerable economic growth. A comparison of the Indian economy before and after liberalization reveals a major transformation in its economic structure and policy orientation. The country has gradually moved away from a highly regulated economic system towards a more dynamic, market-oriented economy characterized by increased private participation, foreign investment, and international trade. However, this transformation has also created several challenges. Inadequate protection and support for certain domestic industries have made it difficult for small-scale enterprises and local producers to compete with large domestic and multinational corporations. Consequently, some traditional industries and small businesses have experienced declining competitiveness and market share. Therefore, policymakers and economic planners must adopt appropriate measures to strengthen domestic industries, promote fair competition, support small and medium-sized enterprises, and ensure that the benefits of liberalization are distributed more equitably across different sections of society.

References

Batra, G. S., & Dangwal, R. C. (2005). Liberalization, globalisation and internal business. Deep & Deep Publications.

Desh Pande, L. K. (1992). Economic liberalization and labour in India. The Indian Journal of Labour Economics, 35(4), 80–83.

Mahendra Dev, S. (2000). Economic reforms, poverty, income distribution and employment. Economic and Political Weekly, 35(10), 32–37.

Singh, S., & Sharma, S. S. P. (1995). Employment generation in the service sector. The Indian Journal of Labour Economics, 38(4), 23–27.

Bhagwati, J., & Srinivasan, T. N. (1975). Foreign trade regimes and economic development in India. Columbia University Press.

Aksoy, A. M. (1992). The Indian trade regime (Policy Research Working Paper No. 99). The World Bank.

Kundu, A. (1999). Trends and structure of employment in the 1990s: Implications for labour growth. Economic and Political Weekly, 34(11), 66–69.

Singh, M. (1993). New economic policy and challenges before labour economics. The Indian Journal of Labour Economics, 36(1), 44–48.

Wacziarg, R., & Welch, K. H. (2003). Trade liberalization and growth: New evidence (NBER Working Paper No. 10152). National Bureau of Economic Research.

Dr. Pardeep Kumar Sharma
Professor
Department of Geography
Baba Mastnath University
Asthal Bohar -124021, Rohtak

Priyanka
Research Scholar
Department of Geography
Baba Mastnath University
Asthal Bohar -124021, Rohtak

29

Constructivism: A Paradigm Shift from Teacher-oriented Information Delivery to Learner-focused Active Inquiry

Dr. Manoj Rani

Abstract:

Constructivism, an important trend in education, has played a vital role in redefining the role of teacher as well as students in teaching-learning process. This approach recommends that instead of copying or taking in the information passively, learners construct their knowledge themselves on the basis of their previous experiences. They reflect upon their past experience and incorporate new knowledge into their pre-existing knowledge or schemas. This approach focuses on learner and views teacher as "a guide on the side" instead of "a sage on the stage". The present paper reflects upon the role of teacher as well as the students in constructivist approach and gives suggestions how learning experiences should be organised in a constructivist classroom.

Keywords: Constructivism, traditional learning, learning experiences

Introduction

Over the past 30 years, constructivism has become a major trend in the field of education and has influenced the teaching-learning process in a remarkable way. Constructivism is based on the idea that learners are not just passive recipient of information but they learn by keeping themselves actively engaged in acquiring new knowledge. Without their active involvement, learning can't take place. In constructivist approach, teacher is no more is a "sage on the stage" but he is only a guide and facilitator in the self-directed learning journey of the learners. His role is to give necessary guidance to the learners and fill in the gaps in the learner's knowledge and correct the errors wherever necessary. Jean Piaget strongly believed that learners learn by observation and exploration. So, learners should be given proper opportunity in the classroom to investigate and explore new knowledge. Social constructivism gives importance to collaborative learning hands-on-experiences and learning by doing. Constructivism recommends interactive and collaborative learning. Earlier games played by children were considered useless and aimless but constructivists believe that games are very useful and play an important role in the cognitive development of children.

Teacher: a Guide, Facilitator and Co-learner

In constructivist approach, instead of working as a transmitter of Information and knowledge, teacher acts as a guide, facilitator and co-learner for the students. Instead of delivering lecture or providing direct answers and readymade knowledge to the students, the teacher engages them in hands-on activities and helps them discover the knowledge themselves. In constructivist approach, the teacher is not regarded as a "sage on the stage" but he remains "guide on the side" who provides necessary guidance to the students in performing their task and discovering the knowledge. He provides necessary support to the students in performing difficult task and withdraws the support when students become capable of performing the task independently. He works as a facilitator as he provides support from the back rather than from the front and such an environment that helps the learners to reach their conclusion. Instead of telling them the answer of any question, he asks thought-provoking and open-ended questions from the students to develop their critical thinking. He motivates the learners by arousing their curiosity and engaging them in learning task. He organizes proper learning activities for them and actively engages them in learning task instead of passively filling them with information and facts. Instead of rote memorization, the teacher focuses on student-led exploration and discovery. The teacher helps students to build new knowledge by connecting it to the previous knowledge and reality-based experiences. He treats the students as constructor of new knowledge rather than considering them as empty vessels who are to be filled with readymade knowledge and facts. He designs activities and experiences for the students to foster creativity, originality, problem-solving ability and decision-making ability among

them. He develops reasoning ability, logical and critical thinking skills among the students by asking them to explain the conclusions that they have drawn from their findings. He stimulates deeper understanding of the content among students by asking them to generate more examples and apply the acquired knowledge in new and practical situations. He promotes self-paced learning by tailoring the learning activities and experiences to individual needs. He facilitates social learning by engaging the students in interactive dialogue and sharing their ideas. In order to promote interaction and collaboration among the students, he asks them to compare their acquired knowledge with their peers so that they can become aware of their own understanding as well as the understanding of others. He designs learning activities in such a way that helps the students in developing new insights. He engages students in self-reflection by asking them to evaluate and interpret their ideas. He promotes application of knowledge among the students by asking them to apply the acquired knowledge in new and different situations. He structures learning experiences keeping in view the parameters within which the learning aims and objectives can be attained. To sum up, a teacher, in constructivist approach, plays the role of a guide, coach, co-learner and facilitator who facilitates learning by asking questions from the students instead of providing them with readymade knowledge and solutions.

Students as active Participants and Constructor of Knowledge

In constructivist approach, the role of the students is very crucial as they are not mere passive listeners but they actively construct knowledge. They are active investigators as they pose questions, investigate real world problems and conduct hands-on experiments. They connect previous experiences with new information. They build new knowledge on the basis of prior knowledge and draw meaning from the newly acquired knowledge on the basis of their own observation and exploration. In this self- directed journey of learning, they set their own learning goals, progress according to their own pace and take ownership of their learning path. Social constructivism, given by Lev Vygotsky, recommends collaborative learning in which students work in groups, share their ideas with their peers and find out solutions together. It helps in building social and communication skills among the students. Working in group helps in building leadership qualities among the students. This self- directed journey of learning makes use of the higher order thinking skills of the students as they themselves take decisions, think critically and logically to find out the solution of the problems. Learning by making use of the constructivist approach creates deeper understanding among the students regarding any concept as explanations come from the students. They explain their findings by generating more examples and applying them in real life situations.

Difference between Constructivist Approach and Traditional Approach

In constructivist approach, focus is shifted from teacher to the learners. Learners are no more passive recipients of knowledge and information who are treated like empty vessels to be filled with facts, as they are treated in the traditional classroom. They remain actively involved in the learning process. They actively build new knowledge on the basis of the previous knowledge through active observation and exploration. Unlike traditional approach, teacher does not act as an authority who disseminates information to the students and provides them with readymade solutions to the problems. In constructivist approach, teacher acts as a guide, and facilitator who helps students to find out the solutions of the problem themselves. He facilitates their learning by providing them necessary guidance whenever it is required. Collaborative learning is one of the most important features of constructivist approach which makes it different from traditional approach. In social cultural theory of cognitive development, Lev Vygotsky has laid a strong emphasis on collaborative learning in which two or more students work together to complete a task or to find

out the solution of a problem. Richard S. Prawat (1992) highlights the difference between the constructivist approach and traditional approach in the following words, " In all constructivist teaching- learning scenarios, the traditional telling-listening relationship between teacher and student is replaced by one more complex and interactive."

Conclusion

In constructivist approach, we find a remarkable change in the roles of the teachers as well as students respectively. Constructivist approach is a learner-centred approach as it focuses on social learning, collaboration and interaction among the students. On the other hand, in this approach, teacher acts as a guide, co-learner and facilitator of learning. He provides guidance and necessary support to the students in performing difficult task and withdraws this support when they become capable of doing the work independently. Students are not mere passive recipients of facts and information, but they actively engage themselves in exploring new knowledge on the basis of their previously acquired knowledge. They learn at their own pace, set their goals themselves and find out the solutions themselves. Constructivist approach has its own limitations as it is time- consuming and requires an excellent classroom. In the beginning, students may face complexity, failure and frustration. Here, this approach requires an expertise on the part of the teacher to deal with this complex situation. By guiding them properly, a teacher can help the students come out of the difficult situation. Thus, it is no exaggeration to say that constructivism has brought a paradigm shift from teacher-oriented information delivery to learner focused active enquiry.

References

Amineh, R.J. and Asl, H.D., 2015. Review of constructivism and social constructivism. Journal of Social Sciences, Literature and Languages, 1(1), pp.9-16.

Bada, S.O. and Olusegun, S., 2015. Constructivism learning theory: A paradigm for teaching and learning. Journal of Research & Method in Education, 5(6), pp.66-70.

Bruner, J. S. (1961). The act of discovery. Harvard Educational Review, 31(1), 21-32.

Dewey, J. (1929). The quest for certainty. New York: Minton.

McLeod, S., (2019). Constructivism as a theory for teaching and learning (online) available at https://www.simplypsychology.org/c onstructivism.html last accessed on 24th June 2022.

Piaget, J. (1980). The psychogenesis of knowledge and its epistemological significance.In M.Piatelli-Palmarini (Ed.), Language and learning (pp. 23-34). Cambridge, MA: Harvard University Press.

Singh, S. and Yaduvanshi, S., 2015. Constructivism in science classroom: Why and how. International Journal of Scientific and Research Publications, 5(3), pp.1-5.

WGU, (2018). What is constructivism? (online) available at https://www.wgu.edu/blog/whatconstructivism2005.

Vygotsky, L. S. (1962). Thought and language. Cambridge, MA: MIT Press.

Correspondence Address

Dr. Manoj Rani

Associate Professor

M.L.R.S. College of Education, Charkhi Dadri-127306

Contact no. 9992091269

30

Ayushman Bharat PM-JAY and the Promise of Cashless Care: A Review of the Literature

Aditya Raj[1], Dr. Richa[2]

Abstract

Ayushman Bharat Pradhan Mantri Jan Arogya Yojana (AB-PMJAY), launched in 2018, is one of the world's largest publicly funded health insurance schemes and aims to improve healthcare utilisation, reduce out-of-pocket expenditure (OOPE), and provide financial protection to economically vulnerable households in India. This study synthesizes evidence from seven studies examining the scheme's impact on healthcare utilisation, financial protection, catastrophic health expenditure (CHE), quality of care, and implementation processes. The reviewed literature presents mixed findings regarding the effectiveness of PMJAY. While recent national evidence suggests increased outpatient and inpatient healthcare utilisation and reductions in inpatient OOPE and CHE, several state-level and nationally representative studies reported limited or no significant effects on financial protection. A consistent finding across the literature is the substantial influence of hospital type, with private hospitals associated with considerably higher OOPE and persistent financial risks despite insurance coverage. Implementation-related challenges, including delayed claim reimbursements, double and balance billing, package-related exclusions, additional charges, inadequate frontline capacity, and weak provider regulation, appear to undermine the scheme's cashless treatment objective. The review also identifies substantial gaps in evidence concerning quality of care, clinical outcomes, patient experiences, and long-term causal impacts. Overall, the evidence suggests that PMJAY has expanded health insurance coverage but its success in achieving effective financial protection remains contested. strengthening regulation of private providers, improving claims and reimbursement mechanisms, enforcing package rates, and expanding public-sector healthcare capacity are critical for realizing the scheme's broader goal of Universal Health Coverage.

Key Words: PM-JAY; health insurance; out-of-pocket expenditure; catastrophic health expenditure; financial protection; universal health coverage

1. Introduction

India's Ayushman Bharat Pradhan Mantri Jan Arogya Yojana (AB-PMJAY), launched in September 2018, is the world's largest publicly funded health insurance (PFHI) scheme, offering an annual cover of INR 500,000 per household to roughly 500 million of India's poorest citizens. It replaced the more limited Rashtriya Swasthya Bima Yojana (RSBY, 2008), promising a substantially larger benefit package, cashless treatment across empanelled public and private hospitals, and — ultimately — progress toward Universal Health Coverage (UHC) along its three classic dimensions: population coverage, service coverage, and financial protection.

Seven years into implementation, however, the evidence on whether PMJAY has actually delivered on its central promise — protecting households from out-of-pocket expenditure (OOPE) and catastrophic health expenditures (CHE) — remains strikingly unsettled. This study synthesizes seven recent studies (Bonu & Bhushan, 2026; De Allegri et al., 2020; Garg, Bebarta, & Tripathi, 2024; Garg, Tripathi, & Bebarta, 2023; Kumar et al., 2025; Reshmi et al., 2021; Saxena, Trivedi, Shroff, & Sharma, 2022) that, collectively, span single-state panel studies, a national systematic review, a multi-state implementation study, a National mixed-methods protocol, two nationally representative cross-sectional analyses, and the most recent large-scale national dataset available. Together they offer a rich but genuinely contested picture of the scheme's performance.

2. Overview of the Reviewed Studies

Study	Design	Geographic Scope	Data Period	Core Focus
Garg, Bebarta, & Tripathi (2024)	Panel household survey; OLS, logistic, PSM, IV methods	Chhattisgarh (single state)	2021–2022	Utilisation, quality (satisfaction, length of stay), OOPE, CHE
Kumar et al. (2025)	Case-control household survey	Haryana (single state)	2022–2023	OOPE, CHE, wage loss
Reshmi et al. (2021)	Systematic review (25 studies)	India, multiple PFHI schemes	Up to July 2020	Utilisation, financial protection, willingness-to-pay
Saxena et al. (2022)	Qualitative implementation study	Gujarat & Madhya Pradesh (2 states, 14 hospitals)	2019 (early implementation)	Hospital-level operational processes
De Allegri et al. (2020)	Mixed-methods study **protocol** (not yet results)	7 states (Bihar, Chhattisgarh, Gujarat, Karnataka, Meghalaya, Tamil Nadu, Uttar Pradesh)	Planned 2019–2020 (disrupted by COVID-19)	Demand-side, supply-side, and process evaluation design
Garg, Tripathi, & Bebarta (2023)	Cross-sectional; OLS, logistic, PSM	National (NFHS-5)	2019–2021	OOPE and distress financing for institutional deliveries
Bonu & Bhushan (2026)	Cross-sectional; logistic regression, Heckman two-stage models	National (CAMS 2022–2023, NSS 79th round)	2022–2023	Utilisation, OOPE, CHE (outpatient and inpatient)

This set spans the methodological spectrum available for evaluating a scheme of this scale: from rigorous single-state panel data with instrumental variables (Garg, Bebarta, & Tripathi, 2024), to case-control designs (Kumar et al., 2025), a synthesis of the pre-2020 evidence base (Reshmi et al., 2021), qualitative process-tracing at the hospital level (Saxena et al., 2022), an ambitious but COVID-disrupted multi-state protocol (De Allegri et al., 2020), and two large national cross- sectional surveys representing the most geographically comprehensive evidence available (Garg, Tripathi, & Bebarta, 2023; Bonu & Bhushan, 2026).

3. Thematic Synthesis

3.1 Healthcare Utilisation

Findings on whether PMJAY increases healthcare-seeking behaviour are genuinely split:

- **No effect**: Garg, Bebarta, and Tripathi (2024) found no association between PMJAY enrolment and inpatient utilisation in Chhattisgarh across multiple estimation methods (logistic regression, propensity score matching). Reshmi et al. (2021) similarly found that the single PMJAY study available at the time of their review showed no significant utilisation increase — a sharp contrast to RSBY and most state schemes (VAS, RAS, CHIS), which the same review found *did* increase utilisation.
- **Positive effect**: Bonu and Bhushan (2026), using the most recent and largest national dataset in this collection, found PMJAY enrolment was associated with significantly higher odds of both outpatient (adjusted OR = 1.404) and inpatient (adjusted OR = 1.168) care use.

This is one of the starkest contradictions in the literature: the same scheme, assessed with rigorous quantitative methods, shows *no* utilisation effect in a well-regarded state-level panel study (Garg, Bebarta, & Tripathi, 2024) and a *significant positive* effect in the most recent national cross-section (Bonu & Bhushan, 2026). Reshmi et al.'s (2021) broader review offers a plausible historical resolution — earlier PFHI schemes (RSBY, VAS, RAS, CHIS) consistently increased utilisation, and it may be that PMJAY needed more time and expanded awareness/enrolment infrastructure to generate a detectable utilisation effect. Reverse causality is also a live possibility in Bonu and Bhushan's (2026) cross-sectional design: sicker or higher-need households may be more likely to seek and obtain PFHI coverage in the first place.

3.2 Out-of-Pocket Expenditure (OOPE)

This is the most heavily studied and most contested outcome across the collection.

Studies finding no effect of PMJAY on OOPE:

- Garg, Bebarta, and Tripathi (2024), studying Chhattisgarh in 2021–22, found no significant reduction in OOPE across OLS, logistic, PSM, or instrumental-variable models.
- Reshmi et al. (2021) reported that the one available PMJAY study reviewed showed no OOPE reduction, and that earlier PFHI schemes (RSBY) also showed no consistent reduction.
- Garg, Tripathi, and Bebarta (2023), using national NFHS-5 data on institutional deliveries, found no effect of PMJAY/PFHI enrolment on OOPE for either caesarean or non-caesarean deliveries, confirmed via OLS and propensity score matching.

Studies finding a protective effect:

- Kumar et al. (2025), using a case-control design in Haryana, found a striking 58% reduction in overall OOPE and 65% reduction in direct medical expenses among PMJAY advantages relative to disadvantages.
- Bonu and Bhushan (2026) found PMJAY significantly reduced inpatient OOPE (approximately 20% reduction via a Heckman two-stage model), though the outpatient effect was much weaker.

The recurring explanatory variable across nearly every study: hospital type, not insurance status. Garg, Bebarta, and Tripathi (2024), Kumar et al. (2025), and Garg, Tripathi, and Bebarta (2023) all independently converge on the finding that utilising a **private hospital**, rather than PMJAY enrolment itself, is the dominant predictor of high OOPE. Garg, Bebarta, and Tripathi (2024) found private-hospital OOPE was roughly ten times public-hospital OOPE regardless of insurance coverage. Garg, Tripathi, and Bebarta (2023) found a roughly fivefold difference, again irrespective of PFHI

status. Kumar et al. (2025) found a partial exception: OOPE was similar between insured and uninsured patients in *public* hospitals, but in *private* hospitals, insured patients paid roughly one-third of what uninsured patients paid — suggesting PMJAY may provide meaningful protection specifically when patients are billed by empanelled private providers, even if that protection is incomplete elsewhere.

3.3 Catastrophic Health Expenditure (CHE)

- Garg, Bebarta, and Tripathi (2024), Reshmi et al. (2021), and Garg, Tripathi, and Bebarta (2023) all report **no significant reduction** in CHE associated with PMJAY/PFHI enrolment. Garg, Bebarta, and Tripathi (2024) found roughly 70–78% of PMJAY-enrolled patients using private hospitals still incurred CHE at the 10% threshold — a striking figure suggesting the "financial protection" promise essentially fails to materialize once a private hospital is involved.
- Reshmi et al.'s (2021) review of pre-2020 evidence found decidedly mixed results across other PFHI schemes (VAS, RAS, CHIS) — some studies found modest CHE reductions, others none, with the review explicitly concluding the evidence was "inconclusive."
- Bonu and Bhushan (2026) are the clearest outlier: they found a statistically robust reduction in inpatient CHE (adjusted OR = 0.72–0.79 depending on threshold), a finding at odds with Garg, Bebarta, and Tripathi (2024), Reshmi et al. (2021), and Garg, Tripathi, and Bebarta (2023).

3.4 Quality of Care

Only Garg, Bebarta, and Tripathi (2024) directly measured quality (via patient satisfaction and length of stay) and found **no association** between PMJAY enrolment and either measure — the first study of its kind on PMJAY's quality dimension. They did find that private hospitals had significantly longer stays than public hospitals regardless of insurance status, consistent with the broader private-sector cost-driving pattern seen throughout the collection.

3.5 Implementation Mechanisms — Explaining the "Why"

Saxena et al.'s (2022) qualitative, hospital-level investigation in Gujarat and Madhya Pradesh is the only study in this set to open the "black box" of *how* PMJAY functions operationally, and it offers concrete mechanisms for the OOPE/CHE findings above:

- **Claims reimbursement delays**: Actual turnaround time for hospital claims averaged over 90 days — two to six times longer than official guidelines (15–45 days) — creating cash-flow pressure that may incentivize hospitals to extract payment from patients.
- **"Reserved package" rules**: Certain procedures (e.g., chemotherapy) were restricted to public hospitals under PMJAY rules; patients receiving multi-modal treatment (e.g., cancer care) in a private hospital could end up paying out-of-pocket for the reserved-package component without realizing it in advance.
- **Pre-hospitalisation and top-up payments**: Hospitals routinely charged patients for pre-operative diagnostics (to hedge against non-admission) and for medicine/implant "upgrades" beyond the package rate.
- **Frontline staff capacity gaps**: Training for hospital-level Ayushman Mitras (desk staff managing the scheme) was purely software-centric, with no substantive training in medical documentation or package selection — contributing to processing delays and disputes.
- **Weak provider regulation**: No hospital reported the six-hour auto-approval safeguard functioning as designed; insurers routinely raised medically irrelevant queries, further delaying care and payment.

These findings directly explain the "double-billing" and "balance billing" phenomena that Garg, Bebarta, and Tripathi (2024), Reshmi et al. (2021), and Garg, Tripathi, and Bebarta (2023) identify only as statistical patterns without mechanism. Saxena et al. (2022) essentially show *how* PMJAY's cashless promise breaks down at the point of care.

3.6 The Institutional Delivery / Maternal Care Sub-Case

Garg, Tripathi, and Bebarta's (2023) focus on childbirth (a clinically bounded, universally covered service under

PMJAY) offers a useful "cleanest test" of the scheme's financial protection promise, since caesarean and non-caesarean deliveries are covered nationwide and do not suffer from the reserved-package ambiguity Saxena et al. (2022) identified for other conditions. Even here, PMJAY showed **no effect** on OOPE or distress financing, and private hospitals showed a caesarean-section rate more than three times higher than public hospitals (49.5% vs. 15.5%) — evidence of possible supply-induced demand in the for-profit private sector that insurance coverage does nothing to constrain.

4. Points of Convergence

Despite the contradictions above, several findings are remarkably consistent across the entire body of evidence:

1. **Private-sector hospitals cost dramatically more than public hospitals**, regardless of insurance status — this holds in every single study that examines it (Garg, Bebarta, & Tripathi, 2024; Kumar et al., 2025; Saxena et al., 2022; Garg, Tripathi, & Bebarta, 2023), and indirectly in Bonu and Bhushan (2026).
2. **PMJAY performs better, or at minimum does no harm, when care is delivered in public hospitals.** Multiple studies (Garg, Bebarta, & Tripathi, 2024; Kumar et al., 2025; Garg, Tripathi, & Bebarta, 2023) find that OOPE is similar between insured and uninsured patients specifically *within* the public sector — the insurance "problem" is concentrated almost entirely in the private empanelled hospital segment.
3. **"Double billing" and balance billing by private providers is a persistent, cross-cutting mechanism** cited by Garg, Bebarta, and Tripathi (2024), Reshmi et al. (2021), Saxena et al. (2022), and Garg, Tripathi, and Bebarta (2023) as the central explanation for why cashless insurance fails to translate into actual financial protection.
4. **Claims processing and reimbursement delays are a structural weak point** identified independently by Reshmi et al. (2021) and Saxena et al. (2022), creating incentives for hospitals to shift costs back onto patients.
5. **Coverage and enrolment have expanded substantially** — this is not disputed anywhere in the literature. The debate is entirely about whether that expanded coverage translates into reduced financial burden.
6. **Socioeconomic and rural/urban inequities persist even where PMJAY shows aggregate benefits** (Bonu & Bhushan, 2026): poorer, rural, and marginalized households remain disproportionately vulnerable to financial shock despite formal coverage.

5. Conclusion

Taken as a whole, this body of literature does not support a simple verdict on PMJAY. The most methodologically careful single-state study using panel data and instrumental variables (Garg, Bebarta, & Tripathi, 2024) finds that PMJAY has failed to deliver on its central financial-protection promise, largely because private hospitals continue to extract out-of-pocket payments from insured patients through mechanisms — double billing, reserved-package cost-shifting, top-up charges — that Saxena et al.'s (2022) implementation research documents in granular detail. A case-control study from a different state (Kumar et al., 2025) and the largest, most recent national cross-section (Bonu & Bhushan, 2026) both report meaningfully positive findings, suggesting either genuine state-level variation in scheme performance, real improvement over time, or — more cautiously — that the positive results are partly attributable to the absence of a public/private hospital-type control variable that every other study identifies as decisive.

What is not in dispute is the underlying mechanism: **wherever a study can distinguish public from private hospital use, the private sector is the site of financial risk, and insurance status does comparatively little to neutralize it.** This suggests that the central policy lesson from seven years of PMJAY evidence is not really about insurance design in isolation, but about the adequacy of provider regulation, contract enforcement, and reimbursement-rate design governing the private hospitals that PMJAY was built to bring into the fold. Several of the reviewed studies (Garg, Bebarta, & Tripathi, 2024; Reshmi et al., 2021; Saxena et al., 2022; Garg, Tripathi, & Bebarta, 2023) explicitly call for reduced reliance on private providers, stronger

contracting and audit mechanisms, and continued investment in public-sector capacity as the more promising path toward the scheme's original UHC ambitions — a conclusion that even the more favorably-inclined Bonu and Bhushan (2026) do not really contest, given their own emphasis on expanding coverage depth and strengthening primary care infrastructure (Ayushman Arogya Mandirs) as next steps.

Future research most urgently needs multi-state, longitudinal, quasi-experimental designs that can jointly capture hospital-sector type, implementation quality, and household financial outcomes — precisely the ambition of De Allegri et al.'s (2020) unrealized protocol. Until such evidence exists at scale, the honest summary of the literature is one of genuine, unresolved disagreement, anchored by consistent qualitative agreement on the specific private-sector mechanisms that undermine the scheme's cashless promise.

References

Bonu, S., & Bhushan, I. (2026). Is publicly funded health insurance associated with healthcare utilisation and financial protection in India? Evidence from a cross-sectional household survey (CAMS 2022–2023). *BMJ Open, 16*, e106382. https://doi.org/10.1136/bmjopen-2025-106382

De Allegri, M., Srivastava, S., Strupat, C., Brenner, S., Parmar, D., Parisi, D., Walsh, C., Mahajan, S., Neogi, R., Ziegler, S., Basu, S., & Jain, N. (2020). Mixed and multi-methods protocol to evaluate implementation processes and early effects of the Pradhan Mantri Jan Arogya Yojana scheme in seven Indian states. *International Journal of Environmental Research and Public Health, 17*(21), 7812. https://doi.org/10.3390/ijerph17217812

Garg, S., Bebarta, K. K., & Tripathi, N. (2024). The Ayushman Bharat Pradhan Mantri Jan Arogya Yojana (AB-PMJAY) after four years of implementation – is it making an impact on quality of inpatient care and financial protection in India? *BMC Health Services Research, 24*, 919. https://doi.org/10.1186/s12913-024-11393-2

Garg, S., Tripathi, N., & Bebarta, K. K. (2023). Does government health insurance protect households from out of pocket expenditure and distress financing for caesarean and non-caesarean institutional deliveries in India? Findings from the national family health survey (2019-21). *BMC Research Notes, 16*, 85. https:// doi.org/10.1186/s13104-023-06335-w

Kumar, A. P., Yerram, A., Chugh, Y., Rana, S., Mudgal, D., Prinja, S., & Muraleedharan, V. R. (2025). Impact of India's publicly funded health insurance scheme on financial risk protection: A case-control study from Haryana state in India. *BMJ Open, 15*, e093304. https://doi.org/10.1136/bmjopen-2024-093304

Reshmi, B., Unnikrishnan, B., Rajwar, E., Parsekar, S. S., Vijayamma, R., & Venkatesh, B. T. (2021). Impact of public-funded health insurances in India on health care utilisation and financial risk protection: A systematic review. *BMJ Open, 11*, e050077. https:// doi.org/10.1136/bmjopen-2021-050077

Saxena, A., Trivedi, M., Shroff, Z. C., & Sharma, M. (2022). Improving hospital-based processes for effective implementation of Government funded health insurance schemes: Evidence from early implementation of PM-JAY in India. *BMC Health Services Research, 22*, 73. https://doi.org/10.1186/s12913-021-07448-3

Aditya Raj
Student,
M.Sc. Statistics, School of Statistics,
Maa Shakumbhari University,
Saharanpur, Uttar Pradesh, India
Dr. Richa
Assistant Professor (Guest Faculty),
School of Statistics, Maa Shakumbhari University,
Saharanpur, Uttar Pradesh, India

"Scientific Rationality and the Ethics of Human Experimentation: Utopian Aspirations and Dystopian Consequences in the selected works of H. G. Wells"

Sahil Patil

Abstract

This research paper will look at how the selected H.G. Wells novels (The Island of Dr. Moreau, The Invisible Man, The Time Machine, A Modern Utopia and Men Like Gods) explore the relationship between science, human experimentation and ethics. Within the novels, science is portrayed as a powerful tool which can be used to improve human life and create a rational, progressive and harmonious society. However, throughout the text, there are also many references to what would happen if science was removed from its ethical foundations. H.G. Wells demonstrates how dangerous it could be to see humans and living creatures as just subjects through characters such as Dr. Moreau and the Invisible Man. The Time Machine links science and social progress to humans regressing. A Modern Utopia and Men Like Gods show how rationality, scientific organization and social change can be positive. This essay will argue that H.G. Wells does not have a purely utopian view on science but a more balanced view showing how humans want to improve the world but there are also dangers to ethics involved with experimenting without control. This paper will explore how H.G. Wells predicted the debate we currently have about science, human dignity and ethical limits on experimenting.

Keywords: H. G. Wells; Scientific Rationality; Human Experimentation; Ethics; Utopian Vision; Dystopian Consequences; Science and Society; Scientific Progress; Moral Responsibility; Human Dignity.

Introduction

The development of modern science greatly impacted the intellectual landscape in the 19 th and early 20th century. Science began to provide answers to previously established ideas about the natural world, humans, evolution, time and progression. Darwin's theory of evolution, industrialism, scientific invention and the power of science led to people believing that humans had the ability to understand nature and improve their material lifestyles. However, this increase in power led to an ethical question being raised; if we gain the ability to control nature, do we have the right to? This question is raised frequently throughout H.G. Wells' fiction. While his science fiction novels are about bizarre inventions, they also highlight the ethical and social issues that can arise due to scientific knowledge. Wells recognized that while science can help open up new possibilities, it can also lead to new possibilities of destruction. Therefore, his fiction isn't entirely pro-science, but tries to show under what circumstances scientific knowledge can be beneficial or destructive.

This can be seen throughout his works 'The Island of Dr. Moreau' (1896), 'The Invisible Man' (1897), 'The Time Machine' (1895), 'A Modern Utopia' (1905), 'Men Like Gods' (1923) and 'The War of the Worlds' (1898). In 'The Island of Dr. Moreau', science is used in the biological world to try to change living creatures. In 'The Invisible Man' science leads one man to have extraordinary power over others. In 'The Time Machine', scientific theories are used to examine the long term effects of societal inequality and evolution. 'A Modern Utopia' and 'Men Like Gods' look at the positive aspects of science and rationality. Finally 'The War of the Worlds' adds a colonial aspect to the story as the traditional roles of colonizer and colonized are reversed.

The main thing to note from this paper is that Wells wasn't entirely pro or anti science. His imagination was far more complex than this. His main concern was how knowledge relates to responsibility.

In 'The Island of Dr. Moreau', science is taken to its extreme. Dr. Moreau uses science to experiment on living creatures. He uses painful operations to try to turn animals into human-like creatures. The lab becomes a symbol of science without responsibility. Moreau has no ethical consideration and his experiments raise questions around pain, consent, animal rights and limits to scientific experimentation. His aim is to overcome the apparent limits of nature but he treats living creatures as objects to manipulate to his will. This does not create perfect humans, but unstable creatures. They have forced human traits which cause conflict with their animal instincts. The Beast Folk show this. Moreau is trying to create a whole new life form using science, but it is unstable as it is in between human and animal. Moreau's famous 'Law' tries to enforce rules on the creatures showing that true humans cannot be created through biological change. This raises the issue of science and responsibility. Wells shows us that just because you can

do something through scientific knowledge that doesn't mean you should.

'The Island of Dr. Moreau' causes some serious issues. Dr. Moreau uses extreme rationality in his experiments. He uses living creatures as test subjects. He tries to change animals into human like creatures through painful operations. The lab becomes a symbol of science without responsibility. Moreau has no ethical consideration. His experiments cause issues around pain, consent, animal rights and the limits of scientific experimentation. His aim is to overcome the apparent limits of nature but he treats living creatures as objects to manipulate to his will. This does not create perfect humans, but unstable creatures. They have forced human traits which cause conflict with their animal instincts. The Beast Folk show this. Moreau is trying to create a whole new life form using science but it is unstable as it is in between human and animal. Moreau's famous 'Law' tries to enforce rules on the creatures showing that true humans cannot be created through biological change. This raises the issue of science and responsibility. Wells shows us that just because you can do something through scientific knowledge that doesn't mean you should.

In 'The Invisible Man' Griffin discovers invisibility. This is an amazing scientific achievement. However throughout the novel we learn that having scientific knowledge can be dangerous when one person has extraordinary power but no responsibility. Griffin cannot be seen easily so begins to see the traditional moral and societal boundaries as holding him back. His scientific discovery gives him power over others. This novel has dystopian undertones. This isn't because invisibility is evil but because technological/scientific power can be destructive if there isn't any ethical consideration. Griffin is a different type of scientist to Moreau. Moreau wanted to have power over nature but Griffin uses his scientific knowledge to gain power over his society. Both characters suffer from the same issue of having scientific power without any ethical consideration. Wells emphasizes the difference between knowledge and wisdom. Knowledge can give the scientist the power to manipulate the world but wisdom means knowing the consequences. Throughout his fiction he suggests that the modern scientist cannot be morally neutral.

This can also be seen in 'The Time Machine'. Wells looks at the relationship between scientific progress and the long term development of civilization. The Time Traveler travels to the far future and discovers that humans have evolved into two very different species; the Eloi and Morlocks. Initially this seems like an advanced future but becomes a worrying picture of deterioration. The Eloi seem to live a comfortable life. They are not doing any traditional work and aren't struggling with material issues. This seems like a technological utopia. However they are physically weak, mentally passive and dependant on the Morlocks. The Morlocks live down below and are associated with machinery. This shows that societal inequality can become much embedded in civilization. Wells challenges the idea that technological progress will lead to everyone improving as a human. Civilization s can have incredible technological power but also create exploitative and deteriorating situations. The significance of 'The Time Machine' in relation to the ethical issues of scientific progress is that it shows that scientific / technological achievements cannot be judged without considering the role of society. If technological progress causes more inequality then it could ultimately cause the downfall of the civilization. The Time Traveler uses his scientific achievement to gain knowledge. His machine allows him to see the future but he doesn't have the power to stop the societal issues that have caused it. Science can show us the consequences but may not have the moral power or societal issues to stop it.

The relationship between scientific rationality and societal responsibility becomes more positive in 'A Modern Utopia'. Unlike 'Moreau's lab' and 'Griffin's individual power', this novel imagines a society where rationality can be used to improve society. Wells' utopia is significant as it isn't against modernity. In many ways it is an attempt to imagine a more rational modern civilization. Scientific knowledge, education, mobility, organization and planning have helped to create this society. This shows that science can play a positive role in society. However this shouldn't be viewed as a straightforward path to perfection. Throughout Wells' utopian thinking he faces issues relating to power, personal freedom, societal control and the difficulty of creating a perfect society. The organization can become restrictive. Even Wells' utopian imagination has a degree of dystopian awareness.

'Men Like Gods' continues this positive aspect. This novel

imagines a technologically and intellectually advanced society. Many of the societal issues that plague our world have changed. The people of Utopia have created institutions that place more importance on knowledge, rationality, collaboration and human development. By contrasting the visitors from our current Earth with the people of Utopia, Wells can show us the possibility of societal change. Scientific development is meaningful as it has been combined with changes in human attitudes. Technology isn't what has created Utopia. It has been created within a bigger ethical and societal framework. This is an important point to make. Wells' utopian works aren't contradicting his dystopian science fiction. They are answering the issues raised in his previous works. 'The Island of Dr. Moreau' shows the consequences of scientific power without enough ethical consideration. 'The Invisible Man' shows the dangers of scientific knowledge leading to personal power. 'The Time Machine' shows the negative consequences of technological progress and societal division. 'A Modern Utopia' and 'Men Like Gods' try to imagine circumstances where scientific rationality can help improve society.

The ethical issues in Wells' science fiction aren't just limited to his labs. They are about the overall organization of civilization. Are scientists acting ethically or are there institutions in place to ensure scientific knowledge is used to benefit humans? This becomes very significant in 'The War of the Worlds'. This novel can be analyzed through the lens of colonialism and scientific power. The Martians invade Earth and the traditional roles of colonizer and colonized have been reversed. The Martians have come to Earth with their technological power and treat humans as objects to conquer and exploit. This is significant as Wells was writing during a time when imperialism was a huge part of European politics and culture. By imagining technologically superior beings invading England, he creates a disturbing reversal of the colonial perspective. Humans are now vulnerable in a way that imperial subjects could be.

This novel challenges the confidence in European civilization during the 19th century. Just because you have technological power doesn't mean you have moral power or security. Humans may feel like masters of nature and other people but can be vulnerable when faced with a superior technological power. Scientific rationality in this novel is linked to power. The Martians have advanced scientific and technological capabilities but this doesn't make their actions ethical. The invasion shows how technological progress can lead to exploitation and violence. However Wells adds an ironic twist to this. The Martians are ultimately defeated by microscopic organisms. Humans have developed resistance to them. This disrupts the idea that the most technologically powerful organism will have control over the future. Both humans and Martians are vulnerable to biological systems that they don't have full control over.

This novel highlights an important principle throughout Wells' fiction. Scientific knowledge doesn't remove human's vulnerability. Sometimes having more knowledge can make the consequences of failure worse. The link between 'The War of the Worlds' and 'The Island of Dr. Moreau' is particularly interesting. Moreau is trying to use his scientific power over individuals. The Martians are trying to use their technological power over the whole planet. Both have scientific power and it is linked to changing or controlling life. Wells makes us think about whether we should associate technological power with moral power. One of the key things Wells focuses on in his literary imagination is the ethical limits of scientific progress. His works often show how dangerous it can be to assume everything that can be done through science should be done. Scientific experimentation relies on curiosity, observation, hypothesis and interference. However once you introduce living creatures into your experiment, ethical issues begin to arise. Moreau's Lab shows the consequences of not having ethical considerations.

Griffin's invisibility also shows how scientific knowledge can be out of control. Once discovered it can be difficult to control the consequences. Wells anticipated this issue in the modern day. Technological innovation can advance faster than society can decide how it should be used. This is shown on a bigger scale in 'The Time Machine'. Technological progress can help with immediate issues but cause long term societal issues that the creators couldn't predict. Wells' future civilization isn't a continuation of 19th century progress but a warning. However his fiction shouldn't be seen as an argument against science. His utopian works show that he has a

strong belief in rationality. He is criticizing the lack of control over scientific power.

Conclusion

To conclude, the selection of novels by H. G. Wells demonstrates the complicated relationship between science, experimentation and morality. The Island of Dr. Moreau, The Invisible Man and The Time Machine display how science can be used destructively if it is not based on a moral standpoint. However, A Modern Utopia and Men Like Gods prove that science can play an important role in improving humanity and society. Wells does not portray science in a negative light however he stresses the importance of responsibility. Overall, his fiction suggests that science can only truly be progressive if it is driven by compassion, morality and respect for humans. Therefore the theme of utopia and dystopia remains an important aspect in Wells portrayal of the modern world.

Bibliography

1. Bergonzi, Bernard. The Early H. G. Wells: A Study of the Scientific Romances. Manchester UP, 1961.

2. Huntington, John. "Utopian and Anti-Utopian Logic: H. G. Wells and His Successors." Science Fiction Studies, vol. 9, no. 2, 1982, pp. 122–146.

3. Parrinder, Patrick. Shadows of the Future: H. G. Wells, Science Fiction, and Prophecy. Syracuse UP, 1995.

4. Wells, H. G. A Modern Utopia. 1905. Project Gutenberg.

5. Wells, H. G. The Invisible Man. 1897. Project Gutenberg.

6. Wells, H. G. Men Like Gods. 1923. Project Gutenberg.

7. Wells, H. G. The Island of Doctor Moreau. 1896. Project Gutenberg.

8. Wells, H. G. The Time Machine. 1895. Project Gutenberg.

9. Wells, H. G. The War of the Worlds. 1898. Project Gutenberg.

Sahil Patil

Ph.D. Scholar (English Literature)

Guide Name: Dr. Narender Kumar Rohilla

Baba Mastnath University, Rohtak (Haryana)

Address: Vidya Nagar, Mehem Road, Dr. Kajal's Street, Near Ravinder General Store, Bhiwani

Pin Code- 127021

Contact No. 7988424922

32

Exploring India's Girl Child Savings Scheme: Sukanya Samriddhi Yojana

Sara Tyagi, Dr. Richa

Abstract

Sukanya Samriddhi Yojana (SSY) is a saving scheme introduced in 2015 under the Beti Bachao, Beti Padhao initiative by Government of India. The scheme is designed to encourage parents and guardians to save for the education and future financial needs of a girl child. It provides a structured long-term savings facility with attractive interest rates and tax benefits. The account can generally be opened for a girl child before she attains 10 years of age, subject to the rules of the scheme.

This paper aims to study the performance of Sukanya Samriddhi Yojana by examining its objectives, growth, benefits, awareness, accessibility and usefulness for families. The study also focuses on the role of the scheme in promoting financial security and encouraging investment for girls' education and future requirements. The study examines the contribution of SSY towards financial inclusion and evaluates its participation and usefulness among families. The findings of the study are expected to provide insights into the effectiveness of SSY and its role in promoting financial security and supporting the educational and financial future of girl children.

Introduction

The Government of India has introduced several schemes to improve the social and economic well-being of its citizens. These government programes are designed to provide support and create better opportunities for people. Understanding the purpose of such schemes is important because they can have a significant effect on the social and economic development of the country.

One of these important initiatives is the Sukanya Samriddhi Yojana (SSY), which was launched by Prime Minister Narendra Modi on 22 January 2015 under the Beti Bachao, Beti Padhao campaigns. The scheme encourages parents and guardians to save money for the future needs of their girl child. It provides attractive interest and tax benefits according to the applicable government rules.

An SSY account can be opened through eligible post offices and authorised banks. The account is opened in the name of a girl child by her parents or legal guardian. The scheme is mainly intended to promote long-term financial planning for girls and help families meet future expenses such as education. Sukanya Samriddhi Yojana aims to promote the financial security and empowerment of girls by encouraging parents to save for their daughter's education and important future needs.

The scheme was introduced to encourage parents of girls below 10 years of age to begin saving for their daughter's higher education and marriage-related expenses.

SSY is included under the Exempt-Exempt-Exempt (EEE) category, which provides tax benefits according to the applicable rules. It is considered a useful savings option along with other schemes such as the public Provident Fund (PPF). According to the information mentioned in the study, the scheme received significant participation from families across India.

A major study is that poor families, particularly those living in rural and remote areas, may have limited access to financial and social security services. There is also a difference between rural and urban population in the use of government financial services. Rural communities may have lower awareness and literacy levels, which can make it difficult for them to understand and benefit from different government programes. Therefore, improving awareness about Sukanya Samriddhi Yojana and making financial services easier to access can help more families secure the future of their daughters.

Sukanya Samriddhi Yojana represents an important step towards improving the financial security and empowerment of girl children.

Its purpose is not limited to saving money, it also encourages families to plan early for their daughter's education and other future requirements. By promoting regular savings, SSY can help families become financially prepared for important expenses. It also supports the broader goals of female education, social development and financial inclusion.

What is SSY account and who can open it:

A Sukanya Samriddhi Yojana account is a savings account created specifically for an eligible girl child. The money deposited in the account is kept for her future financial needs. Parents or legal guardians can open an SSY account on behalf of an eligible Indian girl child through India Post or

authorised bank, subject to the applicable scheme rules. The account is intended to provide long-term financial support for the girl's education and future needs.

Security The Future Of Girls: How Sukanya Samriddhi Yojana Works:

Sukanya Samriddhi Yojana has become an important initiatives for improving financial confidence, inclusion and long-term development at the grassroots level. As the scheme completed 11 years on 22 January 2026, it planning for their daughter's future. Since it's beginning, more than 4.53 crore accounts have been opened. Each account represents a family's effort to create financial support for a girl child. In this way, SSY encourages families and communities to give greater importance to girl's education, financial security and equal opportunities.

Sukanya Samriddhi Yojana is designed as a long-term savings instrument for the future needs of a girl child. Parents or legal guardians can make deposits into the account, and the deposited amount earns interest according to the rate announced by the Government from time to time. The scheme combines financial benefits with a broader social purpose. Regular savings can help prepare for their daughter's education and other major future expenses. By supporting education and financial independence, the scheme contributes to the empowerment of girls and women.

Features of SSY:

- An SSY account can generally be opened for a girl child from birth until she reaches 10 years of age, according to the applicable rules.
- The account can be opened through India Post and Authorised banks.
- Normally, only one account is allowed for each girl child.
- A family can generally open accounts for a maximum of two girl children. Special provision may apply in the case of twins or triplets, subject to the required documents.
- The account can be transferred from one location to another within India, as permitted under the scheme.
- The account is operated by the parent or legal guardian until the girl reaches the prescribed age. After attaining adulthood, the girl can take control of the account by completing the required formalities.

Which documents are required for opening an account:

To open a Sukanya Samriddhi Yojana account, some basic documents are required. These generally include:

1.Sukanya Samriddhi Account Opening Form

2.Birth certificate of the girl child

3.Identify and address proof of the parent or legal guardian.

4.Aadhaar Number issued by the Unique Identification Authority of India.

5.Required photographs and other documents, as prescribed by the bank or post office.

How much deposit is required for an SSY account:

The Sukanya Samriddhi Yojana (SSY) account can be opened with a minimum initial deposit of ₹250. After that, deposit can be made in multiples of ₹50, with at least ₹250 deposited during a financial year. A maximum of ₹1,50,000 can be deposited in one financial year. Any amount deposited above this limit does not earn interest and is returned.

Deposits can be continued for up to 15 years from the date of opening the account.

How is interest calculation:

The interest on an SSY account is calculated every month and is added to the account at the end of the financial year. If the account is transferred to another bank or post office during the year, the interest earned is still credited at the end of the financial year. The SSY scheme helps parents build savings gradually and secure the financial future of their girl child.

How can money be withdraw from SSY account:

An SSY account allows the account holder to withdraw up to 50% of the available balance for educational purposes. This withdrawal facility can be used once, after the girl turns 18 years old or passes Class 10, whichever is earlier. The required documents must be submitted to make the withdrawal.

When does the SSY account mature? Can it be closed early:

The SSY account generally reaches maturity 21 years from the date it was opened. However, early closure is

permitted in certain situations:

If the account holder wants to marry before maturity	• The account holder must submit an application along with a declaration on non-judicial stamp paper, attested by a notary, and provide age proof showing that they are at least 18 years old on the date of marriage.
	• The account can be closed within one month before the marriage or up to three months after the marriage. After approval, the remaining balance along with the applicable interest can be withdrawn.
In case of death of the account holder	• The account can be closed after submitting an application and the official death certificate. • The deposited amount along with interest earned up to the date of death is paid to the guardian. • Interest for the period after closure is calculated according to the applicable Post Office Savings Account rate.

In case of death of the account holder

The account can be closed after submitting an application and the official death certificate.

The deposited amount along with interest earned up to the date of death is paid to the guardian.

Interest for the period after closure is calculated according to the applicable Post Office Savings Account rate.

The account can be closed within one month before the marriage or up to three months after the marriage. After approval, the remaining balance along with the applicable interest can be withdrawn.

If the account holder wants to marry before maturity

The account holder must submit an application along with a declaration on non-judicial stamp paper, attested by a notary, and provide age proof showing that they are at least 18 years old on the date of marriage. However, premature closure of the SSY account is not allowed during the first five years from the date the account was opened.

Why Sukanya Samriddhi Yojana is a Good Choice for the Girl Child:

Sukanya Samriddhi Yojana(SSY) is a Government-supported savings scheme created to provide long-term financial security for girls. It others attractive interest, tax benefits, and provision for withdrawals to meet important needs such as education and other future expenses.

The Sukanya Samriddhi Yojana stands as a meaningful step toward building a secure and empowered future for girls in India. By encouraging long-term savings and placing education and financial independence at the forefront, the scheme promotes both economic responsibility within families and broader social progress. The consistent rise in account adoption highlights the growing trust in and impact of this initiative. As India advances toward greater gender equality and inclusion, SSY plays a vital role in ensuring that every girl is supported with the resources and confidence she needs to grow, succeed, and realize her full potential.

Review of Literature

1. Vani U & Ramya KP (2019) [1] The study was Concluded,sukanyasamridhhiyojana schemes are Opened by married women's for their children higher Education and marriage expenses purpose. It provides Extra liquidity and safety to investors. Main difficulty Of the scheme was long term investment. The ambition Of this scheme is providing financial independence to Woman Childs and their parents.
2. Baby Saraya. K. & Hamsalakshi. R. (2019) [2] Examined Majority of the respondents are aware abut monthly Income schemes. The foremost reathereforen of the Deposit in post offices are safety and security and Liquidity. The main purpose of investing the scheme Was tax exemption and maintaining retirement life.
3. Venkatacalam V & Ravindra Kumar. G (2018) [3] Indentifies the plan was largely accounted by women's For their children future. The non Publiccororationspolicies are don't offer additional Securities, therefore the public largely prefer this type Of saving plan. Main reason for selecting this plan was Guarantee and tax exemption. Additionally one of the Main features of the plan. The study was suggesting Increasing the advertizement level.
4. Kameswari Harini V & Prachi Rampal (2018) [4] had Fulfilled attempted to study the schemes support to girl Child and in addition encourage the child education. Interest rate of the plan was changed every quarter once Therefore the governments include taking necessary step For maintaining interest continuously every year once. The Indian governments include taking these type Initiatives for being without a job.
5. Ramesh Kumar N (2018) [5] his study instructed Majority of respondents are not aware about numerous Scheme provided by post office. The governments Enclose to make additional awareness program and Advertizement among the public. In post office Respondents were facing main difficulty

improper Response from workers and lack of advance technology. The governments comprise to take necessary steps for this issue.

Conclusion

Sukanya Samriddhi Yojana (SSY) is an important government savings initiative aimed at improving the financial security and future opportunities of girl children in India. Introduced under the Beti Bachao, Beti Padhao campaign, the scheme encourages parents and legal guardians to develop a habit of regular savings for their daughters' education, higher studies and other important future needs. By offering attractive interest rates and tax benefits under applicable government rules, SSY provides families with an opportunity to build long-term financial security.

Therefore, greater awareness programmes, financial education and improved access to banking and postal facilities are necessary to ensure that the benefits of SSY reach every eligible family. Special attention should be given to economically weaker sections and rural communities.

Overall, Sukanya Samriddhi Yojana is more than just a savings scheme; it is an initiative that encourages families to invest in the future of their daughters. Its effective implementation can contribute to improving the financial stability of girl children, supporting female education, reducing financial barriers and building a society where girls have equal opportunities for growth, independence and success.

References

1. Vani U, Ramya KP (2019): " Customer Preference towards Sukanya Samridhi Scheme in Coimbatore City", International Journal of Management, Technology and Engineering. 2019; 9:448-455.
2. Baby Saranya K, Dr. R Hamsalakshmi (2018): International Journal of advanced research,ISSN: 2320-5407, Int. J. Adv. Res. 2018; 6(3):998-1004.
3. Venkatachalam V, Ravindra Kumar G (2018): "An Analysis Of Account Holder's Acceptibility and Satisfication Towards Sukanya Samriddhi Account". Journal of Business Management &Social Sciences Research (JBM&SSR). 2018; 7:33-39.
4. Kameswari Harini V, Prachi Rampal (2018) "Financial Inclusion-A Study on Sukanya samriddhi yojana", IOSR Journal of Business and Management (IOSR-JBM), 2018, 01-03.
5. Ramesh Kumar N (2018), "Investor Attitude And Savings Pattern Towards Post Office Savings Schemes-A Study With Special Reference To Rural Working Women Of PollachiTaluk In Coimbatore District", International Journal of Management, IT & Engineering. 2018; 8(10):89-100.

Sara Tyagi

[1]Student,

M.Sc Statistics, School of Statistics,

Maa Shakumbhari University

Saharanpur, Uttar pradesh, India

Dr. Richa

Assistant Professor,

School of Statistics,

Maa Shakumbhari University

Saharanpur, Uttar pradesh, India

33

"Imagining the Perfect Society and Foreseeing the Failed Civilization: Utopian and Dystopian Visions in H. G. Wells' A Modern Utopia and Selected Works"

Sahil Patil

Abstract

The research paper will examine H. G. Wells' contrasting outlooks of the perfect and failed society in A Modern Utopia and some of his novels including The Time Machine, The Island of Dr. Moreau, The Invisible Man and Men Like Gods. This will look at how Wells believed there could be a better human society with the idea of social reform, rationality, equality and social responsibility. However, his fiction highlights how humans are ambitious, unequal, violent and flawed which suggests that it may not be possible to have a perfect society. A Modern Utopia provides a creative example of how society can be rebuilt. However, the selected scientific romances demonstrate the consequences that can occur if the social and moral order breaks down. This research will analyze the opposition between the utopian ideals and realistic views of society within Wells' work. This paper will argue that his dystopian depictions should not simply be seen as the opposite of his utopian texts but should be viewed as a warning. Wells' shift between utopian ideals and dystopian warnings demonstrates his complex understanding of human progression. This shows that in order to create a better society there must be continual moral and social responsibility along with institutional reform.

Keywords: H. G. Wells; Utopia; Dystopia; *A Modern Utopia*; Ideal Society; Social Reform; Social Organization; Equality; Social Justice; Idealism and Realism; Human Progress; Failed Civilization; Social Responsibility; Utopian Reconstruction; Dystopian Warning.

Introduction

For centuries the idea of a perfect society has captured the minds of politicians, philosophers and authors. Authors have tried to create societies where humans can live in a fairer, safer, logical and free society such as Plato's 'Republic', Thomas More's 'Utopia' and numerous other social experiments imagined throughout the nineteenth century. However, with the desire to create a perfect society comes the question of whether this is actually possible. Throughout his writing H.G. Wells often depicts a utopian society. As he lived during a time of great scientific, technological, industrial and social changes, he was fascinated with the idea of rebuilding a human civilization. His writing depicts the confidence that we have in modernity and our reliance on science, logical planning, education and social reform. However, he also depicts his anxieties with society being unfair, degenerating, irresponsibly using science, violent and the unstable nature of civilization. Therefore his works fall between utopian and dystopian.

'A Modern Utopia' (1905) is one of Wells longest and detailed attempts at depicting an ideal society. Unlike other fantasies, Wells creates a modern and dynamic utopia. The novel doesn't discuss going back to a mythical golden age, but instead focuses on how a rational, planned, educated and mobile society can be created. This shows how his utopian ideas are linked to his perception of modern civilization. This novel is important as his utopia isn't simply a place where everyone is relaxed and happy. His ideal society is a planned, busy and logical one. The social institutions are rebuilt to ensure there is minimal unnecessary suffering and allow individuals to grow. This shows how his utopian ideas are a form of social commentary. The alternative society is shown to highlight the flaws of our current society. His utopia is based on the idea that society isn't a natural constant. As everything in society is created by humans they can be rebuilt. Therefore issues such as poverty, unfairness, inefficient administration and social conflict can be looked at rationally.

This shows how Wells' utopian ideas are based on his belief in reform. He isn't simply creating an escapist fantasy but wants to encourage readers to think about how their society can be improved. Patrick Parrinder notes how Wells often looks to the future in his writing. He believes that science fiction and social prophecy play an important role in his writing and looking at how humans may develop. This means his futuristic ideas are a way of analyzing the present. The main idea behind 'A Modern Utopia' is how society can be organized. Wells knows that simply having virtuous individuals won't create a fair society. Social institutions, economical systems, education, political systems and social expectations greatly affect human behaviour meaning civilization must be improved through structural reform.

This means that equality is looked at from a social

perspective. A progressive society can't allow large amounts of the population to feel unsafe and unable to progress. Wells' utopia attempts to show how society can be organized to reduce inequality and allow humans to prosper. However, equality is a complex issue for Wells. His desire to create a logical society means questions arise around how much control should be placed on individuals. If a society is carefully planned to create positive social outcomes how much control should be given to individuals? When does a society become a controlled society? Can a true free society be created?

This highlights the tension between the idealistic and realistic views of Wells' utopian ideas. While he has an idealistic view of what society could be like, he also knows humans will resist due to their desires, complex social institutions and historical factors. John Huntington discusses how Wells often has both utopian and anti-utopian ideas. This suggests that often his works contain tension. His utopia shouldn't be seen as a simple statement that a perfect society can be created. Instead his utopia is a form of experimentation. He wants to look at how possible and difficult it may be to rebuild society.

When viewed in conjunction with 'The Time Machine' the idea of a perfect society becomes more complex. While 'A Modern Utopia' shows how an ideal society can be created, 'The Time Machine' shows how civilization may fail. While the Time Traveler travels to the year 802,701 it appears civilization has reached its peak. The Eloi live in a society with no need to work and are living a life free from material issues. This appears to be a utopia. However, as the story progresses it becomes clear that this is a degenerate society. The divide between the Eloi and Morlocks shows how inequality can become deeply rooted within a civilization. Humans have evolved into two very different species with one enjoying the comforts of life while the other are working behind the scenes.

This is important in Wells' view of social progression. 'The Time Machine' shows how simply having a comfortable lifestyle won't mean a successful society. If economical and class issues aren't resolved then technology can cause increased inequality. This novel can therefore be seen as a critical companion to 'A Modern Utopia'. While 'A Modern Utopia' looks at how society can be organized to avoid injustice, 'The Time Machine' shows what could happen if social divides were allowed to continue. This shows that both novels are part of the same intellectual enquiry but from different angles. The Eloi and Morlocks can be seen as a warning. The future civilization haven't simply stopped progressing technologically they have degenerated further. Wells isn't simply concerned with whether humans have technology but whether our social institutions can create a humane civilization. This is a key point in Wells' thinking. Just because a society has machines, knowledge and plenty of resources doesn't mean it will be a fairer society. Civilizations must be measured by how ethical and social they are. 'A Modern Utopia' attempts to answer this issue by creating a society where rationality can be used to improve society as a whole. However, 'The Time Machine' shows how aware Wells is that a utopian plan cannot guarantee the future.

Human societies are still susceptible to the issues they create. The issue of civilization becomes even more unsettling in 'The Island of Doctor Moreau'. Wells moves away from looking at large scale social experiments and instead creates a lab based scenario. Moreau attempts to use science to improve animals creating the Beast Folk. This can be seen as a grotesque version of our modern desire to improve and rebuild. Moreau's island represents extreme scientific idealism. Moreau believes nature can be manipulated to fit human intellectual desires. However, this causes a dystopian outcome. The experiment causes suffering, instability and animals who have been forced to have human traits but their instincts are conflicting. This challenges the assumption that because something can be changed it should be. Moreau has the technical ability to manipulate nature but lacks an appropriate ethical system. This links back to Wells' criticism of utopian rebuilding. A perfect society cannot simply be created by manipulating external factors. Humans have desires, instincts, fears and contradictions which cannot be fully planned. The Beast Folk show how difficult it is to create an ideal form of life. This suggests that the utopian desire to remove any imperfections can become dangerous. As the utopian idea doesn't acknowledge the complexity of life it can cause violence.

'The Invisible Man' is another example of unsuccessful rebuilding. While Griffin's invisibility seems to give him incredible opportunities it causes him to become isolated from society. This novel looks at the balance between

individual freedom and social responsibility. Griffin tries to remove the restrictions placed on him by society however his freedom becomes increasingly destructive. His scientific advancement doesn't create a better society but allows him to place himself outside of normal moral expectations. This is significant in relation to his overall utopian ideas. It shows that simply having power won't improve society. Just because someone has scientific or individual superiority doesn't mean they have moral superiority. A society needs ethical relationships between individuals. Griffin's tragedy shows how individualism without responsibility can lead to a dystopian outcome. His invisibility causes him to become detached from society and his increased isolation leads to him acting destructively. Wells suggests that a society based purely on individual power wouldn't be able to create true freedom.

This contrasts with 'A Modern Utopia' as Wells' utopian society focuses on social organization and responsibility. Griffin attempts to become independent from society. Another important step in Wells' utopian ideas is 'Men Like Gods' (1923). This novel shows a highly advanced society who has developed a completely different social system. Like 'A Modern Utopia' this novel shows a world where scientific knowledge and rationality have helped to improve society. This novel is important as it suggests that to improve society values must change. Just having a technologically advanced society won't create a utopia. The individuals within the society must develop new attitudes towards collaboration, knowledge, work and responsibility.

The connection between 'Men Like Gods' and 'The Time Machine' is fascinating. Both novels look at future societies. However, they create vastly different outcomes. 'The Time Machine' shows how society can degenerate and become divided while 'Men Like Gods' shows how society can be intentionally improved. This shows how the future isn't set in stone and depends on our choices, social institutions and values. This is perhaps the most important difference between Wells' utopian and dystopian ideas. Dystopia isn't simply the opposite of utopia. It is a warning. Utopian writing asks what humans could create while dystopian writing asks what humans could become.

Therefore Wells' dystopian ideas have a reformative aspect. 'The Time Machine' warns us about the dangers of continued inequality. 'The Island of Doctor Moreau' warns us about the dangers of irresponsibly manipulating nature. 'The Invisible Man' warns us about the dangers of scientific power without social responsibility. These stories are scary as they turn abstract social or scientific issues into tangible issues. The balance between idealism and realism can be seen through Wells' alternate writing styles. Utopia provides us with an image of what could happen while dystopia shows us what could happen considering human weakness.

The darker novels prevent Wells' utopian ideas becoming naive. They make the reader think about what would happen if we attempted to create a better world without understanding the complex nature of humans and social institutions. Overall his writing can be seen as a balance between creation and caution. 'A Modern Utopia' is a creation while 'The Time Machine' is a caution. 'Men Like Gods' is a reconstruction of how society could be improved while 'The Island of Doctor Moreau' is a warning about the desire to manipulate life without ethical control. 'The Invisible Man' shows us the consequences of individual power without social responsibility.

This is why Wells is an important author to study when looking at dystopian and utopian literature. His novels don't simply show us ideal and unsuccessful societies but look at how one can develop into the other. Utopian ideas can create dystopian outcomes if they are based on an incomplete understanding of humans. Dystopian representations can inspire utopian thinking by showing us what could happen if we didn't reform. His ideas around equality and social justice are particularly important. 'The Time Machine' suggests that a class divided society could eventually become biologically divided. However 'A Modern Utopia' attempts to show how social institutions can be created to reduce this issue. This shows that Wells understands that social justice is a necessary part of civilization surviving.

His interest in social reform also reflects the intellectual climate he was living in. Industrialization had caused huge material productivity however also created poverty, overcrowding, labour issues and large social inequalities. His utopian ideas look at these contradictions and ask whether modern civilization can be reformed. It is

important to note how realistic his utopian ideas are. His ideal society is a 'modern' one as he acknowledges the technological and social aspects of modern life. He isn't trying to reform by removing modernity but by trying to utilize it more logically. This is why his utopian ideas often focus on the relationship between science and society. While science can offer opportunities the distribution and use of these opportunities will depend on social institutions. Technology can help us reduce labour, improve communication and increase knowledge however these benefits only become meaningful when they are provided within a fair institution.

His dystopian novels show us the consequences of not creating this. The Morlocks and Eloi show how society can become extremely divided. Moreau shows us how science can be powerful without ethical control. Griffin shows us how individuals can have scientific power without social responsibility. His utopian novels show us alternatives where rationality can be combined with social organization. He doesn't see science as saving or destroying civilization. The consequences depend on how ethically and socially it is used. Overall the issue of a perfect society is left unanswered. His writing doesn't give us any guarantees that we can create perfection however it does suggest that striving for improvements in society is valuable. This is an important point to make. Utopia doesn't have to be seen as somewhere we can reach forever. It can be seen as a benchmark to measure our current society against. We don't need to create a perfect society to strive for a more equal, fair, knowledgeable and beneficial society for humans. Therefore his utopian ideas can be seen as compatible with his dystopian ideas. The dystopian future doesn't necessarily mean his utopian ideas are invalid. It shows why we must be critically aware. His writing creates a complex relationship between hope and caution. His utopian ideas give us hope that we can reform while his dystopian ideas give us caution to ensure we don't cause destruction.

Conclusion

To conclude Wells' A Modern Utopia and his selected of novels illustrate how there is an underlying conflict regarding his desire to create a better society. A Modern Utopia and Men Like Gods demonstrate Wells' belief that a reformed society, with equality, rationality and collective responsibility will bring human progression. However, The Time Machine, The Island of Dr. Moreau and The Invisible Man show the negative impacts of inequality, oppression, arrogance and social chaos. This demonstrates how Wells believes that utopia and dystopia are linked together. His transition from a utopian novel to a dystopian one indicates that there is no such thing as a perfect society. Progression must be constantly made in order to have real progress, with moral awareness and responsibility. Overall Wells leaves us with the message that although we may wish to create a better civilization, we must always be aware of the negatives that can turn our dream into its opposite.

Bibliography

1. Bergonzi, Bernard. The Early H. G. Wells: A Study of the Scientific Romances. Manchester UP, 1961.

2. Huntington, John. “Utopian and Anti-Utopian Logic: H. G. Wells and His Successors.” Science Fiction Studies, vol. 9, no. 2, 1982, pp. 122–146.

3. Parrinder, Patrick. Shadows of the Future: H. G. Wells, Science Fiction, and Prophecy. Syracuse UP, 1995.

4. Wells, H. G. A Modern Utopia. 1905. Project Gutenberg.

5. Wells, H. G. The Invisible Man. 1897. Project Gutenberg.

6. Wells, H. G. Men Like Gods. 1923. Project Gutenberg.

7. Wells, H. G. The Island of Doctor Moreau. 1896. Project Gutenberg.

8. Wells, H. G. The Time Machine. 1895. Project Gutenberg.

Sahil Patil
Ph.D. Scholar (English Literature)
Guide Name: Dr. Narender Kumar
Baba Mastnath University, Rohtak (Haryana)
Address: Vidya Nagar, Mehem Road, Dr. Kajal's Street,
Near Ravinder General Store, Bhiwani
Pin Code- 127021
Contact No. 7988424922

34

VALUE-BASED EDUCATION & SKILL DEVELOPMENT – NEP 2020

Dr. Surjit Kaur, Dr. Vaishali Gupta

VISUAL OVERVIEW

Value-Based Education & Skill Development under NEP 2020

1. Education as a pathway to success

An inclusive, equitable and future-ready education system for India. Learning becomes more meaningful when knowledge, values and practical skills work together to support lifelong growth.

2. Values and environmental responsibility

Respect, empathy, integrity and care for the environment help learners use their abilities responsibly and contribute to society.

3. Skills for a sustainable future

Better Values + Better Skills = A Brighter Future

Practical learning, creativity and responsible action can help students prepare for changing careers and a more sustainable future.

ABSTRACT

The National Education Policy (NEP) 2020 presents a vision of education that extends beyond memorisation and examination results. It emphasises holistic development, critical thinking, experiential learning, ethical values, creativity and the integration of vocational education with mainstream learning. This paper examines the relationship between value-based education and skill development within the framework of NEP 2020. It discusses the meaning and importance of values, the role of practical and vocational skills, key policy directions, implementation opportunities, challenges and recommendations. The paper is a conceptual review based on the policy document and official Government of India material. It argues that values and skills should be developed together: values guide the responsible use of knowledge, while skills help learners apply knowledge to real-life situations. Effective implementation requires trained teachers, practical learning opportunities, inclusive access, meaningful assessment and cooperation among schools, higher education institutions, families, communities and employers.

Keywords: NEP 2020, value-based education, skill development, vocational education, experiential learning, holistic development, employability.

1. INTRODUCTION

Education is a major foundation of personal growth, social progress and national development. Traditionally, educational success has often been associated with marks, certificates and the ability to remember information. However, the needs of modern society require much more. Learners need integrity, empathy, respect for diversity, communication, problem-solving, creativity, digital awareness and the ability to work with others. Education becomes more meaningful when it prepares individuals not only to earn a livelihood but also to live responsibly and contribute to society.

The National Education Policy 2020 seeks to reshape India's education system around holistic development and learning that connects knowledge with understanding and application. It calls for a shift away from rote learning towards inquiry, discussion, analysis, hands-on experience and competency-based learning. It also seeks to reduce rigid divisions between academic and vocational education, and between curricular and extracurricular activities. These directions create a strong basis for linking value-based education with skill development.

2. OBJECTIVES OF THE STUDY

- To explain the meaning and importance of value-based education.
- To examine skill development in the context of NEP 2020.
- To identify how values and practical skills can be integrated into teaching and learning.
- To discuss opportunities and challenges in implementation.
- To suggest measures for making education more ethical, inclusive, practical and employment-oriented.

3. RESEARCH METHODOLOGY

This paper uses a qualitative, descriptive and conceptual approach. It draws primarily on the National Education Policy 2020 and official Ministry of Education and Press Information Bureau materials. It analyses the policy's stated aims and considers their educational implications. It does not present original fieldwork, survey findings or statistical claims; therefore, its conclusions are interpretive and

intended to support academic discussion.

4. CONCEPT OF VALUE-BASED EDUCATION

Value-based education is the process of helping learners understand, develop and practise principles that guide responsible conduct. These values include honesty, integrity, respect, empathy, fairness, cooperation, self-discipline, tolerance, environmental responsibility, constitutional values and concern for the well-being of others. Values are not developed through lectures alone. They are strengthened when students experience fairness, participate in shared responsibilities, reflect on real situations and observe ethical behaviour in adults and institutions.

Value-based education supports the development of responsible citizens. It encourages students to respect different languages, cultures and viewpoints; resolve disagreements peacefully; act honestly in academic work; protect public property; and understand their duties towards society and the environment. It also helps learners recognise that technical ability without ethical judgement may be misused. Values therefore provide a moral direction for the application of knowledge and skills.

5. SKILL DEVELOPMENT: MEANING AND SCOPE

Skill development refers to building the practical abilities and personal competencies required for learning, work and everyday life. It includes technical and vocational skills as well as transferable skills that are useful across professions. Examples include communication, teamwork, critical thinking, problem-solving, creativity, financial literacy, digital literacy, entrepreneurship, leadership and time management.

Vocational skills connect education with practical tasks and occupational fields. Depending on local needs and available facilities, students may gain exposure to agriculture, design, healthcare support, information technology, tourism, crafts, business services, media or other areas. Skill development should not limit students to one career at an early age. Instead, it should help them discover interests, understand the world of work and make informed choices about further study and employment.

6. NEP 2020: KEY DIRECTIONS

NEP 2020 was approved in 2020 and sets out a broad framework for transforming school and higher education. Its relevant directions include:

6.1 Holistic development: Education should nurture cognitive, social, ethical, emotional and physical development, rather than focusing only on academic performance.

6.2 Experiential learning: Hands-on activities, projects, discussion, discovery, arts-integrated and sports-integrated learning can help students connect concepts with experience.

6.3 Reduced emphasis on rote learning: Curriculum and assessment should give greater importance to understanding, critical thinking, application and problem-solving.

6.4 Integration of vocational education: The policy supports reducing the perceived separation between vocational and academic pathways, giving learners opportunities to experience practical work and different career options.

6.5 Flexibility and multidisciplinary learning: Students should have opportunities to explore different subjects and develop a wider combination of knowledge and skills.

6.6 Indian values and constitutional principles: Education should foster respect for the Constitution, fundamental duties, cultural diversity, human dignity, sustainability and responsible citizenship.

6.7 Inclusion and equity: Educational opportunities should be made accessible to learners from different social, economic, linguistic and geographic backgrounds, including learners with disabilities.

7. LINKING VALUES WITH SKILLS

Values and skills are complementary. Communication becomes more effective when supported by respect and active listening. Leadership is stronger when combined with fairness and accountability. Digital skills become safer when learners understand privacy, cyber responsibility and the need to verify information. Entrepreneurship becomes more sustainable when it includes honesty, quality, social responsibility and concern for the environment.

Schools and colleges can integrate both dimensions through practical activities. Group projects can develop teamwork and respect for different opinions. Community surveys can teach data collection while encouraging sensitivity to local needs. Environmental campaigns can combine planning, communication and ecological responsibility. Internships and vocational projects can

teach workplace skills alongside punctuality, safety, honesty and cooperation. Reflection journals and case discussions can help learners consider the ethical consequences of decisions.

8. ROLE OF TEACHERS AND EDUCATIONAL INSTITUTIONS

Teachers are central to the development of values and skills. Their behaviour models fairness, patience, responsibility and respect. They can create classrooms where questions are welcomed, mistakes are treated as learning opportunities and every student is encouraged to participate. Teacher development should therefore include learner-centred pedagogy, inclusive teaching, project-based learning, assessment for learning and the integration of life skills and ethical reflection.

Schools and colleges can support implementation by creating skill clubs, career guidance activities, community engagement programmes, laboratories, workshops and partnerships with local organisations. Institutions should ensure that vocational learning is meaningful and safe, that students receive guidance before choosing pathways, and that practical opportunities are available to girls, disadvantaged learners and students with disabilities. Families and community members can reinforce values through participation and positive examples.

9. BENEFITS FOR STUDENTS AND SOCIETY

A balanced approach to values and skills can produce several benefits. Students may become more confident, independent and adaptable. They can learn to solve problems, communicate clearly, collaborate with others and make thoughtful decisions. Practical learning may help learners understand career possibilities and connect classroom knowledge with real-life tasks. Ethical learning can strengthen trust, civic participation and respect for diversity. At the broader level, a skilled and responsible population can support innovation, productivity, social inclusion and sustainable development.

These benefits are not automatic. They depend on the quality of teaching, access to resources, relevance of activities and the way learning is assessed. Skill courses should be connected to genuine learning outcomes and should not be treated as a substitute for a strong academic foundation.

10. CHALLENGES IN IMPLEMENTATION

Several challenges may affect implementation. First, schools differ in infrastructure, funding, equipment and access to trained teachers. Second, some families and learners may continue to view vocational education as less prestigious than academic education. Third, teachers may face pressure to complete syllabus content and prepare students for examinations, leaving limited time for projects and reflection. Fourth, opportunities for workplace exposure and career guidance may vary by location. Fifth, digital inequality can restrict access to online learning. Finally, assessing values is complex: institutions must avoid reducing honesty, empathy or responsibility to a simplistic score.

A further challenge is ensuring that education remains inclusive. Learners have different abilities, languages, interests and family circumstances. A single method or career pathway will not suit everyone. Institutions need flexible options, accessible materials, appropriate support and regular feedback from students and communities.

11. RECOMMENDATIONS

The following steps can strengthen value-based education and skill development:

- Integrate ethical reflection and constitutional values into everyday classroom activities rather than teaching them only as isolated topics.
- Expand hands-on projects, demonstrations, field visits, internships and community-based learning where safe and feasible.
- Provide teachers with regular professional development and practical teaching resources.
- Offer career guidance that presents academic, vocational and multidisciplinary routes with equal respect.
- Build partnerships with local artisans, community organisations, public institutions and responsible employers.
- Ensure equitable access to equipment, digital resources, accessible materials and trained support staff.
- Assess practical competencies through portfolios, demonstrations, projects and feedback, alongside suitable written assessments.
- Involve families and communities in activities that encourage service, environmental care, inclusion and civic responsibility.

Submitted By:
Dr. Surjit Kaur
Associate Professor,
V.M.M. Rohtak.

Dr. Vaishali Gupta
Associate Professor,
V.M.M. Rohtak.

· Review programmes periodically using student feedback, learning outcomes and evidence of access and participation.

12. CONCLUSION

Value-based education and skill development are essential parts of a holistic education system. NEP 2020 provides a policy direction that emphasises understanding, experience, ethical development, flexibility and the integration of vocational learning with mainstream education. Values help students use their knowledge responsibly, while skills help them turn knowledge into action. When both are developed together, education can prepare learners for employment, lifelong learning and active citizenship.

The success of this vision depends on effective implementation. Teachers need support, institutions need suitable resources, and students from all backgrounds must have fair opportunities to participate. Education should not be judged only by marks or certificates, but also by whether learners can think critically, work constructively, act ethically and contribute to a more inclusive and sustainable society.

REFERENCES

1. Government of India, Ministry of Education (2020). National Education Policy 2020. https:// www.education.gov.in/sites/upload_files/mhrd/files/NEP_Final_English_0.pdf

2. Press Information Bureau, Government of India (2020, September 14). Highlights of New Education Policy-2020.https://www.pib.gov.in/PressReleasePage.aspx?PRID=1654058

3. Ministry of Education, Government of India. National Education Policy, 2020 Initiatives. https:// dsel.education.gov.in/nep-initiatives

4. Ministry of Education, Government of India. Thematic Sessions: Access, Quality Education and Governance. https://www.education.gov.in/nep

Note: This paper is a conceptual review of official policy material. For formal publication, add institution-specific details, follow the required citation style, and verify all references.

35

Henry James as a Psychological Novelist and Literary Critic: An Analytical Study

Dr Satish Kumar

Abstract

Henry James stands as one of the most influential figures in nineteenth and early twentieth-century literature, recognized for his pioneering contribution to psychological realism and literary criticism. This research paper explores James's literary evolution, thematic concerns, narrative techniques, and his critical philosophy. Drawing upon the content of the provided document, the study highlights James's focus on human consciousness, international themes, and artistic integrity. It further examines his dual role as both a novelist and critic, emphasizing how his theoretical insights shaped modern fiction. The paper also evaluates James's engagement with European and American cultures, his stylistic innovations, and his enduring impact on literary traditions. Through a critical and interpretative approach, this study demonstrates that Henry James's work transcends conventional storytelling, offering deep psychological insight and aesthetic refinement.

Introduction

Henry James is widely regarded as one of the greatest literary figures to emerge from America during the nineteenth and early twentieth centuries. Born on April 15, 1843, in New York, James grew up in a culturally rich and intellectually stimulating environment. As noted in the uploaded document (page 1), his father was a philosopher and writer, and his brother William James became a renowned psychologist. This intellectual upbringing significantly influenced James's literary sensibilities.

James's early exposure to both American and European cultures played a crucial role in shaping his worldview. James, family travelled extensively across Europe, enabling him to absorb diverse cultural influences. This cross-cultural exposure later became a defining feature of his works, particularly in his exploration of contrasts between American innocence and European sophistication.

His decision to pursue literature over law marked the beginning of a remarkable literary career. Influenced by writers such as Balzac, Flaubert, and Turgenev , James developed a unique narrative style that emphasized psychological depth over external action. His early works often depicted American life, but gradually he shifted towards more complex themes involving international experiences and moral dilemmas.

Henry James as a Psychological Novelist

One of the most distinguishing aspects of Henry James's literary contribution is his emphasis on psychological realism. James was primarily concerned with "intellectual and emotional relations rather than physical being." This shift from external events to internal consciousness marked a significant departure from traditional narrative techniques. James's novels delve deeply into the inner lives of characters, exploring their thoughts, emotions, and moral conflicts. His approach aligns with what later came to be known as psychological determinism, where characters' actions are shaped by their mental states and experiences. James learned this concept from Russian novelist Turgenev, who emphasized the organic development of character.

Focus on Consciousness

James believed that the essence of fiction lies in capturing the complexity of human consciousness. Rather than relying on dramatic events, he focused on subtle psychological processes. This is evident in works like The Portrait of a Lady, where the protagonist Isabel Archer's internal struggles form the core of the narrative.

Character-Centred Narrative

Unlike many of his contemporaries, James placed characters at the centre of his narratives. He was more concerned with "the character above all else and with people in relation to one another." His characters often suppress their emotions, reflecting the tension between intellect and passion.

Use of Point of View

James's innovative use of point of view allowed readers to experience the story through the consciousness of characters. This technique not only enhances psychological depth but also creates ambiguity, inviting readers to interpret events subjectively.

International Theme in Henry James's Works

A significant aspect of James's fiction is his exploration of the "international theme," which examines the cultural contrasts between America and Europe. James used this theme to highlight differences in social norms, values, and behaviours.

America v/s Europe

James often portrayed Americans as naive, innocent, and morally upright, while Europeans were depicted as sophisticated but morally ambiguous. This contrast serves as a framework for exploring broader themes such as identity, morality, and cultural conflict.

Cultural Exchange and Conflict

James used international settings to create dramatic tension. Characters often struggle to reconcile their native values with foreign influences, leading to complex moral dilemmas.

Artistic Purpose

James's use of the international theme was not merely descriptive but served a deeper artistic purpose. He aimed to demonstrate how cultural interactions shape individual identity and human behaviour.

Major Works and Literary Contributions

Henry James's literary career spans several decades and includes numerous novels, short stories, and critical essays. Some of his most notable works include:

* The Portrait of a Lady (1881)
* The Bostonians (1886)
* The Princess Casamassima (1886)
* The Tragic Muse (1890)
* The Wings of the Dove (1902)
* The Ambassadors (1903)
* The Golden Bowl (1904)

These works represent the peak of James's artistic achievement, characterized by intricate plots, complex characters, and refined narrative techniques.

Late Style

James's later works exhibit a more complex and introspective style. His language becomes more elaborate, reflecting the intricacies of human thought. This stylistic evolution demonstrates his commitment to artistic perfection.

Henry James as a Literary Critic

In addition to his achievements as a novelist, Henry James was also a prominent literary critic. His critical career began with a review published in 1864, and he continued to write essays and reviews throughout his life.

Theory of Fiction

James believed that a novel should be a direct impression of life. He defined fiction as “a personal, a direct impression of life.” This perspective emphasizes the importance of realism and authenticity in literature.

Criticism as Creative Process

James viewed criticism not as a detached activity but as an extension of creative practice. His criticism emerged from his experience as a novelist, making it deeply insightful and practical.

Essay: The Art of Fiction

One of his most important critical works, The Art of Fiction, outlines his views on the purpose and nature of literature. He argues that fiction should be free from rigid rules and should reflect the complexity of life.

James's Critical Philosophy

James's critical philosophy is rooted in his belief that literature should reflect human experience in its fullest form. James rejected superficial criticism and advocated for a more nuanced understanding of artistic intention. James believed that a critic should possess sensitivity, imagination, and intellectual depth. According to James a critic must combine experience and perception to interpret literary works effectively. He distinguished between genuine criticism and mere reviewing. According to the document James reviewing is often superficial, whereas true criticism requires careful analysis and appreciation of artistic value. James's criticism reflects his belief that literature is closely connected to life. He emphasized that the best criticism emerges from lived experience and deep engagement with art.

Influence of Other Writers

Henry James was influenced by several prominent writers, including Balzac, George Eliot, Hawthorne, and Turgenev . Each of these writers contributed to his development as a novelist:

* Balzac: Helped him understand scene-setting and narrative structure
* George Eliot: Influenced his intellectual depth
* Hawthorne: Inspired his use of symbolism
* Turgenev: Introduced him to psychological realism

These influences enabled James to develop a distinctive literary style that combines realism with psychological insight.

Critical Reception and Legacy

Henry James's work has been widely studied and critiqued by scholars. The following works of Henry James enabled him to propound his critical sense in a significant way.

* Henry James: Man and Author by Pelham Edgar
* The Complex Fate by F.W. Dupee
* Henry James: Modern Judgements edited by Tony Tanner

These studies highlight James's enduring influence on modern literature.

Modern Relevance

James's emphasis on psychological depth and narrative complexity has influenced modernist writers such as Virginia Woolf and James Joyce (page 20). His techniques continue to shape contemporary literary practices.

Conclusion

Henry James remains a central figure in the history of English literature, known for his innovative approach to fiction and criticism. His focus on psychological realism, international themes, and artistic integrity distinguishes him from his contemporaries. By exploring the complexities of human consciousness and cultural interaction, James elevated the novel to a sophisticated art form. His dual role as a novelist and critic allowed him to bridge theory and practice, offering valuable insights into the nature of literature. As demonstrated in the uploaded document, his work reflects a deep commitment to understanding human experience and artistic expression. In conclusion, Henry James's contribution to literature is both profound and enduring. His works continue to inspire readers and scholars, reaffirming his place as one of the greatest literary minds of his time.

References

(Adapted and rewritten from the reference page of the uploaded document)

1. Brown, E. K. (1943). James and Conrad. Yale Review, 35, 265.
2. Mordell, A. (Ed.). (1957). Literary Reviews and Essays by Henry James. New York.
3. Dupee, F. W. (1945). The Question of Henry James. New York: Henry Holt.
4. Edel, L. (Ed.). (1957). The House of Fiction. London: Rupert Hart-Davis.
5. Tanner, T. (Ed.). (1968). Henry James: Modern Judgements. London: Macmillan.
6. James, H. (1963). The Portrait of a Lady. Middlesex: Penguin Books.
7. James, H. The Tragic Muse.
8. James, H. (1934). The Art of the Novel. New York: Scribner's.

Dr Satish Kumar
Assistant Professor in English
Government College Jassia ,Rohtak
124001 Mobile 9812273758

36

The Future of the Indian Census: Integrating Artificial Intelligence, Digital Innovation, and Smart Governance

Vijay Singh

Abstract

The decennial Indian Census is among the largest administrative and demographic exercises in the world, capturing the socioeconomic characteristics of more than one billion people. As India advances toward a digitally empowered society, the integration of Artificial Intelligence (AI) and smart governance mechanisms into census operations has become both a practical necessity and a strategic opportunity. This paper proposes a comprehensive AI-driven framework for modernizing demographic data collection, validation, processing, and policy simulation. By leveraging neurosymbolic AI, Markov Decision Processes (MDPs), and Explainable AI (XAI), the proposed methodology addresses data uncertainty, automates complex logical verification, and enables predictive governance. The study also examines ethical concerns, infrastructural constraints, and implementation challenges associated with the transition from traditional enumeration models to technologically augmented systems. The paper contributes a conceptual and operational foundation for building a more responsive, accurate, transparent, and future-ready digital census architecture for India.

Keywords: *Indian Census, Artificial Intelligence, Smart Governance, Explainable AI, Neurosymbolic AI, Public Administration etc.*

1. Introduction

The Indian Census constitutes a foundational pillar of the country's democratic and administrative system. It provides critical statistical inputs for fiscal transfers, welfare targeting, electoral delimitation, infrastructure planning, and long-term socioeconomic policymaking. Traditionally, census operations have relied on large-scale field enumeration supported by paper-based or semi-digital workflows. While historically effective, such methods are increasingly inadequate in the context of rapid urbanization, migration, technological transformation, and growing expectations for real-time governance. India's demographic landscape is evolving faster than decennial census cycles can capture. Delays in data collection, verification, processing, and publication often result in policy decisions being based on outdated population snapshots. In addition, manual processes remain vulnerable to human error, inconsistent reporting, logistical inefficiencies, and uneven field implementation across regions. Recent advances in AI, machine learning, natural language processing, and digital public infrastructure create an unprecedented opportunity to modernize census systems. AI-enabled census operations can automate data cleaning, infer missing values, detect anomalies, support multilingual processing, and simulate policy outcomes using dynamic demographic models. Such capabilities can transform the census from a static statistical event into a continuously informative governance instrument.

This paper proposes an integrated framework titled Artificial Intelligence Census Architecture (AICA) for the modernization of the Indian Census. The key contributions are:

1. A multi-layered AI architecture for digital enumeration, validation, and governance analytics.
2. Integration of neurosymbolic reasoning for logical consistency checking across demographic records.
3. Use of probabilistic models for uncertainty management and missing-data estimation.
4. Application of MDP-based simulation for predictive resource allocation.
5. Incorporation of XAI principles to ensure transparency, accountability, and public trust.

2. Related Works

2.1 AI in Public Policy and Economic Governance

Artificial intelligence has increasingly influenced public administration and economic planning. Computational models have been used to improve decision systems, optimize welfare delivery, and simulate policy interventions. Prior studies suggest that AI can significantly enhance administrative efficiency while improving the responsiveness of governance systems.

2.2 Decision-Making under Uncertainty

Population datasets frequently contain incomplete, delayed, or conflicting information. Bayesian reasoning, belief-function theory, and probabilistic graphical models have

been widely applied to uncertain environments. Such approaches are particularly relevant for census modernization, where incomplete household records and inconsistent responses are common operational realities.

2.3 Explainable and Ethical AI

As AI systems enter critical governance domains, transparency becomes essential. XAI frameworks enable stakeholders to understand why systems recommend specific actions or infer certain outcomes. Ethical AI literature further emphasizes fairness, privacy, bias mitigation, accountability, and regulatory oversight.

2.4 Research Gap

Although prior studies have examined AI in governance, healthcare, finance, and public services, limited work has focused specifically on the census as an integrated AI problem involving enumeration, logic validation, uncertainty management, multilingual data processing, and policy simulation. This paper addresses that gap.

3. Proposed Framework: Artificial Intelligence Census Architecture (AICA)

The proposed AICA framework consists of three interconnected layers: data ingestion, intelligent validation, and governance simulation.

3.1 Multimodal Data Ingestion Layer

This layer gathers information through:

- Self-enumeration web portals
- Mobile applications for enumerators
- Administrative databases
- Municipal and state records
- Geospatial and satellite-linked indicators (where legally permissible)

Incoming records are assigned confidence scores based on source reliability, consistency, and completeness. Missing values are not discarded; instead, uncertainty-aware models estimate probable values with confidence intervals.

3.2 Neurosymbolic Validation Layer

India's linguistic diversity, family structures, migration patterns, and household complexity require more than standard machine learning.

Neurosymbolic AI combines:

- **Neural systems** for handwriting recognition, multilingual OCR, speech input, and pattern extraction
- **Symbolic systems** for rule-based reasoning and logical consistency

Examples of validation rules include:

- Parent age must exceed child age by plausible margins
- Household relationships must be internally consistent
- Duplicate records across states must be flagged
- Marital and dependency statuses must satisfy legal and demographic logic

This layer substantially reduces manual verification burden.

3.3 Predictive Governance Simulation Layer

Validated census data feeds into an MDP-based planning engine where:

- **States** represent district-level demographic conditions
- **Actions** represent policy choices such as school construction, hospital allocation, welfare expansion, or infrastructure spending
- **Rewards** represent improvements in equity, access, productivity, and development outcomes

This enables scenario planning and evidence-based governance.

3.4 Explainable AI Interface

Every recommendation generated by the simulation engine is accompanied by human-readable explanations, such as:

- Why a district received additional health resources
- Which population trends influenced school demand forecasts
- Why migration-adjusted welfare estimates changed

Such explain ability is critical for democratic legitimacy.

4 Hypothetical Evaluation Design

Due to privacy and security restrictions surrounding actual census data, a synthetic benchmark dataset named **IndoCensus-Sim2025** is proposed.

Table 1: Experimental Dataset Characteristics, Evaluation Metrics, and Baseline Comparison

Category	Description
Dataset Characteristics	• 10 million synthetic households • Urban and rural population distributions • Migration flow records • Missing values • Duplicate entries • Logical contradictions • Regional linguistic diversity
Evaluation Metrics	1. Validation accuracy 2. Duplicate detection precision 3. Processing latency 4. Forecast accuracy over five-year simulations 5. Fairness indicators across demographic groups 6. User trust scores for Explainable AI (XAI) explanations
Baseline Comparison	• Traditional manual census workflows • Rule-based digital census systems • Standard machine learning pipelines without symbolic reasoning

5Discussions

5.1 Practical Implications

The integration of Artificial Intelligence (AI) into India's census framework has the potential to fundamentally transform the country's demographic data ecosystem and public administration. Unlike the conventional decennial census, an AI-enabled census can facilitate near real-time collection, processing, and analysis of population data, thereby enabling governments to respond more effectively to emerging socio-economic challenges. Such a system would significantly improve welfare planning by providing timely demographic insights that support evidence-based policy formulation and resource allocation. AI-driven analytics can also enhance the targeting efficiency of subsidy programs and the Public Distribution System (PDS) by identifying eligible beneficiaries with greater precision and minimizing inclusion and exclusion errors.

Furthermore, continuously updated demographic information would support faster urban planning by allowing policymakers to anticipate infrastructure needs associated with rapid migration and urban expansion. AI-generated demographic intelligence could also provide valuable insights into labor market dynamics by monitoring employment trends, migration patterns, and workforce distribution in near real time. At the district level, these capabilities would strengthen development planning by enabling administrators to make data-driven decisions tailored to local socio-economic conditions. Additionally, accurate and regularly updated population estimates could assist electoral authorities in delimitation exercises, ensuring equitable political representation based on current demographic realities. Collectively, these applications signify a paradigm shift from reactive governance, which relies on historical datasets, toward predictive governance, where proactive policy interventions are informed by continuously evolving demographic intelligence.

5.2 Operational Challenges

Despite its transformative potential, implementing an AI-enabled census at the national scale presents several operational challenges that must be addressed to ensure effectiveness and inclusivity. One of the foremost concerns is the persistent digital divide, particularly in rural and remote regions where inadequate internet connectivity, limited digital literacy, linguistic diversity, and restricted access to smart devices may hinder citizen participation in digital census processes. Without targeted interventions, these disparities may compromise data completeness and representativeness. Another significant challenge is the enormous computational scale required to process census information for a population exceeding one billion individuals. Such a system would demand robust cloud infrastructure, high-performance computing resources, extensive data storage, advanced cybersecurity mechanisms, and reliable disaster recovery systems. Institutional capacity also represents a critical factor in successful implementation. Government officials, enumerators, and administrative personnel would require comprehensive training to operate within hybrid human–AI workflows, ensuring effective collaboration between automated systems and human expertise.

Moreover, the quality of AI-generated insights remains fundamentally dependent on the accuracy and completeness of the underlying data. Inaccurate reporting,

incomplete responses, or intentional misrepresentation by respondents can introduce biases that reduce the reliability of analytical outputs. Consequently, robust data validation procedures, verification mechanisms, and continuous quality assurance frameworks remain essential components of any AI-driven census ecosystem.

6. Ethical and Legal Considerations

The deployment of AI in national census operations raises several ethical and legal issues that require careful governance. Privacy protection is paramount because census databases contain highly sensitive personal and demographic information. Ensuring confidentiality necessitates the implementation of strong encryption protocols, role-based access control, anonymization techniques, secure data storage, and privacy-preserving analytical methods that minimize the risk of unauthorized access or data misuse. Algorithmic bias constitutes another major concern. AI models trained on historical administrative records may inadvertently perpetuate existing social, economic, or regional inequalities if historical biases remain embedded within the training data. Therefore, regular algorithmic auditing, fairness assessments, and transparent model evaluation procedures are essential to ensure equitable treatment across diverse demographic groups. Equally important is the principle of accountability. While AI can substantially improve the efficiency and accuracy of census operations, critical governance decisions should remain under meaningful human oversight rather than being delegated entirely to automated systems. Human review mechanisms ensure transparency, facilitate appeals, and maintain public confidence in administrative decision-making.

Citizen trust is another foundational requirement for the successful adoption of AI-enabled census systems. Individuals must be clearly informed about how their personal information is collected, processed, stored, shared, and protected. Transparent data governance policies, informed consent mechanisms, and adherence to applicable legal and regulatory frameworks are essential for fostering public confidence and encouraging widespread participation. Future research should focus on developing AI technologies that improve the efficiency, scalability, and reliability of digital census systems. Federated learning offers a privacy-preserving approach by enabling local model training without sharing sensitive raw data. Continuous census models can replace decennial surveys with rolling updates, providing timely demographic information for responsive governance. Digital twin technologies can simulate district- or state-level policy outcomes to support evidence-based planning and resource allocation. Additionally, AI-assisted training using simulations and virtual environments can enhance enumerator preparedness and improve data quality. Together, these innovations can make future census operations more adaptive, secure, and effective.

7 Conclusions

The modernization of the Indian Census is a strategic imperative for twenty-first century governance. Traditional paper-based and static digital systems are increasingly insufficient for a rapidly changing demographic environment. This paper presented the Artificial Intelligence Census Architecture (AICA), a comprehensive framework integrating probabilistic reasoning, neurosymbolic validation, predictive policy simulation, and explainable AI. If responsibly implemented, AI can transform the census into a continuous, transparent, equitable, and intelligent public infrastructure system. However, success depends not only on technical sophistication, but also on robust privacy safeguards, fairness auditing, institutional readiness, and democratic accountability. India has the opportunity to pioneer a globally significant model of AI-enabled population governance—one that combines technological innovation with constitutional values and inclusive development.

References

1. Marwala, T., Hurwitz, E.: Artificial Intelligence and Economic Theories. arXiv preprint arXiv:1703.06597 (2017)
2. Bennett, C.C., Hauser, K.: Artificial intelligence framework for simulating clinical decision-making: A Markov decision process approach. Artif. Intell. Med. **57**(1), 9–19 (2013). https://doi.org/10.1016/j.artmed.2012.12.003
3. Shafer, G.: Probability judgement in artificial intelligence. arXiv preprint arXiv:1304.3429 (2013)
4. Gizzi, E., Nair, L., Chernova, S., Sinapov, J.: Creative problem solving in artificially intelligent agents: A survey and framework. J. Artif. Intell. Res. **75**, 857–894 (2022). https://doi.org/10.1613/jair.1.13864
5. Labarta, T., Kulicheva, E., Froelian, R., Geißler, C., Melman, X., von Klitzing, J.: Study on the helpfulness of explainable artificial intelligence. In: Longo, L., Lapuschkin, S., Seifert, C. (eds.) *Explainable Artificial Intelligence*. CCIS, vol. 2156, pp. 250–266. Springer, Cham (2024). https://doi.org/10.1007/978-3-031-63803-9_16
6. Zeng, Y., Lu, E., Huangfu, C.: Linking artificial intelligence principles. arXiv preprint arXiv:1812.04814 (2018)
7. Bharati, S., Mondal, M.R.H., Podder, P.: A review on explainable artificial intelligence for healthcare: Why, how, and when? IEEE Trans. Artif. Intell. (2023). https://doi.org/10.1109/TAI.2023.3266418
8. Marra, G., Dumančić, S., Manhaeve, R., De Raedt, L.: From statistical relational to neurosymbolic artificial intelligence: A survey. arXiv preprint arXiv:2108.11451 (2021)
9. Hu, C., Zhao, Y., Wang, Z., Du, H., Liu, J.: Games for artificial intelligence research: A review and perspectives. arXiv preprint arXiv:2304.13269 (2023)
10. Mattar, M., Mottaghi, R., Togelius, J., Lange, D.: AAAI-2019 workshop on games and simulations for artificial intelligence. arXiv preprint arXiv:1903.02172 (2019)

Vijay Singh
Assistant Professor,
Computer Science,
Government College, Badli (Jhajjar)

37

Welfare State to Welfare Governance: Changing State–Society Relations in India

Neelam

Abstract

The relationship between the state and society in India has undergone significant transformation over time. Following independence, the Indian state adopted the role of a welfare state, placing social justice, economic equality, and citizen welfare at the centre of its development agenda. Through policies and programmes related to education, healthcare, employment, food security, and social protection, the state sought to improve the living conditions of disadvantaged and vulnerable sections of society. However, liberalization, globalization, technological transformation, and the growing role of civil society have brought substantial changes in the nature and priorities of governance. The role of the state has gradually expanded beyond that of a direct provider of goods and services to include functions as a policymaker, regulator, coordinator, and enabler.

This transformation has contributed to a shift from the concept of the "welfare state" to "welfare governance," in which non-governmental organizations, the private sector, local institutions, and citizen groups increasingly participate in the formulation and implementation of public policies. Initiatives such as digital governance, Direct Benefit Transfer, social audits, and decentralization have created new possibilities for making state–society relations more participatory, transparent, and accountable. At the same time, persistent inequalities, the digital divide, unequal access to resources and services, and challenges of institutional accountability reveal important limitations of this emerging model.

This study analyses the transition from welfare state to welfare governance in India and examines the changing nature of state–society relations, participation, accountability, and inclusion. It argues that effective welfare in contemporary India depends not only on the capacity of the state but also on a balanced, inclusive, and accountable partnership among the state, market, and civil society.

Keywords: Welfare State, Welfare Governance, State–Society Relations, Social Justice, Good Governance, Citizen Participation, Inclusive Development, Digital Governance, Social Securiti

Introduction

The Evolution of Indian Public Policy: From the Welfare State to Networked Welfare Governance:

The evolution of Indian public policy reflects a continuous recalibration of the social contract between the state and its citizens. Upon gaining independence in 1947, India inherited a post-colonial economy marked by widespread poverty, structural inequality, agrarian distress, industrial underdevelopment, and deep institutional fragmentation left by colonial rule. The founding architects of the nation responded by embedding a socialist and developmentalist mandate into the Constitution. Directive Principles of State Policy (Part IV) articulated the state's obligation to secure a social order in which justice—social, economic, and political—informs all institutions of national life. The primary responsibility for social protection, economic redistribution, poverty alleviation, and infrastructure development was placed squarely on the machinery of the central and state governments. This vision produced the classic post-independence Welfare State: centralized planning through the Planning Commission, public-sector dominance in strategic industries, land reforms, community development programmes, and the gradual expansion of food security, education, and health interventions. The state was conceived as the principal, often exclusive, provider and guarantor of public goods.

Over the last three decades, however, a confluence of macro-economic shifts, political decentralization, and technological proliferation has fundamentally reshaped this dynamic. The economic crisis of 1990–91 and the subsequent programme of liberalization, privatization, and globalization exposed the structural limits of a purely state-led model of welfare delivery. Fiscal constraints, bureaucratic rigidities, implementation failures, and the sheer scale of unmet social needs revealed that the traditional Welfare State could no longer function as a self-sufficient provider. Simultaneously, the 73rd and 74th Constitutional Amendments (1992) formally empowered Panchayati Raj Institutions and urban local bodies, opening formal channels for local democratic participation. Civil society organizations expanded in number, reach, and policy influence; private-sector actors entered domains previously

reserved for the state; and digital technologies began to reconfigure the interface between citizens and the state.

The contemporary paradigm is therefore no longer characterized purely by a paternalistic government distributing public goods from the top. It is defined by *network governance*—a multi-actor, multi-level architecture in which state departments, civil society organizations (CSOs), market entities, local governance institutions, and technological platforms intersect to design, finance, deliver, and monitor social entitlements. Rights-based legislation (the Mahatma Gandhi National Rural Employment Guarantee Act, the National Food Security Act, the Right to Education Act, and the Right to Information Act), large-scale digital public infrastructure (Aadhaar, Direct Benefit Transfer, the Unified Payments Interface, and various state-level service portals), and collaborative arrangements with non-state actors now constitute the operational core of welfare delivery. The state remains the ultimate guarantor of rights and the principal financier, yet it increasingly functions as a coordinator, regulator, and platform-builder rather than the sole implementer.

This paper examines the institutional, political, and operational trajectory of India's transition from a traditional Welfare State to a networked Welfare Governance regime. It interrogates how state–society dynamics have mutated under the combined pressures of economic liberalization, democratic decentralization, and technological mediation. It evaluates the role of modern instruments—digital architecture, rights-based entitlements, and decentralized bodies—in reshaping accountability, targeting, and citizen voice. Finally, it highlights the structural friction points that persist within this emerging paradigm: questions of exclusion and digital divides, the uneven capacity of local institutions, the risks of privatization of public responsibility, coordination failures across multiple actors, and the tension between efficiency gains and the deeper democratic and redistributive aspirations of the constitutional social contract. By tracing these shifts, the paper seeks to clarify both the possibilities and the unresolved contradictions of networked welfare governance in contemporary India.entralization.

Objectives of the Study

The present study examines the transformation of the Indian welfare system from a predominantly state-led model towards a broader framework of welfare governance. It focuses on how the relationship between the state and society has changed with the expansion of democratic participation, decentralization, civil society institutions, market-oriented reforms, and digital governance.

The major objectives of the study are:

1. To examine the historical development of the welfare state in post-independence India.
2. To understand the conceptual difference between the welfare state and welfare governance.
3. To analyse the changing relationship between the Indian state and society in the context of economic, social, and political transformation.
4. To examine the changing role of government in providing education, healthcare, employment, social security, and other welfare service

Literature Review

The concept of the welfare state has occupied an important position in discussions of modern governance and social development. Traditionally, the welfare state refers to a system in which the government assumes significant responsibility for protecting citizens from social and economic risks and for providing essential services such as education, healthcare, employment support, and social security. In India, the welfare orientation of the state developed strongly after independence and was closely associated with the objectives of social justice, economic development, and reduction of social inequalities.

The Indian Constitution provides an important foundation for the welfare orientation of the state. The Fundamental Rights and Directive Principles of State Policy established a framework within which the government was expected to promote social and economic justice. Over the decades, welfare policies expanded into areas such as poverty reduction, rural development, education, public health, food security,

employment, and social protection. This period reflected a largely state-centred approach in which government institutions were the principal providers and implementers of welfare programmes.

The literature on development and human welfare has gradually moved beyond the idea that welfare can be measured only through income or material benefits. Amartya Sen's capability approach emphasises people's ability to achieve valuable ways of living. From this perspective, education, healthcare, social opportunities, freedom, and access to resources are important components of human development. This approach provides a broader basis for understanding welfare and highlights the importance of enabling people to participate meaningfully in social and economic life.. The concept of governance introduced another important dimension to the study of welfare. Governance is broader than government because it includes interactions among public institutions, civil society organisations, communities, private organisations, and citizens. This perspective suggests that welfare outcomes are increasingly shaped through networks and partnerships rather than through government institutions alone. In the Indian context, this transformation has become more visible with the expansion of civil society participation, public-private partnerships, community-based initiatives, and decentralized institutions.

The process of economic liberalization beginning in the early 1990s also influenced the relationship between the state and society. The role of the state changed in several sectors as market institutions and private actors became more significant. However, the state continued to have an important responsibility for social protection and the provision of basic services. Consequently, welfare governance developed as a framework in which the state remained an important actor while working alongside other institutions and social groups

Decentralization has also contributed to changing state–society relations. The 73rd and 74th Constitutional Amendments strengthened the constitutional position of Panchayati Raj Institutions and urban local bodies. Local institutions created opportunities for greater participation in planning, development, and implementation of welfare programmes. The literature on decentralization therefore connects local governance with accountability, participation, and responsiveness to community needs.

Another important area of literature concerns digital governance. The increasing use of digital platforms, online databases, direct benefit mechanisms, and electronic service delivery has changed the way citizens interact with public institutions. Digital governance can improve the speed and transparency of service delivery, but researchers have also . concerns related to digital exclusion, technological access, privacy, and the ability of disadvantaged groups to use digital systems effectively.

Overall, the literature indicates a gradual movement from a predominantly government-centred welfare model towards a more complex system of welfare governance. The state continues to play a central role, but citizens, communities, civil society organisations, local institutions, and other actors increasingly participate in the welfare process. At the same time, the literature suggests that participation and technological modernization do not automatically eliminate inequality or exclusion. Effective welfare governance therefore requires institutional accountability, accessibility, social inclusion, and meaningful citizen participation.

Methodology

A qualitative-descriptive research design using secondary data is used in this study. It blends descriptive analysis of official labor policy data with sociological analysis of current literature.

Results / Findings

The study identifies several important changes in the relationship between the state and society in India.

3.1 Shift from State-Centred Welfare to Welfare Governance

The findings indicate that India's welfare system has gradually moved beyond a model in which government institutions were the primary providers of welfare. Contemporary welfare delivery involves interaction among government departments, local institutions, civil society organisations, communities, and other stakeholders. The state remains central, but welfare

provision increasingly operates through multiple institutional channels.

3.2 Expansion of the State's Welfare Responsibilities

The welfare responsibilities of the Indian state have expanded considerably. Welfare policies now address a broad range of issues, including education, healthcare, employment, food security, housing, rural development, and social protection. This expansion reflects the continuing importance of the state in addressing social and economic inequalities.

3.3 Greater Role of Citizens and Civil Society

The findings show an increasing role for citizens and civil society in welfare processes. Community organisations, non-governmental organisations, self-help groups, and other social institutions can contribute to awareness, implementation, monitoring, and delivery of welfare programmes. This has created greater interaction between public institutions and society.

3.4 Importance of Decentralized Governance

Decentralization has created opportunities for welfare programmes to be planned and implemented closer to local communities. Panchayats and urban local bodies can provide a platform through which local needs are communicated to government institutions. This has contributed to a more participatory dimension of welfare governance.

3.5 Growing Importance of Digital Governance

Digital technologies have become an important part of welfare administration. Online services, digital identification, electronic transfers, and digital information systems can simplify administrative processes and improve access to government services. At the same time, unequal access to technology and digital literacy can create difficulties for some sections of society.

3.6 Changing Nature of Accountability

The relationship between citizens and government has also become more focused on accountability and transparency. Citizens increasingly expect public institutions to provide information, respond to grievances, and deliver services efficiently. Mechanisms such as social audits, public information systems, grievance-redressal mechanisms, and citizen participation have strengthened the accountability dimension of welfare governance.

3.7 Continuing Challenges of Inclusion

Despite changes in welfare governance, the findings indicate that social and economic inequalities continue to affect access to welfare benefits. Differences in income, education, geographical location, gender, social background, and digital access can influence people's ability to obtain public services. Therefore, the transition towards welfare governance has created new opportunities but has not removed the structural challenges associated with welfare delivery.

3.8 Overall Finding

The overall finding of the study is that the Indian welfare system is increasingly characterised by interaction between the state and a wider range of social actors. The state has not disappeared from the welfare process; rather, its role is changing from being primarily a direct provider towards also becoming a facilitator, regulator, coordinator, and guarantor of welfare. This transformation has made the relationship between state and society more interactive, although issues of inclusion, accountability, accessibility, and effective implementation remain important.

Conclusion

The transformation of India's social sector from a traditional Welfare State to a complex ecosystem of Welfare Governance reflects a fundamental change in state-society relations. The state has increasingly pivoted from being a sole delivery agency to acting as an enabler, regulator, and network manager. The integration of digital delivery channels, rights-based frameworks, local bodies, and civic organizations has enhanced operational efficiency, reduced leakages, and expanded pathways for citizen oversight.

However, welfare governance cannot serve as a replacement for core state responsibility. The challenges of digital exclusion, uneven local institutional capacity, and privatized delivery highlight the risk of state retrenchment. For welfare governance to achieve its democratic and constitutional potential, technology and multi-stakeholder partnerships must complement—rather than replace—the state's fundamental obligation to guarantee social justice. Sustained, inclusive development in contemporary India depends on a balanced framework where state capacity, civic

participation, and technological innovation operate in a transparent, accountable, and citizen-centric manner.

References

Baxi, U. (1985). Taking Suffering Seriously: Social Action Litigation in the Supreme Court of India. Law and Poverty: Essays and Materials, 387-415.

Chakrabarty, B., & Sanyal, S. (2017). Public Administration in a Globalizing World: Theories and Practices. SAGE Publications.

Chatterjee, P. (2004). The Politics of the Governed: Reflections on Popular Politics in Most of the World. Columbia University Press.

Dreze, J., & Sen, A. (2013). An Uncertain Glory: India and its Contradictions. Princeton University Press.

Jayal, N. G. (2013). Citizenship and Its Discontents: An Indian History. Harvard University Press.

Khera, R. (2011). The NREGA Courier: Essays on the Working of MGNREGA. Academic Foundation.

Kohli, A. (2012). Poverty Amid Plenty in New India. Cambridge University Press.

Manor, J. (1999). The Political Economy of Democratic Decentralization. The World Bank.

Mathur, K. (2013). From Government to Governance: A Brief Survey of the Indian Context. National Book Trust.

Sharma, P., Sharma, S., & Rani, B. (2023). Direct Benefit Transfer (DBT) in India: A Strategic Assessment of Technology-Driven Welfare Delivery. Journal of Technology Management for Growing Economies, 14(2), 38-50.

Singh, A., & Pratap, C. (2019). Social Audits and Accountability in India: Lessons from the Grassroots. Oxford University Press.

World Bank. (2021). Digital Gove-rnance and Social Protection Delivery in South Asia. World Bank Group Reports.

Neelam

P.T.T., Department of Sociology,

CDLU, Sirsa-125055, Haryana

Author Email:neelamnain21@gmail.com

Ph. No. 8708285292

38

प्रवासी हिंदी साहित्य और डॉ. जय वर्मा के रचना–संसार में वैश्विक मूल्यों की प्रतिष्ठा एवं सांस्कृतिक अस्मिता का विमर्श

पिंकी, डॉ. प्रवेश कुमारी

शोध–सारांश

बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में भूमंडलीकरण, अंतरराष्ट्रीय प्रवासन और बहुसांस्कृतिक समाजों के उदय ने हिंदी साहित्य को राष्ट्रीय सीमाओं से निकालकर वैश्विक क्षितिज प्रदान किया है। ब्रिटेन में निवास करने वाली प्रवासी हिंदी साहित्यकार डॉ. जय वर्मा का रचना–संसार भारतीय सांस्कृतिक जड़ों और वैश्विक मानवीय चेतना के मध्य एक सृजनात्मक सेतु का निर्माण करता है। प्रस्तुत शोध–पत्र का उद्देश्य डॉ. जय वर्मा के काव्य एवं कथा–साहित्य ,सहयात्री हैं हम, रिश्ते, सीमा पार से, Seven Steps, Colours of Poetry, ब्रिटेन की प्रतिनिधि कहानियाँ एवं सात कदम का विश्लेषणात्मक अध्ययन करते हुए उनमें निहित वैश्विक मूल्यों और विशेष रूप से 'सांस्कृतिक अस्मिता' के विविध आयामों की पड़ताल करना है। यह अध्ययन स्पष्ट करता है कि डॉ. जय वर्मा का साहित्य मात्र विस्थापन की त्रासदी या अतीतजीविता का दस्तावेज नहीं है, अपितु यह आधुनिक उपभोक्तावादी और यांत्रिक विश्व–व्यवस्था के समक्ष 'वसुधैव कुटुम्बकम' तथा 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' जैसे भारतीय शाश्वत जीवन–मूल्यों की वैश्विक प्रासंगिकता को तार्किक एवं संवेदनात्मक धरातल पर पुनर्स्थापित करता है।

मुख्य शब्द : प्रवासी हिंदी साहित्य, वैश्विक मूल्य, सांस्कृतिक अस्मिता, बहुसंस्कृतिवाद, विश्व–बंधुत्व, डॉ. जय वर्मा, विस्थापन।

साहित्य और मूल्य

मानव सभ्यता के विकास का इतिहास केवल भौतिक प्रगति का आख्यान नहीं है, अपितु यह मूल्यों के निरंतर विकास, परिष्कार और विस्तार का भी इतिहास है। मूल्य मानव व्यवहार को दिशा प्रदान करते हैं तथा व्यक्ति और समाज के मध्य संतुलन स्थापित करते हैं। वर्तमान युग वैश्वीकरण, उदारीकरण, तकनीकी क्रांति और सांस्कृतिक आदान–प्रदान का युग है, जिसने संपूर्ण विश्व को एक 'वैश्विक ग्राम' में परिवर्तित कर दिया है। ऐसे परिवेश में केवल स्थानीय या संकीर्ण राष्ट्रीय मूल्यों की अपेक्षा उन सार्वभौमिक सिद्धांतों की आवश्यकता अनुभव की जा रही है, जो संपूर्ण मानवता के लिए समान रूप से स्वीकार्य होंय इन्हीं सार्वभौमिक आदर्शों को 'वैश्विक मूल्य' की संज्ञा दी जाती है।

साहित्य और मूल्यों का संबंध शरीर और रक्त के समान अविभाज्य है। इस संदर्भ में डॉ. धर्मवीर भारती लिखते हैं– ''मानवीय मूल्य विराट जीवन की अगणित शिराओं में संचारित होता रहता है। जहाँ भी यह रक्तप्रवाह रुका, वहीं अंग पक्षाघात से आहत होकर सूख जाता है, बेकाम हो जाता है।''1, साहित्य को वैश्विक मानवता से जोड़ने की परंपरा भारतीय साहित्य–चिंतन में अत्यंत सुदृढ़ रही है। मुंशी प्रेमचंद ने साहित्य के सार्वभौमिक स्वरूप को रेखांकित करते हुए लिखा है– ''साहित्य वह जादू की लकड़ी है जो राष्ट्रों और जातियों को एक सूत्र में पिरोती है... वह हमारी आत्मा को जगाता है और हमें संकीर्णता से मुक्त करके श्सर्वश की ओर ले जाता है।''2, इसी क्रम में डॉ. रामविलास शर्मा साहित्य की प्रादेशिक जड़ों और उसकी वैश्विक व्यापकता का समन्वय करते हुए कहते हैं– ''सच्चा साहित्य हमेशा अपनी राष्ट्रीय जड़ों से पैदा होता है, लेकिन उसकी टहनियाँ और फल पूरे विश्व के लिए होते हैं। जो साहित्य जितना गहरा अपनी मिट्टी से जुड़ा होगा, वह उतना ही अधिक सार्वभौमिक और वैश्विक मूल्यों का वाहक बनेगा।''3,

जब हम इस सैद्धांतिक निकर्ष पर श्प्रवासी हिंदी साहित्यश को परखते हैं, तो यह स्पष्ट होता है कि विदेशों में बसे भारतीय मूल के रचनाकारों ने दो भिन्न सांस्कृतिक संसारों के मध्य संवाद स्थापित करते हुए हिंदी साहित्य को विश्वव्यापी परिप्रेक्ष्य प्रदान किया है। ब्रिटेन प्रवासी हिंदी साहित्य का एक अत्यंत समृद्ध केंद्र रहा है, जहाँ डॉ. जय वर्मा का व्यक्तित्व और कृतित्व एक युगान्तरकारी अध्याय के रूप में रेखांकित होता है।

डॉ. जय वर्मा : जीवन–परिप्रेक्ष्य, सांस्कृतिक अनुकूलन और हिंदी सेवा

डॉ. जय वर्मा का जन्म 6 मार्च 1950 को उत्तर प्रदेश के मेरठ जिले के ऐतिहासिक ग्राम श्जिवनाश में पिता सोहनवीर सिंह सोलंकी एवं माता श्रीमती अंगूरी देवी के संस्कारवान परिवार में हुआ। मेरठ विश्वविद्यालय से हिंदी विषय में उच्च शिक्षा प्राप्त करने तथा वर्ष 1967 में डॉ. महीपाल वर्मा से विवाह के उपरांत 2 अक्टूबर 1971 को वे ब्रिटेन (नॉटिंघम) पहुँचीं। सत्तर के दशक में ब्रिटेन में भारतीय मूल के प्रवासियों के लिए हिंदी भाषा एवं भारतीय संस्कृति के संरक्षण हेतु पर्याप्त संस्थागत वातावरण उपलब्ध नहीं था''4,। एक नई भौगोलिक, भाषिक और सांस्कृतिक दुनिया में प्रवेश करते हुए उन्होंने बाह्य और आंतरिक दोनों प्रकार की चुनौतियों का सामना किया, किंतु उन्होंने इन परिस्थितियों को आत्मविकास और सांस्कृतिक संवाद का माध्यम बनाया''। 5

समाजशास्त्र में प्रवासन के संदर्भ में 'सांस्कृतिक अनुकूलन'का आशय अपनी मूल सांस्कृतिक पहचान को सुरक्षित रखते हुए नई संस्कृति के सकारात्मक पक्षों को स्वीकार करना है। डॉ. जय वर्मा ने नॉटिंघम के 'कला निकेतन स्कूल'में हिंदी अध्यापन, बीबीसी रेडियो नॉटिंघम पर श्नारंगश कार्यक्रम के संचालन तथा वर्ष

2003 में अंतरराष्ट्रीय बहुभाषी साहित्यिक संस्था श्काव्य रंगश की स्थापना के माध्यम से हिंदी, उर्दू, पंजाबी, गुजराती और अंग्रेजी के रचनाकारों को एक साझा मंच प्रदान किया। उनके इन्हीं अनवरत प्रयासों के परिणामस्वरूप वर्ष 2015 में यूनेस्को द्वारा नॉटिंघम शहर को श्सिटी ऑफ लिटरेचरश का वैश्विक दर्जा प्रदान किया गया तथा वर्ष 2021 में ऐतिहासिक नॉटिंघम कैसल पर उनके नाम और कविता का स्थायी अंकन हुआ।

डॉ. जय वर्मा के काव्य–संसार में सांस्कृतिक अस्मिता और वैश्विक मूल्य

डॉ. जय वर्मा की कविताएँ प्रवासी जीवन के यथार्थ, स्मृतियों की ऊष्मा, पारिवारिक संबंधों की प्रगाढ़ता और सांस्कृतिक अस्मिता के संरक्षण का काव्यात्मक दस्तावेज हैं। बजरंगलाल गुप्ता के अनुसार भारतीय सांस्कृतिक मूल्य व्यक्ति को अपनी जड़ों से जोड़े रखते हुए विश्व–कल्याण की ओर अग्रसर करते हैं। डॉ. जय वर्मा के काव्य–संग्रहों में उद्धृत पंक्तियों के माध्यम से सांस्कृतिक अस्मिता और वैश्विक मूल्यों की अभिव्यक्ति को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है–

जीवन के प्रति आस्था और सांस्कृतिक चेतना

डॉ. जय वर्मा की रचनाओं में विस्थापन के अवसाद के स्थान पर जीवन के प्रति गहरी आस्था और अपनी सांस्कृतिक जड़ों से जुड़े रहने की प्रबल जिजीविषा दिखाई देती है। महाराष्ट्र राज्य माध्यमिक एवं उच्च माध्यमिक शिक्षा बोर्ड के पाठ्यक्रम में सम्मिलित उनकी प्रसिद्ध कविता की पंक्तियाँ उनकी इसी जीवन–दृष्टि को उजागर करती हैं–

''क्यों चाहूँ नया जन्म क्यों चाहूँ मोक्ष''6,

इन पंक्तियों में कवयित्री ने भारतीय दर्शन के पारंपरिक मोक्ष या पुनर्जन्म की कामना के स्थान पर इसी वर्तमान जीवन को सार्थक, मानवीय और सांस्कृतिक मूल्यों से समृद्ध बनाने का संदेश दिया है। यह दृष्टिकोण प्रवासी जीवन की चुनौतियों से पलायन करने के बजाय उन्हें स्वीकार कर कर्मशील बने रहने की प्रेरणा देता है।

सह–अस्तित्व, विश्व–बंधुत्व और सांस्कृतिक संवाद

प्रथम काव्य–संग्रह 'सहयात्री हैं हम' ब्रिटेन के यंत्रीकृत और औपचारिक समाज में एकाकीपन से जूझते प्रवासी मन को आत्मीय संबल प्रदान करता है। अपने काव्य–सृजन के उद्देश्य और प्रवासी मन की पीड़ा को स्पष्ट करते हुए कवयित्री संग्रह की भूमिका में लिखती हैं–

''विदेश की धरती पर जब व्यक्ति अपनी जड़ों से दूर होता है, तो वहाँ का यंत्रीकृत समाज उसे एकाकीपन का एहसास कराता हैय ऐसे परिवेश में आत्मीय संबंध और सह–अस्तित्व ही जीवन–पथ को सुगम बनाते हैं।''7

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि कवयित्री ने भारतीय संस्कारों, पारिवारिक प्रगाढ़ता और आत्मीयता के धागों को अपनी कविता में पिरोया है, जिससे विदेश में रहते हुए भी अपनी जड़ों से जुड़े रहने और संपूर्ण मानव समाज के साथ मिलकर चलने की वैश्विक चेतना व्यक्त हुई है। इसी प्रकार द्विभाषी काव्य–संकलन 'Colours of Poetry' (2010) ''पूर्वी और पश्चिमी विचारसरणी के मध्य एक सुदृढ़ सांस्कृतिक सेतु का निर्माण करता है, जो रंग, जाति, धर्म और भौगोलिक सीमाओं के भेदभाव से ऊपर उठकर शांति और विश्व–बंधुत्व का पक्ष लेता है'' ।8

भारतीय वैदिक दर्शन का वैश्विक रूपांतरण–

सांस्कृतिक अस्मिता का अत्यंत सशक्त उदाहरण डॉ. जय वर्मा के काव्य–संग्रह 'Seven Steps' (2012) में देखने को मिलता है। यह कृति भारतीय वैवाहिक एवं सांस्कृतिक परंपरा के 'सप्तपदी' (विवाह के सात फेरे व सात वचन) तथा मानव जीवन के सात सोपानों की दार्शनिक व्याख्या करती है। इस कृति की मूल संवेदना को स्पष्ट करते हुए कवयित्री रेखांकित करती हैं–

''भारतीय सांस्कृतिक वचन केवल धार्मिक अनुष्ठान नहीं हैं, अपितु यह प्रकृति से जुड़ाव, दांपत्य निष्ठा और सामाजिक उत्तरदायित्व के सार्वभौमिक जीवन–मूल्य हैं।''9

विदेशी परिवेश में रहते हुए भी कवयित्री अपनी प्राचीन वैदिक और सांस्कृतिक विरासत के प्रति अडिग विश्वास प्रकट करती हैं और नई प्रवासी पीढ़ी को यह बोध कराती हैं कि भारतीय जीवन–दर्शन संपूर्ण मानवता के लिए प्रासंगिक है।

मातृभूमि के प्रति अनुराग और पारिवारिक मूल्यों का संरक्षण

काव्य–संग्रह 'सीमा पार से' (2014) विदेश की सरहद पार (ब्रिटेन) बैठकर मातृभूमि भारत को लिखे गए काव्यात्मक संवाद की भाँति है, जिसमें भारत की मिट्टी, उत्सवों और ऋतुओं के प्रति गहरा अनुराग व्यक्त हुआ है 10,। कवयित्री ने पश्चिमी उपभोक्तावाद की तुलना में भारतीय आध्यात्मिक शांति और नैतिक मूल्यों की श्रेष्ठता को रेखांकित किया है। वहीं काव्य–संग्रह शरिश्तेश (2008) प्रवासी भारतीय समाज में टूटते–बिखरते पारिवारिक ताने–बाने की पड़ताल करता है। रिश्ते और भारतीय संस्कारों के महत्त्व को रेखांकित करते हुए वे लिखती हैं–

''रिश्तों की नींव भौतिक साधनों या दिखावे से नहीं, अपितु प्रेम, त्याग, समर्पण और परस्पर सम्मान पर टिकती है।''11,

यह कथन प्रवासी समाज की नई पीढ़ी को अपनी भारतीय जड़ों

और बुजुर्गों के प्रति उनके नैतिक कर्तव्यों का स्मरण कराता है।

कथा–साहित्य में सांस्कृतिक अस्मिता का द्वंद्व और वैश्विक मानवतावाद

कविता के साथ–साथ डॉ. जय वर्मा ने अपने कहानी–संग्रहों–'ब्रिटेन की प्रतिनिधि कहानियाँ' (2009) तथा 'सात कदम' (2013) में यूनाइटेड किंगडम में निवास कर रहे भारतीय मूल के प्रवासियों के यथार्थवादी जीवन, सांस्कृतिक टकराहट (Culture Clash) और अपनी अस्मिता को बचाए रखने के संघर्ष का प्रामाणिक चित्रण किया है। उनकी कहानियों के निम्नलिखित उद्धरण और प्रसंग सांस्कृतिक अस्मिता के विमर्श को अत्यंत स्पष्टता से उद्घाटित करते हैं–

'गुलमोहर' कहानी सांस्कृतिक जड़ों से कटने की त्रासदी की कहानी है। कहानी का मुख्य पात्र ब्रिटेन के अपने आलीशान घर के आँगन में भारत से ले जाकर श्गुलमोहरश का पौधा लगाता है, किंतु ब्रिटेन की भीषण ठंड और प्रतिकूल मौसम में वह पौधा पनप नहीं पाता और मुरझाने लगता है। कहानी के इस मार्मिक प्रसंग को स्पष्ट करते हुए लेखिका लिखती हैं–

''ब्रिटेन की भीषण ठंड और प्रतिकूल मौसम में भारत से लाया गया गुलमोहर का पौधा पनप नहीं पाता और भीतर ही भीतर मुरझाने लगता है, ठीक उस प्रवासी की तरह जो भौतिक सुख–सुविधाओं के लिए विदेश तो आ गया है, पर अपनी सांस्कृतिक जड़ों से कट गया है।''12,

यहाँ 'गुलमोहर' का पौधा उस प्रवासी भारतीय की सांस्कृतिक अस्मिता का प्रतीक है, जो अपनी मूल मिट्टी और संस्कृति से अलग होकर भौतिक समृद्धि के बावजूद आंतरिक रिक्तता का अनुभव करता है।

'दोहरी पहचान' और 'अजनबी शहर' : पीढ़ियों का सांस्कृतिक टकराव एवं भाषाई अस्मिता

कहानी 'दोहरी पहचान' ब्रिटेन में पली–बढ़ी नई प्रवासी पीढ़ी और भारत से आए उनके माता–पिता के मध्य की वैचारिक एवं सांस्कृतिक खाई को रेखांकित करती है। प्रवासी परिवारों के इस द्वंद्व को लेखिका इन शब्दों में व्यक्त करती हैं–

''नई पीढ़ी के बच्चे स्वयं को पूर्णतः ब्रिटिश मानते हैं, जबकि माता–पिता उन पर भारतीय संस्कार आरोपित करना चाहते हैं फलस्वरूप प्रवासी परिवार अपने ही घर में दो संस्कृतियों के टकराव को झेलते हैं और बच्चे 'दोहरी पहचान' के भ्रम में जीने को विवश होते हैं।''13

इसी प्रकार कहानी अजनबी शहर' अपनी मातृभाषा हिंदी से कटने और सांस्कृतिक अलगाव की पीड़ा को उजागर करती है । भारत से ब्रिटेन बुलायी गई एक वृद्धा की व्यथा को लेखिका ने अत्यंत संवेदनशीलता से चित्रित किया है–

''बेटा–बहू अपने काम पर चले जाते हैं और नाती–पोते अंग्रेजी में बात करते हैंय अपनी भाषा न समझ पाने और बाहरी अनजानी दुनिया के कारण वह वृद्धा दिनभर घर के बंद कमरों में अपनों के बीच भी अजनबी होने का संताप झेलती है।''14,

यह उद्धरण स्पष्ट करता है कि मातृभाषा केवल संवाद का माध्यम नहीं, अपितु व्यक्ति की सांस्कृतिक अस्मिता और आत्मसम्मान का आधार है।

'वापसी' कहानी : त्रिशंकु अस्मिता का यथार्थ

सात कदम संग्रह की कहानी श्वापसीश प्रवासी भारतीय की श्त्रिशंकुश जैसी अस्मिता का जीवंत दस्तावेज है । कहानी का नायक वर्षों ब्रिटेन में कार्य करने के पश्चात सेवानिवृत्त होकर हमेशा के लिए अपने गाँव भारत लौटने का निर्णय लेता है, किंतु वहाँ पहुँचकर उसे जो यथार्थ मिलता है, उसे लेखिका इन शब्दों में व्यक्त करती हैं–

''जब वह भारत पहुँचता है, तो पाता है कि यहाँ का गाँव और रिश्तेदार भी अब बदल चुके हैं और उनमें भी भौतिकता का प्रभाव आ चुका हैय वह न तो पूरी तरह ब्रिटेन का रह पाता है और न ही भारत का, और दो दुनियाओं के बीच झूलता रहता है।''15,

यह स्थिति प्रवासी जीवन की उस जटिल सांस्कृतिक वास्तविकता को दर्शाती है, जहाँ भौगोलिक वापसी के बावजूद भावनात्मक और सांस्कृतिक सामंजस्य कठिन हो जाता है।

'सात कदम', 'सीमाएँ' और 'रिश्तों की धूप' : सांस्कृतिक मूल्यों की पुनर्स्थापना एवं विश्व–बंधुत्व

सात कदम संग्रह की शीर्षक कहानी सात कदमश में आधुनिक उपभोक्तावादी जीवन–शैली के कारण डगमगाते दांपत्य संबंधों को भारतीय संस्कारों के माध्यम से बचाया जाता है । कहानी की नायिका संकट के क्षणों में विवाह के 'सात वचनों' को स्मरण कर यह सिद्ध करती है कि भारतीय सांस्कृतिक मूल्य आधुनिक वैश्विक समाज में भी परिवार को जोड़ने की शक्ति रखते हैं।

वहीं कहानी 'सीमाएँ' ब्रिटेन के कार्यस्थलों में छिपे रंग–भेद (Subtle Racism) पर प्रहार करती है, जहाँ एक योग्य भारतीय पेशेवर को केवल उसकी एशियाई पृष्ठभूमि के कारण उच्च पद से वंचित कर दिया जाता है। इसके विपरीत 'रिश्तों की धूप' कहानी संकीर्ण स्वार्थों से ऊपर उठकर वैश्विक मानवतावाद की प्रतिष्ठा करती है–

''संकट के क्षणों में जब अपने रिश्तेदार दूरी बना लेते हैं, तब एक

साधारण भारतीय पड़ोसी निःस्वार्थ सहयोग देकर यह सिद्ध करता है कि आत्मीयता और इंसानियत खून के रिश्तों से भी बड़ी होती है।''

निष्कर्ष

समग्रतः कहा जा सकता है कि प्रवासी हिंदी साहित्य के इतिहास और समकालीन वैश्विक परिदृश्य में डॉ. जय वर्मा का रचना–संसार एक अत्यंत प्रामाणिक, संवेदनशील और वैचारिक रूप से समृद्ध हस्तक्षेप है। उत्तर प्रदेश के ग्रामीण परिवेश से प्रारंभ होकर ब्रिटेन की वैश्विक भूमि तक की उनकी जीवन–यात्रा ने उनके साहित्य को भारतीय सांस्कृतिक संस्कारों की गहराई और पाश्चात्य बहुसांस्कृतिक समाज की व्यापकताकृदोनों का दुर्लभ समन्वय प्रदान किया है।

उनकी काव्य–कृतियाँ सहयात्री हैं हम, रिश्ते, Seven Steps, सीमा पार से, Colours of Poetry तथा कहानियाँ गुलमोहर, दोहरी पहचान, अजनबी शहर, वापसी, सात कदम, सीमाएँ, रिश्तों की धूप यह प्रमाणित करती हैं कि प्रवासी जीवन में अपनी सांस्कृतिक अस्मिता और मातृभाषा को सुरक्षित रखना किसी संकीर्ण कट्टरता का प्रतीक नहीं है, अपितु यह मनुष्य को आंतरिक स्थिरता, नैतिक बल और वैश्विक संवाद की क्षमता प्रदान करता है। आधुनिक युग की उपभोक्तावादी संस्कृति, एकाकीपन, नस्लीय भेदभाव और नैतिक मूल्यों के ह्रास जैसी गंभीर चुनौतियों के समक्ष डॉ. जय वर्मा का साहित्य राष्ट्रीय और भौगोलिक सीमाओं का अतिक्रमण कर संपूर्ण मानवता के कल्याण और श्वैश्विक नागरिकताश की चेतना को सुदृढ़ करने में एक सशक्त माध्यम सिद्ध होता है।

पाद टिप्पणी

1. डॉ. धर्मवीर भारती, 'मानव मूल्य और साहित्य', भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2010, पृ. 28 कृ
2. मुंशी प्रेमचंद, 'साहित्य का उद्देश्य', हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1988, पृ. 12 कृ
3. डॉ. रामविलास शर्मा, भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999, पृ. 112
4. डॉ. उषा राजे सक्सेना (संपा.), 'ब्रिटेन में हिंदी साहित्य', भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2008, पृ. 185।
5. विजय कुमार मल्होत्रा, 'प्रवासी हिंदी साहित्य रू विमर्श और परिप्रेक्ष्य', सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017, पृ. 72।
6. डॉ. जय वर्मा, क्यों चाहूँ नया जन्म क्यों चाहूँ मोक्ष (महाराष्ट्र राज्य माध्यमिक एवं उच्च माध्यमिक शिक्षा बोर्ड, कक्षा 10वीं पाठ्यक्रम, 2015 में संकलित कविता)।
7. डॉ. जय वर्मा,सहयात्री हैं हम, विकास प्रकाशन, कानपुर, 2005, भूमिका, पृ. 7 एवं पृ. 15।
8. डॉ. जय वर्मा, Colours of Poetry, Kavya Rang Publications, Nottingham (UK), 2010, pp- 12।
9. डॉ. जय वर्मा, Seven Steps, Kavya Rang Publications Nottingham (UK), 2012, pp. 5।
10. डॉ. जय वर्मा, सीमा पार से, भावना प्रकाशन, दिल्ली, 2014, पृ. 40।
11. डॉ. जय वर्मा, रिश्ते, स्टार पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 2008, पृ. 5 एवं पृ. 22।
12. डॉ. जय वर्मा, ब्रिटेन की प्रतिनिधि कहानियाँ, अयन प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, भूमिका, पृ. 9 एवं पृ. 10।
13 वही
14. वही
15. डॉ. जय वर्मा, सात कदम, भावना प्रकाशन, दिल्ली, 2013, पृ. 18।

शोधार्थी
पिंकी,
हिंदी विभाग
शोध निर्देशक
डॉ. प्रवेश कुमारी
एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग,
बाबा मस्तनाथ विश्वविद्यालय,
रोहतक, हरियाणा

39

महिला सशक्तिकरण का आर्थिक आयामः भारतीय अर्थव्यवस्था में महिलाओं की भागीदारी, स्वायत्तता एवं विकासः

PANKAJ KUMAR

सारांश

महिला सशक्तिकरण सामाजिक न्याय के साथ–साथ आर्थिक विकास, संसाधनों के न्यायसंगत वितरण और मानवीय क्षमताओं के विस्तार से भी जुड़ा हुआ है। किसी महिला का आर्थिक रूप से सशक्त होना केवल रोजगार प्राप्त करने या आय अर्जित करने तक सीमित नहीं है, बल्कि इसमें आय पर नियंत्रण, संपत्ति एवं वित्तीय संसाधनों तक पहुँच, कार्यस्थल पर सम्मान, सामाजिक सुरक्षा और परिवार तथा समाज के आर्थिक निर्णयों में भागीदारी भी शामिल है। प्रस्तुत लेख का उद्देश्य भारतीय अर्थव्यवस्था के संदर्भ में महिला सशक्तिकरण के प्रमुख आर्थिक आयामों का विश्लेषण करना है। लेख में उपलब्ध सरकारी आँकड़ों, प्रकाशित अकादमिक साहित्य तथा चयनित संस्थागत उदाहरणों के आधार पर महिलाओं की श्रमबल भागीदारी, आर्थिक स्वायत्तता, ग्रामीण आजीविका और वित्तीय समावेशन पर चर्चा की गई है। इसके लिए अमर्त्य सेन की क्षमता अवधारणा तथा नायला कबीर के संसाधन, निर्णय–क्षमता और उपलब्धि संबंधी ढाँचे का वैचारिक उपयोग किया गया है। SEWA, Timbaktu Collective, दीनदयाल अंत्योदय योजना–राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन (DAY-NRLM) के अंतर्गत महिला किसान सशक्तिकरण परियोजना तथा Mahila Housing Trust के उदाहरणों से यह समझाने का प्रयास किया गया है कि संस्थागत पहलें महिलाओं के आर्थिक अवसरों को किस प्रकार सहयोग दे सकती हैं। लेख का निष्कर्ष है कि वास्तविक महिला सशक्तिकरण के मूल्यांकन में रोजगार और आय के साथ निर्णय लेने की स्वतंत्रता, कार्य की गुणवत्ता, संसाधनों पर अधिकार तथा आर्थिक सुरक्षा को भी महत्व देना आवश्यक है।

मुख्य शब्दः महिला सशक्तिकरण, आर्थिक स्वायत्तता, श्रमबल भागीदारी, वित्तीय समावेशन, महिला उद्यमिता, ग्रामीण आजीविका, लैंगिक समानता।

1. प्रस्तावना

महिला सशक्तिकरण समावेशी और सतत विकास की एक महत्वपूर्ण शर्त है। किसी अर्थव्यवस्था की प्रगति का आकलन केवल उत्पादन, आय अथवा निवेश में वृद्धि से नहीं किया जा सकता; यह भी देखना आवश्यक है कि विकास के अवसरों और लाभों तक समाज के विभिन्न वर्गों की पहुँच कितनी है। यदि महिलाएँ शिक्षा, रोजगार, संपत्ति, ऋण, तकनीक और आर्थिक निर्णयों में समान अवसर प्राप्त नहीं करतीं, तो उपलब्ध मानवीय संसाधनों का पूरा उपयोग नहीं हो पाता।

भारतीय समाज में महिलाएँ कृषि, पशुपालन, घरेलू उत्पादन, स्वरोजगार, सेवा क्षेत्र तथा परिवार के देखभाल संबंधी कार्यों में योगदान देती हैं। फिर भी उनके कार्य का एक हिस्सा ऐसा है जिसका प्रत्यक्ष मौद्रिक मूल्य नहीं मिलता। घरेलू काम, बच्चों और बुजुर्गों की देखभाल तथा परिवार के दैनिक संचालन में लगने वाला समय महिलाओं की रोजगार संबंधी संभावनाओं को प्रभावित कर सकता है। इसलिए महिला सशक्तिकरण का आर्थिक अध्ययन केवल वेतन पाने वाली महिलाओं तक सीमित नहीं होना चाहिए।

आर्थिक सशक्तिकरण का अर्थ महिलाओं की आय बढ़ाने के साथ–साथ यह सुनिश्चित करना भी है कि वे अपनी आय और संसाधनों के उपयोग पर सार्थक निर्णय ले सकें। उदाहरण के लिए, बैंक खाता होना वित्तीय समावेशन का एक महत्वपूर्ण कदम है, लेकिन खाते का स्वतंत्र उपयोग, बचत पर नियंत्रण और आवश्यकता के समय ऋण प्राप्त करने की क्षमता भी उतनी ही महत्वपूर्ण हैं। इसी प्रकार रोजगार की उपलब्धता तभी पर्याप्त मानी जा सकती है जब काम सुरक्षित हो, उचित पारिश्रमिक मिले और महिला के पास काम जारी रखने या बदलने की वास्तविक स्वतंत्रता हो।

इस लेख का उद्देश्य महिला सशक्तिकरण के आर्थिक आयामों का विश्लेषण करना, भारत में उपलब्ध श्रमबल संबंधी सरकारी आँकड़ों को समझाना तथा कुछ संस्थागत पहलों के उदाहरणों से आर्थिक अवसरों और सीमाओं की पहचान करना है। यह लेख उपलब्ध द्वितीयक स्रोतों पर आधारित वैचारिक एवं वर्णनात्मक विश्लेषण है; इसमें कोई प्राथमिक सर्वेक्षण किए जाने का दावा नहीं किया गया है।

2- महिला सशक्तिकरण का आर्थिक एवं सैद्धांतिक आधार

अर्थशास्त्र में विकास का संबंध केवल आय में वृद्धि से नहीं, बल्कि लोगों की वास्तविक क्षमताओं और अवसरों के विस्तार से भी है। अमर्त्य सेन ने अपनी पुस्तक 'Development as Freedom' में विकास को स्वतंत्रता के विस्तार के रूप में समझाया है। इस दृष्टिकोण से महिलाओं की आर्थिक स्वतंत्रता का महत्त्व इसलिए है कि यह उन्हें शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार, सामाजिक भागीदारी और अपने जीवन से जुड़े निर्णय लेने के अधिक अवसर प्रदान कर सकती है। सेन की पुस्तक का आठवाँ अध्याय विशेष रूप से महिलाओं की सक्रिय भूमिका और सामाजिक परिवर्तन पर केंद्रित है (सेन, 1999)।

नायला कबीर ने महिला सशक्तिकरण को समझाने के लिए तीन परस्पर संबंधित आयाम प्रस्तुत किए–संसाधन,

निर्णय–क्षमता और उपलब्धियाँ। संसाधनों में आय, संपत्ति, शिक्षा, कौशल तथा सामाजिक सहयोग शामिल हो सकते हैं। निर्णय–क्षमता का संबंध इस बात से है कि महिला अपने जीवन और संसाधनों के उपयोग के बारे में कितनी स्वतंत्रता से निर्णय ले सकती है। उपलब्धियाँ उन परिणामों को दर्शाती हैं जो इन संसाधनों और निर्णयों के उपयोग से सामने आते हैं, जैसे बेहतर जीवन–स्तर, आर्थिक सुरक्षा और कल्याण (कबीर, 1999)।

इस ढाँचे से स्पष्ट होता है कि किसी एक संकेतक को महिला सशक्तिकरण का पूर्ण प्रमाण नहीं माना जा सकता। उदाहरण के लिए, किसी महिला की आय बढ़ने के बावजूद यदि उसे अपनी आय के उपयोग पर निर्णय लेने का अधिकार नहीं है, तो उसका आर्थिक सशक्तिकरण अधूरा रह सकता है। इसी प्रकार स्वयं सहायता समूह से जुड़ना एक अवसर उपलब्ध करा सकता है, लेकिन वास्तविक परिणाम इस बात पर निर्भर करेंगे कि महिला को ऋण, बाजार, प्रशिक्षण और सामूहिक निर्णयों में कितनी प्रभावी भागीदारी मिलती है।

इसलिए महिला सशक्तिकरण के आर्थिक मूल्यांकन में संसाधनों तक पहुँच, उन पर नियंत्रण, निर्णय लेने की स्वतंत्रता और जीवन–स्तर में परिवर्तन को संयुक्त रूप से देखना आवश्यक है।

3- भारतीय अर्थव्यवस्था में महिलाओं की आर्थिक स्थिति

भारत में महिलाओं की श्रमबल भागीदारी को समझाने के लिए आवधिक श्रम बल सर्वेक्षण (Periodic Labour Force Survey—PLFS) एक प्रमुख सरकारी स्रोत है। सांख्यिकी एवं कार्यक्रम कार्यान्वयन मंत्रालय की जुलाई 2023 से जून 2024 की वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार, 15 वर्ष और उससे अधिक आयु की महिलाओं की श्रमबल भागीदारी दर सामान्य स्थिति में 41.7 प्रतिशत थी। इसी अवधि में महिलाओं का श्रमिक–जनसंख्या अनुपात 40.3 प्रतिशत दर्ज किया गया। श्रमबल भागीदारी दर 2017–18 में 23.3 प्रतिशत थी, जबकि श्रमिक–जनसंख्या अनुपात उसी वर्ष 22.0 प्रतिशत था (Ministry of Statistics and Programme Implementation [MoSPI], 2024; Ministry of Labour and Employment, 2024)।

इन आँकड़ों से सर्वेक्षण की परिभाषाओं के अंतर्गत महिलाओं की आर्थिक गतिविधियों में भागीदारी बढ़ने का संकेत मिलता है। फिर भी इन दरों को महिला सशक्तिकरण का अकेला प्रमाण नहीं माना जा सकता। श्रमबल में भागीदारी और रोजगार की गुणवत्ता अलग–अलग प्रश्न हैं। यह भी देखना आवश्यक है कि महिलाएँ किस प्रकार के काम में लगी हैं, उन्हें कितना पारिश्रमिक मिलता है, काम कितना नियमित है और क्या उन्हें सामाजिक सुरक्षा उपलब्ध है।

ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में अवसरों की प्रकृति भी अलग हो सकती है। ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि, पशुपालन, पारिवारिक उद्यम और स्वरोजगार महिलाओं की आजीविका में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। शहरी क्षेत्रों में औपचारिक रोजगार, घरेलू काम, छोटे उद्यम और सेवा क्षेत्र के अवसर प्रमुख हो सकते हैं। दोनों ही संदर्भों में परिवहन, सुरक्षित कार्यस्थल, कौशल, बाजार तक पहुँच और देखभाल संबंधी जिम्मेदारियाँ महिलाओं की आर्थिक भागीदारी को प्रभावित कर सकती हैं।

आँकड़ों की व्याख्या करते समय सर्वेक्षण की अवधि और परिभाषा का उल्लेख करना भी जरूरी है। इस लेख में ऊपर दिए गए आँकड़े जुलाई 2023–जून 2024 की वार्षिक PLFS श्रृंखला के हैं। इन्हें अलग अवधि या अलग सर्वेक्षण पद्धति से प्राप्त आँकड़ों के साथ बिना स्पष्टीकरण के नहीं मिलाया जाना चाहिए।

4- महिला सशक्तिकरण के प्रमुख आर्थिक आयाम

4.1- रोजगार और श्रमबल में भागीदारी

रोजगार महिलाओं को नियमित आय, कार्य–अनुभव, कौशल और सामाजिक संपर्क प्रदान कर सकता है। इससे परिवार की आर्थिक स्थिति में योगदान देने और व्यक्तिगत आवश्यकताओं के लिए संसाधन उपलब्ध कराने की क्षमता बढ़ सकती है। हालांकि, रोजगार का प्रभाव कार्य की प्रकृति पर निर्भर करता है। कम वेतन, अस्थिर काम, असुरक्षित परिस्थितियाँ और सामाजिक सुरक्षा का अभाव महिलाओं की आर्थिक असुरक्षा को बनाए रख सकते हैं।

इसलिए नीति का उद्देश्य केवल अधिक महिलाओं को कार्यबल में लाना नहीं, बल्कि सम्मानजनक और उत्पादक रोजगार के अवसर बढ़ाना भी होना चाहिए। कौशल प्रशिक्षण को स्थानीय रोजगार की माँग, डिजिटल क्षमताओं, उद्यमिता और बाजार की आवश्यकताओं से जोड़ना उपयोगी होगा।

4.2- आय, संपत्ति और आर्थिक निर्णयों पर नियंत्रण

आय अर्जित करना आर्थिक स्वतंत्रता का एक महत्वपूर्ण साधन है, लेकिन सशक्तिकरण का प्रश्न इस बात से भी जुड़ा है कि महिला अपनी आय का उपयोग किस प्रकार करती है। यदि महिला बचत, शिक्षा, स्वास्थ्य, व्यवसाय या संपत्ति में निवेश के बारे में निर्णय ले सकती है, तो आय का सशक्तिकरण संबंधी महत्व अधिक स्पष्ट होता है।

भूमि, मकान और अन्य उत्पादक संपत्तियों पर

अधिकार महिलाओं की दीर्घकालीन आर्थिक सुरक्षा को मजबूत कर सकता है। संपत्ति का स्वामित्व ऋण प्राप्त करने, संकट के समय सहारा उपलब्ध कराने और परिवार में निर्णय लेने की स्थिति को प्रभावित कर सकता है। अतः संपत्ति के कानूनी अधिकारों की जानकारी, दस्तावेजों तक पहुँच और उनके व्यावहारिक उपयोग को बढ़ावा देना आवश्यक है।

4.3- वित्तीय समावेशन और उद्यमिता

बैंक खाते, बचत, उपयुक्त ऋण, बीमा और डिजिटल भुगतान महिलाओं की आर्थिक गतिविधियों को सहयोग दे सकते हैं। वित्तीय सेवाओं तक पहुँच छोटे उद्यम शुरू करने, कार्यशील पूँजी जुटाने और अप्रत्याशित खर्चों का सामना करने में मदद कर सकती है। लेकिन केवल खाता खोलना पर्याप्त नहीं है। वित्तीय साक्षरता, ऋण की शर्तों की समझ, बाजार की जानकारी और वित्तीय निर्णयों पर नियंत्रण भी महत्त्वपूर्ण हैं।

महिला उद्यमिता के विस्तार के लिए प्रशिक्षण के साथ कच्चे माल, तकनीक, परिवहन, डिजिटल बाजार और उत्पादों की बिक्री तक पहुँच आवश्यक है। सामूहिक उद्यम और सहकारी संस्थाएँ कुछ परिस्थितियों में लागत साझा करने, बाजार में सामूहिक सौदेबाजी और संस्थागत सहयोग प्राप्त करने का अवसर प्रदान कर सकती हैं।

4.4- अवैतनिक देखभाल कार्य और समय का आर्थिक मूल्य

घर के काम, बच्चों की देखभाल, भोजन तैयार करना और परिवार के अन्य सदस्यों की सहायता अर्थव्यवस्था तथा परिवार के जीवन को बनाए रखने में योगदान देती है। इन गतिविधियों का बड़ा हिस्सा बाजार में खरीदी–बेची जाने वाली सेवाओं के रूप में दर्ज नहीं होता। इस कारण राष्ट्रीय आय या वेतन संबंधी आँकड़े महिलाओं के कुल योगदान को पूरी तरह नहीं दर्शाते।

देखभाल संबंधी जिम्मेदारियों का असमान वितरण महिलाओं के उपलब्ध समय, नौकरी के चयन और कौशल विकास में भागीदारी को प्रभावित कर सकता है। सस्ती बाल देखभाल सेवाएँ, सुरक्षित सार्वजनिक परिवहन, मातृत्व संरक्षण और परिवार–अनुकूल कार्यस्थल महिलाओं के आर्थिक अवसरों को बढ़ाने में सहायक हो सकते हैं।

4.5- समान अवसर और कार्य की गुणवत्ता

महिलाओं के आर्थिक सशक्तिकरण के लिए शिक्षा और प्रशिक्षण के साथ भेदभाव–मुक्त अवसर, समान कार्य के लिए उचित पारिश्रमिक, सुरक्षित कार्यस्थल और शिकायत निवारण की व्यवस्था आवश्यक है। महिलाओं को अक्सर काम और पारिवारिक जिम्मेदारियों के बीच संतुलन बनाना पड़ता है; इसलिए नीतियों को केवल व्यक्तिगत कौशल की कमी पर केंद्रित करने के बजाय सामाजिक और संस्थागत बाधाओं को भी संबोधित करना चाहिए।

5- महिला सशक्तिकरण में संस्थागत प्रयासः चार उदाहरण

इस खंड में शामिल संस्थाएँ महिला सशक्तिकरण के अलग–अलग आर्थिक पहलुओं को समझाने के उदाहरण हैं। इनके द्वारा प्रकाशित पहुँच या गतिविधियों के आँकड़ों को स्वतंत्र रूप से प्रमाणित प्रभाव के बराबर नहीं माना जाना चाहिए।

5.1- SEWAः महिला श्रमिकों की आर्थिक सुरक्षा और सामूहिक उद्यम

स्व–नियोजित महिला श्रमिक संघ (Self-Employed Women's Association—SEWA) असंगठित क्षेत्र में कार्यरत महिलाओं को संगठित करने तथा सहकारी संस्थाओं और सामूहिक उद्यमों के माध्यम से उनकी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ करने की दिशा में कार्य करता है। SEWA Cooperative Federation की आधिकारिक वेबसाइट पर उपलब्ध आँकड़ों के अनुसार, संस्था की गतिविधियों के अंतर्गत 7,41,085 महिला श्रमिकों तक पहुँचने, 10,527 महिलाओं को 11 राज्यों में प्रशिक्षण देने तथा महिला श्रमिकों और उनके परिवारों से संबंधित 26,715 रोजगारों का उल्लेख है। वेबसाइट पर संबंधित उद्यमों का कुल कारोबार 76 करोड़ रुपये, आय–सृजन राशि 8.5 करोड़ रुपये और बाजार–संपर्कों के माध्यम से प्राप्त राजस्व 4.1 करोड़ रुपये भी दर्शाया गया है (SEWA Cooperative Federation n.d.)।

ये आँकड़े संस्था द्वारा प्रकाशित गतिविधियों और आर्थिक कार्यों के संकेतक हैं। इन्हें प्रत्येक महिला की व्यक्तिगत आय में वृद्धि अथवा उसके आर्थिक कल्याण में हुए स्वतंत्र रूप से प्रमाणित परिवर्तन का प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं माना जाना चाहिए। आर्थिक दृष्टि से SEWA का महत्त्व महिला श्रमिकों के सामूहिक संगठन, कौशल–विकास, उद्यमिता और बाजार तक पहुँच के माध्यम से उनकी आजीविका तथा आर्थिक निर्णय लेने की क्षमता को सुदृढ़ करने के प्रयासों में निहित है।

5.2- टिंबक्तू कलेक्टिवः ग्रामीण महिलाओं के वित्तीय संगठन

आंध्र प्रदेश में कार्यरत टिंबक्तू कलेक्टिव (The Timbaktu Collective) ग्रामीण आजीविका, सामुदायिक

संस्थाओं और महिला–नेतृत्व वाले वित्तीय संगठनों से जुड़ा है। इसके आधिकारिक विवरण में स्वशक्ति (Swasakthi) कार्यक्रम के अंतर्गत वर्ष 2012 में महाशक्ति महासंघ (Mahasakthi Federation) का गठन किया गया। यह महासंघ चार महिला सहकारी वित्तीय संस्थाओं का नेटवर्क है, जिनका स्वामित्व और संचालन 31,103 वंचित महिलाओं के पास बताया गया है और जिनका कार्य 324 गाँवों तक फैला हुआ है (Timbaktu Collective n.d.)।

यह उदाहरण सामूहिक वित्तीय संस्थाओं और महिलाओं के संगठनात्मक नेतृत्व की संभावनाओं को दर्शाता है। आर्थिक विश्लेषण के लिए यह देखना आवश्यक होगा कि सदस्य महिलाओं को बचत, ऋण, उद्यम और निर्णय प्रक्रिया में किस प्रकार के अवसर प्राप्त होते हैं। संस्थागत वेबसाइट पर प्रकाशित सदस्य संख्या अपने–आप में आय वृद्धि या गरीबी में कमी का प्रमाण नहीं है; ऐसे निष्कर्षों के लिए स्वतंत्र मूल्यांकन और समय के साथ हुए बदलाव के आँकड़े आवश्यक होंगे।

5.3- महिला किसान सशक्तिकरण परियोजना (MKSP): कृषि में महिलाओं की भूमिका

महिला किसान सशक्तिकरण परियोजना (MKSP), दीनदयाल अंत्योदय योजना–राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन (DAY-NRLM) का एक उप–घटक है। भारत सरकार के ग्रामीण विकास मंत्रालय द्वारा शुरू की गई इस परियोजना का उद्देश्य कृषि में महिलाओं की भागीदारी एवं उत्पादकता बढ़ाना तथा उनकी कृषि–आधारित आजीविका को सुदृढ़ करना है। इसके प्रमुख उद्देश्यों में टिकाऊ कृषि पद्धतियों को बढ़ावा देना, महिला किसानों के कौशल का विकास करना और कृषि संबंधी संसाधनों तथा सेवाओं तक उनकी पहुँच बेहतर बनाना शामिल है (United Nations Development Programme [UNDP], 2017)।

इन बिंदुओं को परियोजना के अपेक्षित परिणामों के रूप में समझाना चाहिए, न कि सभी क्षेत्रों में प्राप्त उपलब्धियों के रूप में। इस उदाहरण का आर्थिक महत्व यह है कि कृषि में महिलाओं के योगदान को पहचानने के साथ–साथ उनके उत्पादक संसाधनों और बाजार संबंधों पर ध्यान दिया जाता है। महिला किसानों की आर्थिक स्थिति का आकलन करने के लिए भूमि पर अधिकार, उत्पादन, शुद्ध आय, तकनीक के उपयोग और बाजार में हिस्सेदारी जैसे संकेतकों की आवश्यकता होगी।

5.4- Mahila Housing Trust: आवास, सेवाएँ और आर्थिक सुरक्षा

Mahila Housing Trust शहरी गरीब और निम्न–आय वाले समुदायों में आवास, बुनियादी सेवाओं, सामुदायिक नेतृत्व और जलवायु संबंधी जोखिमों के मुद्दों पर काम करता है। संस्था की आधिकारिक प्रभाव–संबंधी वेबसाइट पर 128,267 प्रशिक्षित महिलाओं, 49,000 पैरामीट्रिक जलवायु जोखिम बीमा (CRI) के तहत कवर की गईं महिलाएं, 18,457 सामुदायिक कार्य समूह नेताओं और 56,425 औपचारिक आवासों के आँकड़े प्रकाशित हैं (Mahila Housing Trust, n.d.)।

आवास और बुनियादी सेवाओं को महिला सशक्तिकरण से जोड़ना इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि सुरक्षित आवास, पानी और सामुदायिक संगठन समय, स्वास्थ्य, घरेलू खर्च तथा आजीविका की परिस्थितियों को प्रभावित कर सकते हैं। फिर भी प्रशिक्षित महिलाओं या औपचारिक आवासों की संख्या को सीधे आय में वृद्धि का प्रमाण नहीं माना जा सकता। इसके लिए यह जानना आवश्यक है कि इन पहलों के बाद महिलाओं की आवास–सुरक्षा, समय के उपयोग, खर्च, आजीविका और निर्णय लेने की स्थिति में क्या परिवर्तन आया।

चारों उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि महिला सशक्तिकरण के आर्थिक अवसर रोजगार, वित्तीय संगठन, कृषि संसाधनों और आवासीय सुरक्षा जैसे अलग–अलग क्षेत्रों में विकसित हो सकते हैं। इन पहलों का उचित मूल्यांकन समान संकेतकों और विश्वसनीय प्रमाणों के आधार पर किया जाना चाहिए।

6- प्रमुख चुनौतियाँ एवं नीतिगत सुझाव

महिला सशक्तिकरण की दिशा में प्रगति के बावजूद आर्थिक अवसरों और वास्तविक स्वतंत्रता के बीच अंतर बना रह सकता है। इस अंतर को कम करने के लिए निम्नलिखित उपाय उपयोगी हो सकते हैं।

पहला, सम्मानजनक रोजगार का विस्तार। कौशल प्रशिक्षण को रोजगार की वास्तविक माँग से जोड़ा जाए तथा महिलाओं के लिए सुरक्षित, नियमित और उचित पारिश्रमिक वाले काम के अवसर बढ़ाए जाएँ।

दूसरा, वित्तीय और संपत्ति संबंधी अधिकार। महिलाओं को बैंकिंग, ऋण, बीमा और डिजिटल वित्त की जानकारी उपलब्ध कराई जाए। भूमि और आवास संबंधी अधिकारों के लिए कानूनी जानकारी तथा दस्तावेजी सहायता भी महत्त्वपूर्ण है।

तीसरा, देखभाल संबंधी अवरोधों को कम करना। बाल देखभाल सुविधाएँ, सुरक्षित परिवहन और परिवार–अनुकूल कार्य व्यवस्था महिलाओं के रोजगार और प्रशिक्षण में भाग लेने की क्षमता बढ़ा सकती हैं।

चौथा, महिला उद्यमों को बाजार से जोड़ना। केवल ऋण या प्रशिक्षण देने के बजाय उत्पाद की गुणवत्ता, भंडारण, परिवहन, डिजिटल बिक्री और खरीदारों तक पहुँच पर भी ध्यान देना चाहिए।

पाँचवाँ, प्रभाव का व्यवस्थित मूल्यांकन। सरकारी योजनाओं और संस्थागत पहलों में लाभार्थियों की संख्या के साथ आय, रोजगार की स्थिरता, संपत्ति पर अधिकार, निर्णय लेने की स्वतंत्रता और आर्थिक सुरक्षा में बदलाव को भी मापा जाना चाहिए। जहाँ संभव हो, आधारभूत स्थिति और बाद की स्थिति की तुलना तथा स्वतंत्र मूल्यांकन का उपयोग किया जाए।

7- निष्कर्ष

महिला सशक्तिकरण का अर्थ केवल महिलाओं को रोजगार उपलब्ध कराना या उनकी आय में वृद्धि करना नहीं है। इसका संबंध उन अवसरों और संस्थागत परिस्थितियों से है जिनके माध्यम से महिलाएँ संसाधनों तक पहुँच प्राप्त करती हैं, उन पर नियंत्रण स्थापित करती हैं और अपने जीवन से जुड़े निर्णयों में प्रभावी भूमिका निभाती हैं। भारत की वार्षिक PLFS 2023–24 रिपोर्ट में महिलाओं की श्रमबल भागीदारी दर 41.7 प्रतिशत और श्रमिक–जनसंख्या अनुपात 40.3 प्रतिशत दर्ज होना आर्थिक गतिविधियों में महिलाओं की भागीदारी के महत्वपूर्ण संकेतक हैं। हालांकि, इन दरों के साथ रोजगार की गुणवत्ता, पारिश्रमिक, सामाजिक सुरक्षा और निर्णय लेने की स्वतंत्रता का विश्लेषण भी आवश्यक है।

SEWA, Timbaktu Collective, MKSP और Mahila Housing Trust के उदाहरण यह दर्शाते हैं कि महिला सशक्तिकरण के आर्थिक अवसर श्रम, वित्तीय संगठन, कृषि और आवास जैसे विभिन्न क्षेत्रों से जुड़े हो सकते हैं। फिर भी किसी पहल की सफलता का निष्कर्ष केवल उसके पहुँच–संबंधी आँकड़ों के आधार पर नहीं निकाला जाना चाहिए। वास्तविक मूल्यांकन के लिए महिलाओं की आय, संसाधनों पर अधिकार, कार्य की गुणवत्ता और आर्थिक निर्णयों में उनकी भूमिका के प्रमाण आवश्यक हैं।

अंततः, महिला सशक्तिकरण को आर्थिक विकास की परिधि में स्थित किसी अलग सामाजिक मुद्दे के बजाय समावेशी विकास की केंद्रीय आवश्यकता के रूप में समझाना चाहिए। ऐसी नीतियाँ अधिक प्रभावी होंगी जो महिलाओं को केवल आर्थिक गतिविधियों में शामिल न करें, बल्कि उन्हें सम्मानजनक कार्य, संसाधनों पर अधिकार, वित्तीय सुरक्षा और स्वतंत्र निर्णय लेने की वास्तविक क्षमता भी प्रदान करें।

संदर्भ सूची-

1. Kabeer, N. (1999). Resources, agency, achievements: Reflections on the measurement of women's empowerment. *Development and Change, 30*(3), 435–464. https:// doi.org/ 10.1111/1467-7660.00125
2. Mahila Housing Trust. (n.d.). *Impact*. https://www.mahilahousingtrust.org/impact/
3. Ministry of Labour and Employment. (2024, November 28). *Significant increase in women participation in workforce*. Press Information Bureau, Government of India. https:// www.pib.gov.in/PressReleaseIframePage.aspx? PRID=2078530&lang=2&reg=48
4. United Nations Development Programme. (2017, February 8). *Mahila Kisan Sashaktikaran Pariyojana*. UNDP
5. Ministry of Rural Development. (n.d.). *Mahila Kisan Sashaktikaran Pariyojana (MKSP): Programme guidelines*. Government of India. https://cdnbbsr.s3waas.gov.in/s388729221fadd d3e8a8513c60720e62c1/uploads/2025/03/2025 0312435594040.pdf
6. Ministry of Statistics and Programme Implementation. (2024). *Periodic Labour Force Survey (PLFS): Annual report, July 2023–June 2024*. Government of India. https:// mospi.gov.in/sites/default/files/publication_rep orts/AnnualReport_PLFS2023-24L2.pdf
7. SEWA Cooperative Federation. (n.d.). *Our reach and continuity*. https://sewa federation. org/reach-continuity/
8. Sen, A. (1999). *Development as freedom*. Oxford University Press.
9. The Timbaktu Collective. (n.d.). *Swasakthi*. https://timbaktu.org/initiatives/swasakthi/

PANKAJ KUMAR
Research Scholar
Dept. of Economics
Dr. Bhimrao Ambedkar University, Agra Postal
Add.- CP Puram Phase2, Shamshabad Road,
Baroli Ahir Agra 282004
Mobile- 8273650797
Email- psatyarthi@gmail.com

40

तमस उपन्यास की प्रयोजनीयता

नूतन कुमारी

सारांश

तमस भीष्म साहनी का भारत विभाजन की त्रासदी पर केंद्रित एक सुप्रसिद्ध उपन्यास है।भारत पाकिस्तान विभाजन पर अनेक काल जयी कृतियां लिखी गईं। यथा यशपाल का झूठा–सच, कमलेश्वर का कितने पाकिस्तान, रामानंद सागर का –और इंसान मर गया, अज्ञेय की कहानी शरणदाता, कृष्ण चंद्र की कहानी –पेशावर एक्सप्रेस और भीष्म साहनी का उपन्यास तमस। इन सभी रचनाओं में भीष्म साहनी का उपन्यास अपने आप में शिष्ट और विशिष्ट है, क्योंकि इसका विषय वस्तु तो मार्मिक और महत्वपूर्ण है ही, उसका निर्वाह एवं उसकी अभिव्यक्ति भी सफल है।भीष्म साहनी के उपन्यास श्तमसश का उद्देश्य अंग्रेजों द्वारा साम्प्रदायिक दंगे की भूमिका प्रस्तुत करना और दंगों के परिणामस्वरूप भीषण विनाश लीला का दृश्य प्रस्तुत करना है। भीष्म साहनी ने अपने उपन्यास श्तमसश के कथानक का गठन इसी उद्देश्य से किया है। अंग्रेजों ने अपने शासन के 200 वर्षो में श्फूट डालो और राज्य करो के सिद्धान्त को स्वीकार किया। मुराद अली के माध्यम से अंग्रेज डिप्टी कमिश्नर रिचर्ड ने नेत्थू से सुअर मरवाया और जमादार के द्वारा मस्जिद की सीढियों पर डलवा दिया। इसकी प्रतिक्रियास्वरूप मुसलमानों द्वारा गाय को काटकर धर्मशाला के सामने फेंक दिया गया। परिणाम स्वरूप सारे शहर और उसके पश्चात् कस्बे और ग्रामों में भीषण साम्प्रदायिक दंगा फैल गया। डिप्टी कमिश्नर ने इसे रोकने का कोई प्रयास नहीं किया। जब भीषण नर–संहार हो चुका, तभी शान्ति–व्यवस्था का प्रयास किया गया। पुलिस की चौकियाँ बैठाई गयीं। अमन कमेटी की स्थापना कराई गयी। सारी घटना के अन्त में उपन्यासकार ने यही निष्कर्ष निकाला कि डिप्टी कमिश्नर रिचर्ड सब कुछ जानता था और साम्प्रदायिक दंगे के बीज उसी के द्वारा बोये गये थे। वह शान्ति स्थापना से तटस्थ रहा। इसी का परिणाम यह हुआ कि साम्प्रदायिक दंगा सारे शहर में फैल तया। कथानक का प्रारम्भ दंगे की भूमिका से होता है। जिस सुअर ने शहर को दंगे की आग में झोंक दिया, उपन्यास के प्रारम्भ में नत्थू द्वारा उसी को मारने का वर्णन है। इसके पश्चात् दंगाइयों द्वारा जो भीषण रक्तपात किया गया तथा आगजनी की गयी, उससे कथानक का विकास हुआ है। पूरा शहर दंगे की लपटों में जल उठा। उपन्यासकार ने इस साम्प्रदायिक दंगे का सजीव चित्र प्रस्तुत किया है।

उपन्यास के प्रारम्भ में शहर के दंगे का व्यापक रूप सामने आया है। उपन्यास के उत्तरार्द्ध में साम्प्रदायिक दंगा कस्बों और ग्रामों में भी फैल जाने का वर्णन है। कोई भी ग्राम अथवा कस्बा दंगे से अछूता नहीं रहा। अल्पसंख्यक गाँव छोड़कर भाग खड़े हुए। उनकी दुकानों और सम्पत्ति को दंगाइयों ने लूट लिया है। दंगाई मुसलमानों ने बहुत–से हिन्दुओं और सिखों को जबरदस्ती मुसलमान बना लिया। बहुत–सी सिक्ख स्त्रियों ने कुएँ में कूदकर अपनी इज्जत बचायी। भीषण विनाश के पश्चात् अंग्रेज बहादुर की –शान्ति की चेतावनी निकली और शान्ति स्थापित हो गयी।

उपन्यासकार ने दंगा समाप्त होने के पश्चात् की स्थिति का भी सजीव वर्णन किया है। निम्नलिखित उदाहरण में रिलीफ ऑफिस का दृश्य देखा जा सकता है–

रिलीफ ऑफिस के आँगन में घूमता प्रत्येक व्यक्ति अपना विशिष्ट अनुभव लेकर आया था। लेकिन उस अनुभव को जाँचने, परखने, उसमें से निष्कर्ष निकालने की क्षमता किसी में नहीं थी। शून्य में ताकने, सिर हिला हिलाकर हर किसी की बात सुनते रहने के अलावा किसी को कुछ सूझ नहीं रहा था। एक अफवाह उठती तो आँगन में लोग उठ–उठकर उसे सुनने के लिए जमा हो जाते। कोई नहीं जानता था कि उसे क्या करना है, किधर जाना है। आगे क्या होगा, उसकी धुँधली–सी रूपरेखा भी किसी की आँखों के सामने नहीं थी। लगता, जैसे कोई अनिवार्य घटना–चक्र चल रहा है, जिस पर किसी का कोई बस नहीं है, न किसी के हाथ में निर्णय है, न संचालन, न संचालन की शक्ति।[६]

ताकत तो इस वक्त पण्डित नेहरू के हाथ में है[७] रिचर्ड ने फिर मुस्कराकर धीमे से कहा। फिर बख्शीजी की ओर देखकर बोला, ष्आप लोग ब्रिटिश सरकार के खिलाफ, तो भी दोष ब्रिटिश सरकार का और जो आपस में लड़ें तो भी दोष ब्रिटिश सरकार का।[८] उसके होठों पर मुस्कान बराबर बनी रही। पर वह फिर जैसे सम्भल गया और बोला, ष्लेकिन कहिए, हमें इस मसले को मिलकर सुलझाना चाहिए।और उसने हयातबख्त की ओर देखा।

रिचर्ड ने केवल अमन कमेटी बनाकर शान्ति स्थापना के लिए उन जन प्रतिनिधियों को सलाह दी जो उससे दंगा शान्त करने की आशा लेकर गये थे। शहर में भीषण साम्प्रदायिक दंगा फूट पड़ा। अंग्रेजी सरकार की ओर से दंगा रोकने और जनता की रक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं किया गया। रिचर्ड दंगों और भीषण नर–संहार के समाचार सुनकर अपनी पत्नी लीजा के साथ ठिठोलियाँ करता रहा।

शहर के साम्प्रदायिक दंगे की भीषण ज्वाला की लपटों ने देहात और कस्बों को भी अपने में समेट लिया। गाँव के गाँव भीषण दंगों में समाप्त हो गये।

धर्म के नाम पर हिन्दू–मुसलमानों में भीषण साम्प्रदायिक दंगा कराकर और भीषण नर–संहार हो जाने पर डिप्टी कमिश्नर रिचर्ड ने कूटनीतिक चाल चली। हवाई जहाज से उड़कर शान्ति की घोषणा की, अमन कमेटियाँ बनायी गई , हानि की लिखा–पढ़ी की गयी। अंग्रेजों की नीति के कारण अमन कमेटी में भी एकता नहीं रह गयी। मुसलमानों ने कांग्रेस को हिन्दुओं की संस्था घोषित किया। मुस्लिम ने पाकिस्तान का प्रश्न उठाया।

उपर्युक्त उद्देश्य के केन्द्र पर ही तमस उपन्यास का कथानक प्रारम्भ होता है। म्यूनिसिपल कमेटी के जमादार मुरादअली से पाँच रुपये लेकर नत्थू जाटव सलोत्तरी साहब के लिए सुअर मारता है। उसने सुअर काटकर मस्जिद की सीढ़ियों पर डाल दिया है। इस प्रकार अंग्रेज अधिकारी साम्प्रदायिक दंगे का बीज बो देते हैं। इसकी प्रतिक्रिया मुसलमानों की ओर से तत्काल होती है। वे एक गाय मारते हैं और धर्मशाला के आगे डाल देते हैं। शहर में साम्प्रदायिक दंगे की तैयारी होने लगती है। हिन्दू और मुसलमान दोनों पक्ष दंगे की तैयारी में लग जाते हैं। कुछ नेता डिप्टी कमिश्नर रिचर्ड को अवगत कराते हैं, वह पहले ही से सब कुछ जानता है। दंगे के बीज तो उसी ने बोये हैं। रिचर्ड की पत्नी लीजा का निम्नलिखित कथन रिचर्ड की मनोवृत्ति पर प्रकाश डालता है–

बहुत चालाक नहीं बनो रिचर्ड! मैं सब जानती हूँ। देश के नाम पर वे लोग तुम्हारे साथ लड़ते हैं और धर्म के नाम पर तुम इन्हें आपस में लड़ाते हो, क्यों, ठीक है न?

हम नहीं लड़ाते, लीजा, ये लोग खुद लड़ते हैं।

लोग।तुम इन्हें लड़ने से रोक भी तो सकते हो। आखिर हैं तो ये एक ही जाति के।

डिप्टी कमिश्नर रिचर्ड अपनी पत्नी के सामने अपनी कूटनीति स्पष्ट करता हुआ कहता है–ष्डार्लिंग! हुकूमत करने वाले यह नहीं देखते कि प्रजा में कौन–सी समानता पायी जाती है, उनकी दिलचस्पी तो यह देखने में होती है कि वे किन–किन बातों में एक–दूसरे से अलग हैं।

भीष्म साहनी के उपन्यास श्तमसश के कथानक का विकास इसी वार्तालाप के आधार पर होता है। रिचर्ड सुअर को मरवाकर मस्जिद की सीहियों पर डलवा देता है। प्रतिक्रिया स्वरूप मुसलमान गाय काटकर धर्मशाला के बाहर डाल देते हैं। बस हिन्दू–मुसलमानों में तनातनी बढ़ जाती है। हिन्दू और मुसलमान दोनों के नेता रिचर्ड की कोठी पर जाकर सारी स्थिति को स्पष्ट करते हैं और सुरक्षा का कदम उठाने का आग्रह करते हैं, बरना रिचर्ड को तो दंगा कराना ही था। न वह करफ्यू लगाता है और न पुलिस आदि का ही समुचित प्रबन्ध करता है। वह जन–प्रतिनिधियों को जो व्यंग्यपूर्ण उत्तर देता है, उससे उसकी बुरी मनोवृत्ति प्रकट हो जाती है।

सरकार तो बदनाम है। मैं अंग्रेज अफसर हूँ । ब्रिटिश सरकार पर तो आपको विश्वास नहीं है, उसकी बात को तो आप कहाँ सुनेंगे। रिचर्ड ने व्यंग्य से कहा और पेन्सिल टकोरता रहा।

मगर ताकत तो ब्रिटिश सरकार के हाथ में है और आप ब्रिटिश सरकार के नुमाइन्दा हैं। शहर की रक्षा तो आप ही की जिम्मेदारी है।ष बख्शीजी बोले और बोलते हुए उनकी ठुड्डी काँप गयी और उत्तेजनावश चेहरा पीला पड़ गया। उपन्यासकार अन्त में निष्कर्ष निकालता है कि षफिसाद कराने वाला भी अंग्रेज, फिसाद रोकने वाला भी अंग्रेज, भूखों मारने वाला भी अंग्रेज, रोटी देने वाला भी अंग्रेज, घर से बेघर करने वाला भी अंग्रेज, घरों में बसाने वाला भी अंग्रेज।

तमस में ऐसी घटनाओं को स्थान दिया गया है, जो अंग्रेजों की इस कूटनीति को सामने लाती हैं। उन्होंने अपनी श्फूट डालो और राज्य करोश (क्पअपकम – तनसम)की योजना को इसी प्रकार कार्यान्वित किया। उन्होंने बड़ी चतुराई से धर्म के नाम पर विष–वमन कराकर हिन्दू–मुसलमानों में दंगे कराये। मुसलमानों को प्रोत्साहन देकर मुस्लिम लीग की स्थापना कराई, जिसके द्वारा कांग्रेस को हिन्दुओं की संस्था घोषित कराया गया और कांग्रेस में सम्मिलित मुसलमानों को हिन्दुओं का पालतू कुत्ता कहलवाया गया। अंग्रेजों को इस नीति का ही परिणाम था कि देश में भीषण साम्प्रदायिक दंगे हुए और देश का हिन्दुस्तान एवं पाकिस्तान के रूप में दो टुकड़े हो गये। रिचर्ड और उसकी पत्नी लीजा के निम्नलिखित कथोपकथन में उपर्युक्त सत्य स्पष्ट हो जाता है–तुम कोई भी बात मेरे साथ संजीदगी से नहीं करते। लीजा ने उलाहने के स्वर में कहा।

संजीदगी से बात करने की तुक ही क्या है? रिचर्ड ने खोये खोये मन से कहा।

सुनो लीजा, यहाँ पर षायद कोई गड़बड़ हो।

लीजा ने आँखें ऊपर उठाईं और रिचर्ड के चेहरे की ओर देखने लगी।

क्या गड़बड़ होगी? फिर जंग होगी।

होंगे। ष्नहीं, मगर हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच तनातनी बढ़ रही है। शायद फसादष होंगे।ये लोग आपस में क्यों लड़ेंगे?

लन्दन में तो तुम कहते थे कि ये लोग तुम्हारे खिलाफ लड़ रहे हैं।[8]

हमारे खिलाफ भी लड़ रहे हैं और आपस में भी लड़ रहे हैं।

कैसी बात कर रहे हो? क्या फिर मजाक करने लगे ?

धर्म के नाम पर आपस में लड़ते हैं। देश के नाम पर हमारे साथ लड़ते हैं।रिचर्ड ने मुस्कराकर कहां।

किसी में वास्तविकता समझने की क्षमता नहीं थी। कठपुतलियों की तरह सभी घूम रहे थे. भूख लगती तो उठकर इधर–उधर से कुछ खा लेते, याद आती तो रो देते और कान लगाये सुबह से शाम तक लोगों की बातें सुनते रहते।

दंगे के पश्चात् शहर में मुस्लिम बाहुल मुहल्लों से हिन्दू और हिन्दू–बाहुल मुहल्लों से मुसलमान अपनी जायदाद बेचकर भागने लगे।

शहर में फिसाद होने के बाद एक लहर–सी चल पड़ी थी। जिस इलाके में मुसलमानों की अधिकता थी. वहाँ से हिन्दू सिख निकलने लगे थे और जिन इलाकों में हिन्दू–सिखों की अधिकता थी. वहाँ से मुसलमान घर–बार बेचकर निकल जाना चाहते थे।

निष्कर्ष – उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि उपन्यासकार भीष्म साहनी को उपन्यास का उद्देश्य स्पष्ट करने में पूर्ण सफलता मिली है। अंग्रेजों की नीति के सम्बन्ध में बख्शीजी का यह कथन सर्वथा सत्य है–

फिसाद करवाने वाला भी अंग्रेज, फिसाद रोकने वाला भी अंग्रेज, भूखों मारने वाला भी अंग्रेज, रोटी देने वाला भी अंग्रेज, घर से बेघर करने वाला भी अंग्रेज, घरों में बसाने वाला भी अंग्रेज[9] पर जब से फिंसाद शुरू हुए थे बख्शीजी के दिमाग में धूल–सी उड़ने लगी थी, बस केवल इतना–भर ही बार–बार कहते रहे, श्अंग्रेज फिर बाजी ले गया।श श्अंग्रेज फिर बाजी ले गया। ष्पर शुरू से आखिर तक स्थिति उनके काबू में नहीं आयी।ष्अस्तु तमस की प्रयोजनीयता भारत पाकिस्तान के बीच हिंदू मुसलमानो के बीच सांप्रदायिक दंगे एवं फसाद करवाना और उनकी सुख शांति को छिन्न भिन्न कर अपनी रोटी सेंकना है।अपने उद्देश्य की पूर्ति में भीष्म साहनी को पूर्णतः सफलता मिली है और एतदर्थ वे थोक भाव से बधाई और धन्यवाद के पात्र हैं।

संदर्भ ग्रंथ–

1 तमस–भीष्म साहनी, राजकमल प्रकाशन नयी दिल्ली–1974

2 आज के अतीत–भीष्म साहनी, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली 2003

3 हिंदी उपन्यास –डा सुरेश सिन्हा, लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद, 1972

4 स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यास का शिल्प विधान–डा राधे श्याम कौशिक, मंगल प्रकाशन जयपुर, 1976

5 भीष्म साहनी और उनका उपन्यास तमस–डा गंगा सहाय प्रेमी, हरीश प्रकाशन मंदिर, आगरा–1990

नूतन कुमारी

शोध छात्रा

हिंदी विभाग

मुंगेर विश्वविद्यालय, मुंगेर

चलभाष–9006288678

41

Right To Religion Versus Sacred Sacrifice: A Constitutional Study of The Madhuri (Mahadevi) Elephant Case Of Kolhapur: Artificial Intelligence For Animal Welfare

Shradha Gangwar[a,1], Dr. Himadri S Dey[b,2], Dr. Urvashi Kumari[c,3], Dr.Alpana Jijja[d,4]

ABSTRACT

In India, the relationship between religious freedom and animal welfare poses a complex constitutional question. Animals can serve a religious function as objects of devotion, as a part in religious rituals or as parts of long-standing institutional traditions. However, the protection of religious customs should be seen in the light of the moral duty of human beings to living creatures and the legal obligations arising from animal protection laws. A significant context for studying this relation is provided by the controversy surrounding Madhuri (also known as Mahadevi), an elephant of a Jain Math at Nandani in Kolhapur, Maharashtra. The row started when the elephant's physical condition, the confinement and the living environment had raised concerns and led to administrative directions for her transfer to a specialized elephant-care facility in Gujarat. The Jain Math opposed the transfer on the ground of religious tradition and Article 25 of the Constitution of India, amongst other grounds. The Bombay High Court in Mumbai on 16 July, 2025 upheld the transfer and said the elephant's welfare and quality of life did not justify her continued use for religious activities.

This paper critically analyzes the constitutional scope of religious freedom, the limits of religious practices under Article 25, the statutory regime concerning captive elephants and the relevance of animal welfare jurisprudence. It argues that the critical question is not whether the religious traditions should be protected under the constitution, but whether the maintenance of those traditions can justify causing unnecessary suffering to a live animal. It also detaches the idea of sacred sacrifice from the specifics of Madhuri's case, which were about captivity and religious use and not a regular ritual of sacrifice. The paper concludes that a framework where religious practices are respected without making animal welfare secondary to custom is sustained by constitutional secularism, compassion and the rule of law. Madhuri returns back to Kolhapur in Sep 2026, and the subsequent issues were, highlighting the need for evidence-based oversight, which enforced welfare requirements and continuing institutional responsibilities, the connection between religious freedom and animal care in a nation like India is a sensitive constitutional topic. Animals can serve a religious function as objects of devotion, as participants in religious rituals or as parts of long-standing institutional traditions. However, the preservation of religious customs should be seen in the light of the moral duty of human beings to living creatures and the legal obligations arising from animal protection laws. A significant context for studying this relation is provided by the controversy surrounding Madhuri (also known as Mahadevi), an elephant of a Jain Math at Nandani in Kolhapur, Maharashtra. The row started when the elephant's physical condition, the confinement and the living environment had raised concerns and led to administrative directions for her transfer to a specialized elephant-care facility in Gujarat. The Jain Math opposed the transfer on the ground of religious tradition and Article 25 of the Constitution of India, amongst other grounds. The Bombay High Court in Mumbai on 16 July, 2025 upheld the transfer and said the elephant's welfare and quality of life did not justify her continued use for religious activities.

Keywords

Article 25, freedom of religion, animal welfare, the Madhuri elephant, Mahadevi, sacred sacrifice, Jain religious traditions, the Wildlife (Protection) Act of 1972, the Prevention of Cruelty to Animals Act of 1960, and constitutional morality are some of the things that come to mind.

1. Introduction

India is a country where religion, culture, tradition and community identity where are all connected together. Religious practices are not only private expressions of belief; they can also shape festivals, processions, ceremonies, institutional customs and collective social life. The Indian Constitution acknowledges this diversity by safeguarding the freedom of conscience and the right to profess, practice and propagate religion. But the constitutional guarantee of religion does not imply that every activity described as religious is ipso facto beyond the law. One of the difficult questions in the religion-law relationship is whether a religious animal custom should continue if there is credible evidence that the animal's physical or psychological welfare is being compromised. This question especially becomes relevant if an animal is considered sacred, is associated with a religious institution, or is part of a long-standing tradition.

This tension is illustrated in the controversy surrounding the popular Madhuri, or Mahadevi. The elephant had been attached to a Jain Math at Nandani in

Kolhapur for several decades. She belonged to the religious and institutional traditions of the Math. However, there were issues about her health, confinement, living conditions and use in ceremonial events. These concerns led to proceedings before a High-Powered Committee and thereafter before the Bombay High Court.

The Court really had to balance these competing claims: The Math's claims of religious tradition and statutory sanction for certain religious uses of elephants, and the evidence regarding Madhuri's welfare. The Bombay High Court, in its judgment on July 16, 2025, affirmed the direction to transfer her to the Radhe Krishna Temple Elephant Welfare Trust (RKTEWT) at Jamnagar in Gujarat. The Court clearly stated that the survival of the elephant and the quality of its life must take precedence over human use of the elephant for religious rites.

What is important about the controversy is that it brings the discussion out of the abstract and into the domain of religion and animal rights. It calls for a constitutional interrogation of the relationship between individual and institutional religious freedom, public regulation, animal protection and the responsibility of courts to protect vulnerable living beings.

The phrase "sacred sacrifice" in the title of this paper is used in a broader analytical sense, to denote the tension that may arise when the claims of religious tradition are weighed against the welfare or interests of an animal. Madhuri's case, however, was not a case of a conventional ritual involving killing an animal as sacrifice. It was on the keeping and use of a live elephant for the purposes of religion. It is important to maintain this distinction for a proper legal analysis.

2.Background of Madhuri Elephant Case

2.1 Historical and religious background

Madhuri (also called Mahadevi) was associated with the Jain Math at Nandani in Kolhapur, Maharashtra, from around 1992 onward. The Math stated that the keeping of the elephant was connected to its religious traditions and institutional activities. The elephant was not simply a matter of ordinary ownership because of its location but had a recognized religious and cultural value to the institution and its devotees.

It was, then, more than a fight over where a captive animal should be housed. Madhuri was continuity with a long tradition for the Math and some of the local community. Mashuri's presence was associated with the religious programs and character of the institution.

But the mere presence of a religious or cultural association does not answer, the question of how an animal must be housed, treated or used. An animal may be symbolically important to a community, but it also has physical needs that cannot be satisfied by symbolic respect alone.

2.2 Worries about the elephant's welfare

The matter was brought to the notice of the legal authorities after People for the Ethical Treatment of Animals (PETA) India raised question about Madhuri's physical health and well-being. The inspection reports and veterinary material considered in the proceedings related to problems concerning her feet, toenails, confinement, shelter and opportunities for movement and social interaction.

The evidence before the authorities also gave cause for concern about the conditions of her detention and the suitability of the prevailing arrangements for her long-term welfare. The Math denied parts of the allegations and said it had taken care of the elephant. It also contested the administrative decisions to transfer her. The Court will distinguish between the parties' competing submissions and the findings it has accepted. The Court need not have concluded that the Math had intentionally meant to harm Madhuri to rule that the existing arrangements were deficient. The legal question was whether the evidence supported transferring her to a facility thought to be better for her long term needs.

2.3 The High Powered Committee Proceedings

The High-Powered Committee noted the concerns raised about Madhuri and ordered her transfer to the Radhe Krishna Temple Elephant Welfare Trust in Jamnagar. The Math challenged the administrative decision and submitted that its religious traditions, ownership related claims and statutory permissions hadn't been properly taken into consideration.

The dispute raised issues of substantive animal welfare as well as procedural fairness. The Math challenged the decisions of the committee, including the orders of 27 December 2024, and 3 June 2025. The hearings involved inspection reports, medical evidence, the proposed receiving facility and arguments over religious freedom.

The committee, on further consideration of the representations of Math, reaffirmed its direction for transfer.

2.4 The Bombay High Court's decision

On 16 July 2025, High Court dismissed all the challenges to the Math and upheld the transfers of Madhuri to the specialized elephant-care facility in Gujarat. The Court took into account the relevant reports and competing submissions on religious tradition and animal welfare.

The Court observed that the evidence didn't warrant keeping Madhuri under the present conditions on the ground that her presence was connected with religious activities alone. It emphasized her survival, welfare and quality of life and invoked the doctrine of parens patriae under which courts may act to protect persons or interests needing special protection.

This reasoning of the Court is important because it recognized that a religious institution's sincere attachment to an animal does not negate the obligation to ensure that the animal is provided with proper care.

The Math then challenged the judgment in the Supreme Court, but its challenge was dismissed in July 2025, leading to the transfer.

2.5 More developments in the year 2026

But Madhuri's move was not the end of the controversy. On 9 September 2026, the High-Powered Committee considered the proposed arrangements at the Math's facility in Kolhapur and approved her return there. She returned to Nandani in 2026 September. The return was conditional on terms designed to ensure her welfare including restrictions on her use in processions and other events, continuing care requirements and ongoing medical supervision. PETA's follow-up application to the Supreme Court in October 2026, seeking her repatriation to the Gujarat facility or relocation elsewhere, was dismissed.

For these later developments it is important to understand well the case. While the Bombay High Court's 2025 judgment remains relevant for its constitutional reasoning, Madhuri's subsequent return shows that the practical question of where she should live depends on the current evidence, the adequacy of the proposed facility and compliance with applicable welfare conditions. The controversy thereby reveals the collision between religious freedom and animal welfare, and stresses the need for continued monitoring and responsible decision making.

3. Research Problem, Questions and Objectives

3.1 The research problem

The central research problem is the extent to which religious freedom can protect a practice involving a captive animal when credible evidence raises concerns about animal welfare. The problem is more complex when the practice is presented as an established religious tradition and where the animal has gained cultural or devotional significance for a community.

The Madhuri controversy raised the question whether the constitutional protection of religion ought to be read as protection of the practice itself subject to applicable law, or as a broader entitlement to carry on a tradition regardless of its implications for a living animal.

4. Questions for research

In this paper, we address the following questions:

- What is the extent of right to freedom of religion under Article 25 of the Constitution of India?
- If welfare is accepted as an issue, can the use of animals in ritual or holding them captive be justified by tradition?
- How do the Wildlife (Protection) Act, 1972, the Prevention of Cruelty to Animals Act, 1960 and judicial pronouncements affect the balance between religious freedom and animal welfare?
- What does the Madhuri judgment mean for constitutional morality, judicial review and protection of vulnerable living beings?
- How should law mediate between religious sentiment, scientific evidence, cultural continuity and enforceable welfare safeguards?

5. Objectives

The objectives are: to analyse Article 25 and its constitutional limits; to examine the facts and judicial reasoning in the Madhuri case; to evaluate the statutory and judicial framework for animal protection; to distinguish between symbolic respect for animals and their actual welfare; and to propose a principled approach to disputes involving religious practices and animal use

6. Research methodology

This paper is a legal research methodology with doctrinal and analytical approach. It explores constitutional provision, relevant legislation, judicial decision and publicly reported developments in the Madhuri controversy.

The main legal instruments are Article 25 and 48 of the Indian Constitution, the Wildlife (Protection) Act, 1972, the Prevention of Cruelty to Animals Act, 1960 and the relevant decisions of the Apex Court and the High Courts. Secondary sources include legal analysis and

news coverage of the case and its aftermath.

The study adopts a qualitative approach to the interpretation of legal principles and the evaluation of their application to the conflicting claims of religious freedom and animal welfare. Nor does it attempt to lay out the theological requirements of each religious tradition or to answer scientific questions other than veterinary evidence. It examines the legal significance of the evidence and the principles which should guide courts and authorities in making such decisions.

The analysis is confined to Indian constitutional and statutory law, with Madhuri's case being the primary case study. It also recognizes that, law which applies and the factual circumstances of care of an animal must be assessed separately in each dispute.

7. Constitutional Framework: Freedom of religion in Article 25

7.1 Application of Art.25

The Constitution guaranties to all persons by virtue of Article 25(1) freedom of conscience and the right to freely profess, practise and propagate religion. The article secures religious belief and its manifestation subject to public order, morals, health and the other provisions of Part III of the Constitution.

At the heart of India's constitutional commitment to religious tolerance lies the clause. It protects the individual's religious conscience from arbitrary state interference and prevents the imposition of unreasonable limitations on protected religious practices.

But Article 25 is not an absolute right. Its wording openly recognizes constitutional and public concerns that may warrant limits. The legal context of religious freedom therefore also protects health, public order, equality and other constitutional principles.

The difference between belief and conduct is particularly crucial. It is one thing to sincerely believe that an animal is sacred and quite another to argue that the animal must be kept in a particular setting or utilized in a particular rite. The former is a question of religious conscience; the later is a question of action subject to legal control.

7.2 Article 25 and the idea of the necessary religious practices

Indian courts have evolved the essential religious practices theory to decide whether the challenged practice is constitutionally protected. The notion involves a judicial examination of the practice and the religion involved. It has developed through constitutional jurisprudence and has been the topic of academic debate.

In Commissioner, Hindu Religious Endowments, Madras v. Sri Lakshmindra Thirtha Swamiar of Shirur Mutt (1954), the Supreme Court acknowledged the constitutional importance of religious rituals but distinguished religious matters from secular practices relating to religious organizations.

The case is important because it indicates the presence of a religious institution does not render all activities associated with it solely religious. Constitutional regulation may be made on secular parts of administration.

In Madhuri's instance, this distinction involves looking at the precise claim being made. The Math explained that maintaining the elephant was vital to its religious ritual. But the legal question didn't end with finding the elephant had religious significance. The law in question concerned the appropriateness of the animal's shelter, medical care, movement and overall living conditions.

Even where a practice has true religious importance, the precise manner of its performance may be restricted where there is a sufficient legal basis. The necessary religious activities theory would not automatically exempt religious entities from animal welfare laws.

7.3 Limitations on Freedom of Religion in the Constitution

Article 25 is subject to public order, morals, health and other provisions of Part III. This framework is reflective of the constitutional position that religion has to co-exist with the rights and interests of others, and with the lawful responsibilities of the State.

Article 25 does not refer to animal welfare as a separate limitation. It would therefore be wrong to say that any animal welfare concern automatically trumps religious freedom only by virtue of being labelled as a constitutional constraint. The examination must consider the relevant legislation, the nature of the activity, proof of harm and the constitutional norms recognized by the courts.

Where legislation controls the keeping, transport or use of animals, the fact that an action is religious in character does not, in itself, exempt it from the regulation. What matters crucially is whether the behaviour in question is permissible under the applicable legal regime

and whether the authority's response is lawful, proportionate and evidence-based.

In Madhuri's case the disagreement was evaluated by the High Court within the current statutory scheme and the facts as to her condition. In the end, it found that the religious interest asserted did not justify the continuation of arrangements that had been found inadequate for her welfare.

7.4 Article 25 and institutional rights of religion

Religious institutions may have legitimate interests in preserving their traditions, administering their business and pursuing religious activities. Institutional claims are, however, not the same as an unrestricted right to use property or living animals in whatever manner the institution may determine.

The status of an animal under wildlife regulations isn't same as conventional private property. Just because you have the legal right to retain an animal does not automatically give you an unqualified right to use it for any activity or to ignore regulatory constraints.

The religious and institutional interests of the Math had therefore to be weighed against the limits that applied and the welfare evidence. Article 25 alone could not have answered the question whether Madhuri's living conditions were appropriate.

8. Ethics of Animal Use, Religious Tradition and Sacredness

8.1 Meaning of sacred sacrifice

Sacred sacrifice may refer to the giving up of an animal, the ritual offering of an animal, or more generally the putting of an animal's interests below a religious goal. No legal identity is to be attributed to these situations.

The ritual killing of an animal poses questions about slaughter, public order, cruelty, religious freedom and particular statutory prohibitions. The use of a living elephant in a religious procession or institution raises other questions about captivity, transport, physical burdens, training, confinement and long-term care.

Madhuri's case falls in the second category. This is not to be forwarded as a judicial decision which directly outlaws animal sacrifice. What does it have to ask about the bigger question? The legality of conduct affecting an animal can't depend on its religious significance alone.

This is a distinction important for good legal scholarship. A research paper can compare the various forms of religious use of animals, but it must identify the factual and statutory differences, rather than it treats all such practices as interchangeable.

8.2 Sacredness and Welfare

The concept of sacredness can promote respect, protection and compassionate care. But the fact that an animal is symbolically or devotionally important doesn't necessarily mean that its practical needs are being met.

An elephant may be revered by devotees and yet need adequate space, appropriate nutrition, veterinary care, physical exercise and social interaction. The conditions are not supplied by ceremonial decoration and public worship.

The key ethical question is, “Is the animal treated as a living being with its own needs or as a tool of human religious expression?”

This distinction doesn't mean rejecting religious devotion. Rather it implies an understanding of religious obligation that is consonant with humane treatment. A community can maintain its symbolic relationship with an animal without requiring the animal to be housed under conditions that are inappropriate or to participate in physically draining ceremonial functions.

8.3 Tradition and its modern limits

Tradition has a lot of social value. It holds collective memory, preserves cultural continuity, and gives communities a sense of belonging. Legal institutions shouldn't lightly cast aside traditions merely because they are old or unfamiliar.

But the fact that a custom is old doesn't by itself make it lawful. Nor does the fact that a practice has gone on for decades mean that it satisfies modern statutory obligations.

The law often differentiates between the historical existence of a practice and its allowable practice. If the legal requirements are met, a long-standing custom can be protected, but it is still subordinate to valid legislation and constitutional limitations.

In Madhuri's case, the duration of the elephant's association with the Math was relevant to the understanding of the institution's attachment to her. There was no conclusive evidence that the existing arrangements were suitable for her health and welfare.

8.4 Compassion as a common ethical principle

Compassion is a core value in many religious and philosophical traditions. Different traditions understand the relationship between human and animal differently, but concern for living being can provide common ground between religious communities and animal welfare advocates.

Thus, the dispute should not be reduced to a simple opposition of religion and compassion. A more useful question is how to conduct religious practice consistently with humane treatment and lawful standards.

A constitutional approach should protect religious freedom, but it should also require credible evidence, proper veterinary care and enforceable safeguards wherever animals are kept or used.

9. Statutory Framework for Protection of Animals in India

9.1 Prevention of Cruelty to Animals Act, 1960

The Prevention of Cruelty to Animals Act, 1960, provides a legal framework to avoid unnecessary pain or suffering to animals. Section 3 places a duty on persons having charge of animals to take reasonable steps to ensure their welfare and to prevent the infliction of unnecessary pain or suffering.

Section 11 sets out a variety of types of conduct which may amount to cruelty, subject to the statutory language and relevant qualifications. The Act founded, the principle that animals cannot be treated however they are simply as they are under human control.

For captive elephants the Act is relevant in terms of their confinement, handling, physical treatment and care. Whether a particular act constitutes a statutory violation depends on the facts and the applicable provisions.

The Act applies on the face of it and not merely on the basis of the religious or non-religious identity of the person responsible for an animal. This is why it is relevant in disputes concerning religious institutions.

A practice, which results in unnecessary suffering, cannot be justified by the fact that it's a religious tradition. Similarly, a court decision should identify the applicable law and facts, rather than assuming that any use of animals is illegal per se.

9.2 Wildlife (Protection) Act, 1972

The Wildlife (Protection) Act, 1972, provides a distinct scheme for the protection, possession and transfer of specified animals. Under this framework elephants are subject to important legal controls.

The Math relied on the proviso to Section 43(2) which permits certain use of captive elephants for religious or other specified purposes, subject to the relevant statutory requirements. This argument raised a real question about the relationship between authorized use and the power of the authorities to require transfer for welfare reasons.

But permission for a particular purpose must be read in relation to the statute as a whole." It does not automatically override other legal requirements concerning custody, transport, welfare or compliance with regulations.

9.3 It is necessary then to distinguish three questions:

Whether the possession or custody of the elephant is legally acknowledged.

Whether the proposed use or transfer meets the statutory criteria applicable.

Whether the animal's living conditions and care meet minimum standards of applicable law.

Affirming the first question doesn't necessarily determine the others. In particular, legal recognition of custody does not confer an unlimited right to keep an elephant under conditions considered unsuitable by the competent authorities.

The Madhuri case shows why wildlife laws need to be interpreted in the light of duties to animal welfare, and not just as a clash between ownership and religious freedom.

9.4 The function of veterinary evidence and inspection reports

Disputes over animal welfare often raise scientific and factual issues that cannot be solved merely by religious or legal argument. Veterinary assessments, physical examinations, inspection reports and observations of the animal's behavior may be critical to determine whether existing arrangements are adequate.

In Madhuri's case, the High-Powered Committee considered the material of inspection and veterinary evidence regarding her condition and the adequacy of the facilities available for her care. The Bombay High Court examined the committee's assessment and found sufficient reasons to maintain the transfer.

This method demonstrates the importance of evidence-based decision making. We should not take at face value the promises of a religious institution or the accusations of an animal welfare organization. Authorities should look at the evidence available, give a fair opportunity to respond and explain how the arrangement selected best protects the interests of the animal.

The same thing applies to later decisions about rehabilitation. If a proposed facility has been substantially improved, the improvements need to be independently evaluated and documented. In contrast, a statement that an

animal is back in a familiar environment should not substitute for an evaluation of its actual health, mobility, social needs and long-term care.

10. Judicial Precedents and the Evolution of Animal Welfare Jurisprudence

10.1 Animal Welfare Board of India v. A. Nagaraja (2014)

In Animal Welfare Board of India v. A. Nagaraja, (2014) 7 SCC 547, the Supreme Court considered the issue of animal welfare in relation to the traditional bull-taming activities. The Court considered the Prevention of Cruelty to Animals Act and emphasized the need to protect animals from undue pain and suffering.

It's crucial because it rejects the premise that cultural popularity or traditional character alone determines the legitimacy of an activity involving animals. The statutory objective of prohibiting cruelty must be given real meaning.

The judgment also accounted the Five Freedoms for animal welfare: freedom from hunger and thirst; freedom from discomfort; freedom from pain, injury and sickness; freedom to express normal behaviour; and freedom from fear and anguish.

These concepts give a valuable analytical framework within which to think about captive elephants. You can't judge an animal's welfare only by looking at you feeding it and providing shelter. The examination should also consider the movement, behaviour, health, psychological condition and the possibility to live in conditions adequate for the species.

The principles do not override the law text, but they help to clarify why animal welfare is more than the absence of wilful bodily injury.

10.2 State of Gujarat v. Mirzapur Moti Kureshi Kassab Jamat (2005) 2

"The Supreme Court in State of Gujarat v. Mirzapur Moti Kureshi Kassab Jamat, (2005) 8 SCC 534", dealt with restrictions on slaughter of cattle and constitutional questions arising out of protection of animals and agricultural interests.

The case illustrates that constitutional challenges involving animals and religious or customary practices require an analysis of the particular legal provision, the constitutional rights invoked, and the public interests protected by the State.

But it is not to be understood as establishing that any animal welfare policy automatically overrides Article 25. Instead as it highlights the need for a judicial determination of the opposing interests and the constitutionality of the restriction in question.

Similarly, in the Madhuri dispute, the relevant inquiry was fact-specific: whether the transfer was justified under the applicable legislation and the information surrounding the elephant's wellbeing.

10.3 Legal and cultural practice of Jallikattu

The litigation over traditional bull-taming ceremonies, including the Supreme Court's ruling in Animal Welfare Board of India v. Union of India, 2023 INSC 548, reflects the ongoing discussion about cultural traditions, legislative choices and animal welfare.

The litigation raised problems as to changes in statutes and legal control of customary events. It shows that the constitutional and statutory position may rely on the particular legal system being considered.

The Madhuri case is different in that it dealt with the prolonged custody and religious usage of a specific captive elephant and a direction for her rehabilitation. But in each case a similar challenge arises: how can the law protect cultural continuity while guaranteeing that animals are not exposed to legally unacceptable suffering?

The solution cannot be the blanket statement that tradition always wins out or that tradition is always useless. Its needs an evaluation of the law controlling it, the facts and the reasonableness of the measure taken.

10.4 Doctrine of Parens Patriae

Parens patriae is the idea that the State or courts have a protective role where there are appropriate situations where vulnerable interests need protection. Bombay High Court in Madhuri ruling has relied on this notion to explain its responsibilities for the elephant.

The Court's reasoning acknowledged that an animal cannot itself participate in judicial procedures, give evidence or demand better conditions. Its welfare must consequently be represented by legal procedure and competent institutions.

But the invocation of parens patriae should not be read as an open-ended judicial license to nullify statutes or to supplant all administrative choices with judicial preferences. Its application must be based on the law, on the facts and on the nature of the protective obligation in question.

In this instance, the concept supported the Court's determination that the welfare of the elephant was entitled to independent consideration and could not be

ignored just because the issue arose in a religious institution.

10.5 Humane governance and constitutional morality

Constitutional morality mandates that public institutions should behave in accordance with constitutional principles, and not enable the automatic determination of legal results by social pressure or inherited practice.

The idea, in controversies about animal welfare, promotes an approach that respects religious difference but requires conformity with relevant legislation and evidence-based standards of care.

"Constitutional morality does not permit courts to treat religious beliefs with contempt. Rather, it asks courts to draw the line between protected belief and conduct that may be governed by law. It also mandates that government do not meddle arbitrarily and that they offer fair procedures when regulatory action is challenged by religious entities.

The Madhuri verdict is notable, since it examined the religious grounds of the institution, without giving them overriding weight over the evidence of welfare acknowledged by the Court.

11.Critical Analysis: Religious Freedom vs. Animal Welfare

11.1 The clearest reason for religious liberty

The Math's argument needs serious consideration. Religious institutions have a right to practice their traditions within the law and the removal of an animal that has been part of a community for decades can cause real emotional and cultural harm.

For the faithful, Madhuri was not necessarily about entertainment or convenience. It was tied to religious identity, to communal memory, and to the endurance of long-standing institutional norms.

A constitutional democracy should not dismiss religious practices as of little consequence simply because they appear odd to outsiders. "Decisions about such customs should be based on evidence and law, not just public opinion.

The Math also advanced statutory arguments on permissible religious use of captive elephants. Such arguments deserved careful study, not a simple dismissal. But respect for religious freedom does not, of itself, ensure the adequacy of the particular arrangements for Madhuri's care. The requirement for proper living conditions for the elephant was a different matter from the Math's relationship to the elephant. In assessing the legal challenge both have to be taken into account.

11.2 The strongest case for animal welfare

The welfare argument starts with the premise that animals are sentient beings, who can feel pain, discomfort, anxiety and misery. Their interests are not simply the inclinations of the people who own or employ them.

Elephants have complex physical, behavioural and social requirements. They also require a proper flooring, feed, opportunity to socialize, exercise, veterinary care, and appropriate room. These demands may be jeopardized by prolonged isolation or improper working environment.

The papers evaluated by the authorities in Madhuri's case revealed worries about her feet, health, confinement and living conditions. The Court considered that the proposed specialty institution was appropriate for her rehabilitation and that her welfare required transfer. This was not only founded on the premise that animals are morally important. It came after looking at evidence and statutory framework. This is significant because a defensible welfare judgment must explain why the current arrangements are inadequate and why the proposed change is appropriate.

11.3 Is animal suffering justified by religious freedom?

The question cannot be solved by presuming that every religious usage of an animal must cause suffering. And not all traditional practices are humane just because they are religious.

The legally important question is whether the particular practice, as done, complies with the applicable law and whether credible evidence shows that the welfare of the animal is damaged.

In such cases where a practice can be continued without breaching regulatory restrictions or causing banned pain, religious freedom may favor continuation. The claim of religious significance cannot, by itself, render lawful activity that the law forbids simply because that practice is conditioned on a course of treatment or action that the law does not allow.

This distinction safeguards religious freedom but does not constitute an absolute exemption to animal protection laws.

The High Court held that under the facts revealed in the case, Madhuri's welfare and quality of life was paramount and her use for religious rites was secondary. The ruling should be read in that factual and legal context,

and not as a pronouncement that religious acts involving animals are illegal as a matter of law.

11.4 Is transfer a limitation on religion or a welfare measure?

The Math could argue that moving Madhuri broke its capacity to maintain a long-standing religious tradition. Thus, relocation changed the practical expression of institutional religious identity.

But it is necessary to evaluate carefully the legal implications of the transfer. A command to move an animal for welfare reasons does not always outlaw a religion, or impede worship or forbid a society from retaining its traditions by other permissible means.

The measure was intended for the custody and care of one elephant in particular. The justification was based on the condition of the animal and the adequacy of the facilities.

A proportionate approach would assess if less restrictive options could sufficiently safeguard the animal. Improvements to the current facility could be relevant if they fulfill the required standards. If they can't, relocation to an appropriate rehabilitation institution may be justified.

The approach recognizes the value of religious freedom and the need for meaningful animal protection.

11.5 Animals as property

Regulatory considerations may require legal acknowledgment of custody or ownership, but this is not to be confused with absolute power over an animal.

Animals are not the same as regular inanimate property. The limitations to what responsible custody demands are set by their health, behaviour and physical needs. The legal system thus integrates laws on ownership and transfer with duties of care and prevention of cruelty.

Madhuri's situation underlines the limitations of an ownership-centric approach. Even if a religious institution has a recognized connection with an elephant, the issue of adequate care remains of independent importance.

The correct legal approach must be to consider the protection of the welfare of the animal in fact, not just the formal custody documents or historical link.

11.6 The Peril of Oversimplification

It is easy to frame the debate as one between animal rights campaigners and religious people. The description is not enough.

First, the Math's religious claim and the welfare concerns were not, necessarily mutually exclusive in principle terms. We may appreciate the sacred value of an animal and still require that animals be adequately housed. Secondly, public opinion alone could not address the problem. It was about inspection reports, veterinarian evidence, statutory provisions and judicial review.

Third, judgments about animal welfare must be open to review. A facility that is described as specialized should nevertheless be reviewed against real standards, treatment and the ability to address the demands of the individual animal.

Finally, that later decision to allow Madhuri to return to Kolhapur suggests that estimates of welfare are not fixed. The institution seeking custody is not the only factor in deciding the suitable location of an animal. Current evidence and enforced protections should also be considered.

The most defensible approach is, then, neither to defer absolutely to tradition nor automatically to reject religious rituals. It's a structured legal examination that safeguards religious freedom and treats animal welfare as a substantive duty.

11.7 Madhuri's Homecoming to Kolhapur: Implications for Law?

The debate becomes further complicated by the return of Madhuri in September 2026. Later the High-Powered Committee permitted her return to the Math's facility after evaluating the arrangements offered by the Math's facility. It also had constraints attached to it under welfare provisions, such as limits on her usage in processions and demands for her care and medical supervision. Later, the Supreme Court dismissed the plea filed by PETA to shift her back to the Gujarat facility or any other centre.

This development is not meant to be read as automatically overruling the judgment of the High Court of Bombay in 2025. The previous ruling considered the evidences and circumstances before it of that time. The later decision covered a proposal and the appraisal of the arrangements made after Madhuri had moved.

The difference between the two decisions matters. Courts and administrative bodies may reach different findings if the material facts change, provided that the judgment is taken in accordance with the applicable legislative framework and is supported by adequate evidence.

The return also suggests a possible shortcoming of welfare-based regulation: a transfer does not assure long-term well-being. Effective protection requires

continued monitoring, appropriate veterinarian treatment, appropriate shelter, adequate movement and attention to the animal's behavioural and social needs.

So we need to put significant and enforceable conditions on the Math. If Madhuri is not to be used in processions, that restriction must to be followed. If regular medical examinations are required, records should be kept and evaluated by authorized authority. The arrangements should be measured against proper veterinary and behavioural standards if socialization and movement are needed for her wellness.

This case therefore illustrates a broader principle: the law's purpose is not simply to determine which institution should own an animal, but to ensure that the animal's welfare is secured in practice.

This concept also restricts the reach of the religious freedom argument. Even if a religious organization are permitted to keep an animal under specific restrictions, it doesn't automatically gain an authority to utilize the animal in any ritual arbitrarily. The legality of custody and the legality of use of the animal are separate issues.

What happened next further highlights the need for public authorities to present transparent justifications for choices harming confined wildlife. Independent assessment, clear compliance requirements and regular reporting might help to mitigate the possibility that wellbeing becomes secondary to institutional or political pressure.

12. Recommendations and Next Steps

12.1 Adopt a welfare-first assessment based on evidence

Law enforcement should assess an animal's physical and mental state before determining, whether the animal can legally remain where it is. The assessment must consider, veterinary evidence, shelter, nourishment, exercise, social interaction and the animal's long term requirements.

The religious importance should be recognized as part of the factual background, but should not take precedence over the welfare evaluation.

12.2 Make procedures fair and transparent

Faith-based organizations should be given a fair opportunity to react to charges and provide information about their arrangements for the care they offer. At the same time authorities must be able to respond quickly where evidence shows serious risks to an animal. Documented inspections, clear decision making and reasoned orders help preserve both procedural fairness and animal welfare.

12.3 Differentiate authorization to possess from permission to use

The regulatory authorities should distinguish clearly between legal custody of an animal and permission to use it in processions, public ceremonies or other activities. Any planned usage should be in accordance with the appropriate legislation requirements and welfare conditions.

This is especially so when the religious identity of the organization is tied with a particular animal.

12.4 Strengthen ongoing monitoring

Where an animal is kept in captivity because of a welfare disagreement, regular veterinary assessments and independent inspections should take place. Monitoring should ascertain if there is improvement in the animal's condition, if treatment is being administered and if the living environment fits the necessary requirements.

A transfer is not a complete answer if the receiving facility cannot provide appropriate long-term care. Likewise, a return to a prior institution should depend on the demonstration of the soundness of the amended arrangements.

12.5 Promote legal alternatives to harmful practices

Where a religious ritual can be performed without placing undue constraints on an animal, institutions should be encouraged to choose such alternatives. They may be symbolic representations, ceremonial objects that are not animals, or other acts that meet the religious aims of the society.

Such choices cannot be forced on the parties without consideration of the constitutional and legislative problems involved. They want to show that cultural continuity and animal care don't necessarily have to be at odds.

12.6 Increase awareness of animal welfare duties

Educate religious institutions, local authorities, animal handlers and members of the public on the legal requirements surrounding captive elephants and other animals. Awareness programs can highlight that legitimate ownership carries duties and proper care is a continuous responsibility.

Education is especially helpful when community members really believe that an animal's religious status is adequate proof that it is well.

12.7 Set down specific requirements for captive

elephants

The authorities should ensure that the care of captive elephants complies with proper veterinary and behavioural standards. These criteria should cover space, exercise, diet, foot care, social engagement, constraint, transport and access to professional treatment. Clear rules eliminate confusion and promote consistent decision-making, whether in religious or non-religious contexts.

12.8 Protect religious freedom without blanket exemptions

Legislation and administrative decisions should acknowledge the constitutional significance of religious practices, but also clarify that religious institutions remain subject to appropriate animal welfare rules.

Any restriction must be based on an objective ground, justified by facts and commensurate to the legitimate aim pursued. It safeguards religious freedom against arbitrary interference, but also protects against the use of religion as a blanket exemption from legal responsibilities, recommendations and the Way Forward, adopt welfare-first assessment based on evidence

The authorities must assess the physical and psychological status of the animal before it may lawfully continue in its present surroundings. The assessment must take into account, veterinary evidence, shelter, nourishment, exercise, social interaction and the animal's long term requirements.

The religious importance should be recognized as a part of the factual background, but shouldn't take precedence over the welfare evaluation.

12.9 Set down specific requirements for captive elephants

The authorities should ensure that the care of captive elephants complies with proper veterinary and behavioural standards. These criteria should cover space, exercise, diet, foot care, social engagement, constraint, transport and access to professional treatment.

Clear rules eliminate confusion and promote consistent decision-making, whether in religious or non-religious contexts.

13. How can technology or artificial intelligence connected to Madhuri case

13.1 Artificial intelligence for animal welfare

AI-based systems can be use in a really effective way by analysing the movement, walking patterns, physical condition and behavioural changes of an elephant. Such systems could help to identify early signs of injury, distress or poor care or health condition.

13.2 GPS and Digital monitoring

With GPS tracking and digital records, people could keep an eye on how an elephant moves, is transported, works out, and is used in religious processions. This could help the government make sure that people are following the rules about welfare.

13.3 Digital surveillance and its responsibility

CCTV, digital inspection reports and veterinary records could be proof of the treatment of animals and where they live. That could make regulators' choices easier to trace.

13.4 AI and decisions on constitutional issues

Technology could help police and courts to see evidence of animal welfare when religious freedom is used as an excuse. But AI shouldn't be able to decide whether a religious practice is necessary or constitutionally protected. That is up to the law and the courts to decide.

14. Conclusion

The Madhuri elephant debate presents a basic question: What is the relationship between freedom of religion, continuity of culture and the wellbeing of living beings? It indicates that a practice may be of genuine religious significance, but may still be subject to scrutiny by the courts in relation to its implementation.

The Constitution under Article 25 guaranties the right to freedom of conscience and right to freely practice religion, but it does not confer an absolute right to perform all activities connected with a religious organization. Religious practices are nevertheless subject to constitutional restrictions and the law in force. Permitted custody or license for particular religious uses of captive elephants is not conclusive proof that every kind of confinement or ceremonial use is permitted.

The Bombay High Court's verdict of 16 July 2025 was significant as it gave precedence to Madhuri's survival and quality of life above her ongoing use in religious rites in the circumstances placed before the Court. The reasoning was that veterinarian testimony was important, that the courts had a duty to protect vulnerable living creatures and had obligations to animal welfare.

In contrast, the following decision to allow Madhuri to return to Kolhapur in September 2026 demonstrates that animal welfare is not a one-time and final judgment of institutional custody but one that must be continually assessed. Adequacy of surroundings, availability of specialized care and compliance with enforceable conditions is important.

The controversy is not to be misunderstood as a direct legal ban on sacred animal sacrifice. It was about the capture, maintenance and usage of a living elephant in religious ceremonies. More generally the import of this is in the idea that sanctity alone cannot constitute evidence of humanitarian treatment or exempt an action from the operation of the law.

In the end, a constitutional democracy must recognize religious variety and guaranty that religious freedom is practiced in accordance with legal obligations to animals. Traditions should not be discarded just because they involve animals; they should be reviewed and, if necessary, altered to meet the relevant welfare requirements.

The Madhuri case teaches a lasting lesson that respect for faith and protection of animals should not be seen as intrinsically conflicting. The approach is legally sound and ethically justified, respecting the cultural importance of religious traditions but demanding that animals are properly taken care and not put to any unlawful suffering. The essential measure of a tradition is not just its historical continuity, but whether it can be implemented consistently with compassion, constitutional ideals and the rule of law

References and Bibliography

A. Constitutional and statutory materials

Constitution of India, Articles 25 and 48. https://indiankanoon.org/doc/631708/ , https://indiankanoon.org/doc/1452355/

Prevention of Cruelty to Animals Act, 1960, particularly Sections 3 and 11. https://development.delhi.gov.in/sites/default/files/inline-files/pca_act_1960.pdf

Wildlife (Protection) Act, 1972, particularly Section 43 and its applicable provisions concerning captive elephants. https://indiacode.ecourtsindia.com/wild-life-protection-act-1972/section/43/

B. Judicial decisions

Commissioner, Hindu Religious Endowments, Madras v. Sri Lakshmindra Thirtha Swamiar of Shirur Mutt, AIR 1954 SC 282. https://indiankanoon.org/doc/1430396/

State of Gujarat v. Mirzapur Moti Kureshi Kassab Jamat, (2005) 8 SCC 534. https://indiankanoon.org/doc/101278772/

Animal Welfare Board of India v. A. Nagaraja, (2014) 7 SCC 547. https://indiankanoon.org/doc/39696860/

Animal Welfare Board of India v. Union of India, 2023 INSC 548. https://indiankanoon.org/doc/124059674/

Swasthishri Jinsen Bhattarak Pattacharya Mahaswami Sanstha, Math (Karveer), Kolhapur v. Union of India, Bombay High Court, judgment dated 16 July 2025. https://indiankanoon.org/doc/59641737/

C. Contemporary sources

Indian Express, reporting on the Bombay High Court's judgment concerning Mahadevi (Madhuri), July 2025. https://indianexpress.com/article/cities/mumbai/priority-elephants-welfare-religious-activities-10131121/

Times of India, reporting on the High-Powered Committee's decision permitting Madhuri's return to Kolhapur, September 2026. https://timesofindia.indiatimes.com/city/kolhapur/sc-says-no-to-re-transfer-of-elephant-madhuri-to-vantara/articleshow/134840162.cms

Times of India, reporting on the Supreme Court's dismissal of PETA India's subsequent application concerning Madhuri, October 2026. https://timesofindia.indiatimes.com/city/kolhapur/sc-says-no-to-re-transfer-of-elephant-madhuri-to-vantara/articleshow/134840162.cms

Shradha Gangwar[a,1], Dr. Himadri S Dey[b,2], Dr. Urvashi Kumari[c,3], Dr.Alpana Jijja[d,4]

[a]PhD Research Scholar, Sushant University, Gurugram, India

[b]Assistant Professor, Sushant University, Gurugram, India

[c]Associate Professor, School of Engineering & Technology, Sushant University, Gurugram, India

[d]Associate Professor, School of Engineering & Technology, Sushant University, Gurugram, India

1shraddhagangwar1395@gmail.com, 2himadridey@sushantuniversity.edu.in, 3urvashikumari@sushantuniversity.edu.in, 4alpanajijja@sushantuniversity.edu.in

42

मनुस्मृति के नैतिक सिद्धांतों की आधुनिक प्रासंगिकता

प्रतीक्षा पुंडीर

सारांश

भारतीय ज्ञान परंपरा और प्राचीन आचार–संहिताओं में मनुस्मृति का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण एवं केंद्रीय रहा है। प्रस्तुत शोध पत्र का मूल उद्देश्य मनुस्मृति में प्रतिपादित नैतिक सिद्धांतों, सामाजिक कर्तव्यों (धर्म), व्यक्तिगत आचरण, सत्य, अहिंसा, दया, इन्द्रिय–निग्रह और दान जैसी सार्वभौमिक धारणाओं का गहन विश्लेषण करना तथा समकालीन 21वीं सदी के समाज, विधि, पर्यावरण एवं वैश्विक संकटों के संदर्भ में उनकी व्यावहारिक उपयोगिता का मूल्यांकन करना है। ऐतिहासिक रूप से यद्यपि मनुस्मृति के कुछ सामाजिक एवं वर्ण–आधारित नियमों की आधुनिक समतावादी मूल्यों के प्रकाश में आलोचना होती रही है, किंतु इसके नैतिक एवं व्यावहारिक आचरण संबंधी सिद्धांत (जैसे– दशलक्षण धर्म, पर्यावरण संरक्षण, कर्तव्य–निष्ठता और आत्म–नियंत्रण) आज के भौतिकवादी एवं तनावग्रस्त समाज के लिए भी अत्यंत प्रासंगिक हैं। इस शोध पत्र में यह प्रतिपादित किया गया है कि यदि मनुस्मृति के बाह्य एवं सामाजिक संरचनात्मक अंशों को तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों के संदर्भ में देखा जाए और इसके मूल सार्वभौमिक नैतिक तत्वों को ग्रहण किया जाए, तो यह आधुनिक मानव के नैतिक उत्थान, प्रशासनिक अखंडता, पर्यावरणीय संतुलन और सामाजिक सौहार्द के निर्माण में एक महत्वपूर्ण पथ–प्रदर्शक की भूमिका निभा सकती है।

प्रस्तुत अध्ययन में मनुस्मृति के विविध अध्यायों, श्लोकों तथा प्रासंगिक टीकाओं के माध्यम से प्राचीन मूल्यों और आधुनिक जीवन शैली के मध्य एक विचारात्मक सेतु स्थापित करने का प्रयास किया गया है।

इस ग्रंथ के भीतर निहित शाश्वत जीवन–मूल्यों को रूढ़िवादिता और पूर्वाग्रहों से पृथक कर वैज्ञानिक, तार्किक और मानवतावादी दृष्टिकोण से आधुनिक समाज के समक्ष प्रस्तुत करना है। अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि मनुस्मृति केवल दंड–विधान या सामाजिक संस्तरण की पुस्तक नहीं है, बल्कि यह मानव जीवन के चार पुरुषार्थों – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के संतुलन पर आधारित एक संपूर्ण जीवन–दर्शन है।

मुख्य शब्द (Keywords): मनुस्मृति में श्सदाचारश (सत्य, पवित्रता और ईमानदारी) को सबसे बड़ा धर्म माना गया है।

1.प्रस्तावना (Introduction)

प्राचीन भारतीय दर्शन एवं नीतिशास्त्र का मूल उद्देश्य केवल परालौकिक मुक्ति प्राप्त करना नहीं था, बल्कि इहलोक (इस संसार) में व्यक्ति और समाज के जीवन को अनुशासित, धर्मपरक एवं सुखी बनाना भी था। इसी व्यवस्था को आकार देने के लिए जिन धर्मशास्त्रों और स्मृतियों की रचना हुई, उनमें श्मनुस्मृतिश (मानव धर्मशास्त्र) को अग्रगण्य माना जाता है। मनुस्मृति न केवल एक कानूनी या प्रशासनिक ग्रंथ है, बल्कि यह मानव जीवन के विविध आयामों व्यक्तिगत आचरण, पारिवारिक संबंध, सामाजिक कर्तव्य, न्याय व्यवस्था तथा प्रशासनिक नीति का एक व्यापक नैतिक खाका प्रस्तुत करती है।

आधुनिक काल में, जहाँ एक ओर विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास ने मानव जीवन को भौतिक रूप से समृद्ध बनाया है, वहीं दूसरी ओर नैतिक मूल्यों का ह्रास, उपभोक्तावादी संस्कृति, पारिवारिक विघटन, भ्रष्टाचार और पर्यावरणीय संकट जैसी जटिल समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं। ऐसे समकालीन परिदृश्य में यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि क्या प्राचीन ग्रंथों में वर्णित सिद्धांत आज भी प्रासंगिक हैं?

नुस्मृति के नैतिक सिद्धांतों (Moral Principlè) की आधुनिक प्रासंगिकता को समझने के लिए हमें इसके दो पहलुओं को देखना होगारू पहला वह, जो शाश्वत और सार्वभौमिक मानवीय मूल्यों से जुड़ा है; और दूसरा वह, जो आधुनिक लोकतांत्रिक एवं संवैधानिक मूल्यों के साथ विरोधाभास पैदा करता है।

मनुस्मृति में वर्णित नैतिक सिद्धांतकृजैसे कि सत्य बोलना, अहिंसा का पालन करना, दूसरों के अधिकारों का सम्मान करना, और इन्द्रिय–निग्रह किसी काल या देश की सीमाओं में आबद्ध नहीं हैं। वे सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक हैं। प्रस्तुत शोध पत्र मनुस्मृति के इन्हीं नैतिक सिद्धांतों की पुनःव्याख्या करते हुए यह विश्लेषित करता है कि किस प्रकार ये प्राचीन विचार आधुनिक जीवन की समस्याओं का समाधान खोजने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

2. मनुस्मृति के प्रमुख नैतिक सिद्धांत (Ethical Principles of Manusmriti)

मनुस्मृति में नैतिकता को केवल नियमों का समूह नहीं माना गया है, बल्कि इसे श्धर्मश के व्यापक ढांचे के अंतर्गत रखा गया है। मनुस्मृति में धर्म का अर्थ संप्रदाय न होकर सदाचार, कर्तव्य और नैतिक नियम है।

3. धर्म के दस लक्षण (Ten Attributes of Dharm)

मनुस्मृति के छठे अध्याय (श्लोक 92) में धर्म के दस व्यावहारिक एवं नैतिक लक्षणों का उल्लेख किया गया है, जो किसी भी मानव के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक हैं:

धृति (धैर्य)रू विपरीत परिस्थितियों में धैर्य बनाए रखना।

क्षमा (सहनशीलता)रू दूसरों के अपराधों या भूलों को क्षमा करने का भाव।

दम (आत्म–नियंत्रण)रू मन की वासनाओं और चंचलता पर नियंत्रण।

अस्तेय (चोरी न करना)रू दूसरों के धन या अधिकार का अनैतिक रूप से हरण न करना।

शौच (पवित्रता)रू मन, वचन और शरीर की स्वच्छता।

इन्द्रिय–निग्रहरू ज्ञानेंद्रियों और कर्मेंद्रियों को कुमार्ग पर जाने से रोकना।

धी (बुद्धि व विवेक)रू सही और गलत का विवेकपूर्ण निर्णय लेने की क्षमता।

विद्या (ज्ञान)रू आत्म–ज्ञान और व्यावहारिक ज्ञान का अर्जन।

सत्यरू मन, वचन और कर्म में सत्यनिष्ठा।

अक्रोधरू क्रोध पर विजय पाना और शांति बनाए रखना।

4. सत्य और वाणी की शुद्धता (Truth and Purity of Speech)

मनुस्मृति में सत्य को सर्वोच्च नैतिक मूल्य माना गया है। मनुस्मृति (4.138) का प्रसिद्ध श्लोक यह निर्देश देता है कि सत्य कैसा होना चाहिएः

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।

प्रियं च नानृतं ब्रूयात् एष धर्मः सनातनः

अर्थात्, ष्सत्य बोलो, प्रिय बोलो, किंतु ऐसा सत्य मत बोलो जो अप्रिय या हिंसात्मक हो, और न ही प्रिय लगने वाला असत्य बोलो।ष यह सिद्धांत वाणी में सत्यनिष्ठा और संवेदनशीलता के संतुलन को रेखांकित करता है।

5. अहिंसा, करुणा और प्राणी–मात्र के प्रति दया

यद्यपि तत्कालीन न्याय और दंड व्यवस्था में कठोरता के प्रावधान थे, फिर भी व्यक्तिगत और सामाजिक स्तर पर अहिंसा एवं जीव–दया को मनुस्मृति में विशेष महत्व दिया गया है। निष्कारण प्राणियों की हिंसा न करना, सब जीवों के प्रति करुणा रखना और पर्यावरण के घटकों (वृक्ष, जल, वायु) की रक्षा करना नैतिक दायित्व माना गया है।

6.पुरुषार्थ एवं कर्तव्य–निष्ठा (Purushartha and Duty&Orientation)

मनुस्मृति जीवन में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के संतुलित समन्वय पर बल देती है। इसमें कहा गया है कि अर्थ (धन) और काम (कामनाओं) का उपभोग केवल धर्म (नैतिकता) की सीमाओं के भीतर ही किया जाना चाहिए। नीतिविहीन धनार्जन समाज के पतन का कारण बनता है।

7. आधुनिक युग में प्रासंगिकता (Modern Relevance)

मनुस्मृति के नैतिक सिद्धांतों की प्रासंगिकता आज के विभिन्न क्षेत्रों में स्पष्ट रूप से देखी जा सकती हैरू

8. मानसिक स्वास्थ्य एवं व्यक्तिगत जीवन

आधुनिक जीवन में तनाव, अवसाद और असंतोष का मुख्य कारण असंतुलित जीवनशैली और अनियंत्रित इच्छाएँ हैं। मनुस्मृति के श्इन्द्रिय–निग्रहश, श्दमश और श्धृतिश के सिद्धांत व्यक्ति को मानसिक संतुलन, अनुशासन और आंतरिक शांति प्रदान करते हैं।

9. व्यापारिक एवं प्रशासनिक नैतिकता (Corporate & Administrative Ethics)

भ्रष्टाचार, वित्तीय धोखाधड़ी और अनैतिक व्यापारिक गतिविधियाँ आज के समाज की बड़ी चुनौतियाँ हैं। मनुस्मृति का अस्तेय (अस्तेयम) और श्शौचश (सत्यनिष्ठा) का सिद्धांत आज के कॉर्पोरेट गवर्नेंस और लोक प्रशासन में ईमानदारी, पारदर्शिता और व्यावसायिक नीतिशास्त्र (ठनेपदमे म्जीपबे) का आधार बन सकता है।

10. मूल उद्देश्य (Core Philosophy):

इस ग्रंथ का मुख्य उद्देश्य श्धर्मश और सदाचार (Righteousness) की स्थापना करना था। इसमें मानव जीवन के कर्तव्य, समाज के प्रति जिम्मेदारी, न्याय व्यवस्था और व्यक्तिगत नैतिकता के नियम तय किए गए थे।

11. मनुस्मृति के नैतिक सिद्धांतों की उपलब्धियां

मनुस्मृति को मानव के वैयक्तिक आचरण, उच्च नैतिक मूल्यों और समाज के लिए एक प्रमुख मार्गदर्शक ग्रंथ माना गया है।

.समाज को सुव्यवस्थित रखने तथा व्यक्तिगत व सामाजिक कर्तव्यों धर्म का पालन करने वाला ग्रंथ है।

.मनु ने व्यक्ति के जीवन को व्यवस्थित और अनुशासनबद्ध बनाने के लिए चार आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास) की व्यवस्था दी,

.उन्होंने हीन और अव्यवस्थित समाज से निकालकर एक सुव्यवस्थित राष्ट्र की नींव रखी

12. न्यायशास्त्र और विधि का शासन (Jurisprudence & Deterrence):

मनुस्मृति ने श्दंडश की अवधारणा को समाज के रक्षक के रूप में स्थापित किया है (जहाँ दंड का अर्थ प्रतिशोध नहीं, बल्कि न्याय की स्थापना है)। यह सिद्धांत आज की आधुनिक आपराधिक न्याय प्रणाली (Criminal Justice System) के उस मूल तत्व से मेल खाता है जो समाज में कानून का भय और व्यवस्था

बनाए रखने के लिए अनिवार्य है।

13. सदाचार और संस्थागत ईमानदारी (Institutional Integrity):

मनुस्मृति में श्अस्तेयश (चोरी न करना), सत्य और शौच (आंतरिक व बाह्य पवित्रता) को सर्वोपरि धर्म माना गया है।

आधुनिक कॉर्पोरेट गवर्नेंस, लोक प्रशासन (Public Administration) और राजनीति में भ्रष्टाचार को समाप्त करने के लिए यह व्यक्तिगत शुचिता का सिद्धांत एक मजबूत नैतिक आधार प्रदान करता है।

14. जाति और वर्ण व्यवस्था में कठोरताः मनुस्मृति में समाज का जो वर्गीकरण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) किया गया, उसमें न्याय और दंड का प्रावधान वर्ण के आधार पर अलग–अलग था। आधुनिक लोकतंत्र श्कानून के समक्ष समानताश (Equality before Law) पर चलता है, इसलिए जन्म आधारित भेदभाव आज पूरी तरह अप्रासंगिक और अमान्य है।

15. स्त्रियों और शूद्रों की स्थितिरू पाठ के कुछ हिस्सों में महिलाओं की सुरक्षा की बात कही गई है (जैसे– यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते...), वहीं अन्य स्थानों पर स्त्रियों की स्वतंत्रता और संपत्ति के अधिकारों को सीमित किया गया है, जो आज के महिला सशक्तिकरण और लैंगिक समानता (ळमदकमत म्नंसपजल) के सिद्धांतों के विपरीत है।

16. कल्याणकारी राज्य (मसतिम जंजम)रू मनु का मानना था कि राजा का मुख्य कर्तव्य समाज के निर्बल, गरीब और असहाय लोगों की रक्षा करना है। आधुनिक कल्याणकारी सरकारों का उद्देश्य भी यही है।

17. प्रकृति का संरक्षणरू मनुस्मृति में वनस्पतियों, जीवों और जल स्रोतों को नुकसान पहुँचाने पर दंड का प्रावधान है। आज के वैश्विक संकट जैसे श्जलवायु परिवर्तनश और श्जैव विविधता संरक्षणश के दौर में मनु के ये विचार बेहद प्रगतिशील और प्रासंगिक हैं।

18. निष्कर्ष (Conclusion)

निष्कर्षतः, मनुस्मृति एक बहुआयामी ग्रंथ है। इसके कुछ नियमों और प्रावधानों पर भले ही आधुनिक लोकतांत्रिक और समतावादी मूल्यों के आलोक में बहस या समालोचना होती रही हो, किंतु इसके श्नैतिक सिद्धांतश कालजयी और सार्वभौमिक हैं। मनुस्मृति में निहित श्दशलक्षण धर्मश, सत्य, अहिंसा, इन्द्रिय–संयम और प्रकृति–संरक्षण के विचार आज के वैज्ञानिक युग में भी उतने ही उपयोगी हैं जितने कि प्राचीन काल में थे। आज के 21वीं सदी के समकालीन समाज में मनुस्मृति को किसी कानूनी संहिता (Legal Code) के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि हमारा समाज भारतीय संविधान से चलता है। परंतु, एक दार्शनिक ग्रंथ के रूप में, इसके सार्वभौमिक नैतिक सिद्धांत जैसे –सत्य, अस्तेय, इंद्रिय–निग्रह, मानसिक शुद्धता और पर्यावरण संरक्षण आज भी व्यक्तिगत आत्म–सुधार और नैतिक जीवन जीने के लिए पूरी तरह प्रासंगिक और मूल्यवान हैं। हमें इसके रूढ़िवादी विचारों को छोड़कर इसके केवल सकारात्मक जीवन–मूल्यों को अपनाना चाहिए।

मनुस्मृति का निष्कर्ष यही है कि इसके बाह्य सामाजिक और संस्तरण संबंधी अंशों को आधुनिक समतावादी और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अलग करके, इसके शाश्वत नैतिक दर्शन को अपनाया जाए तो यह आज के मानव और समाज के उत्थान में एक बेहतरीन पथ–प्रदर्शक साबित हो सकती है।

संदर्भ सूची (References)

ओलिवेल, पैट्रिक. (2005). मनुज़ कोड ऑफ़ लॉरू ए क्रिटिकल एडिशन एंड ट्रांसलेशन ऑफ़ द मानव–धर्मशास्त्र. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

बूलर, जॉर्ज. (अनुवादक). (1886). द लॉज़ ऑफ़ मनु (सेक्रेड बुक्स ऑफ़ द ईस्ट, वॉल्यूम 25). ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

पांडे, राजबली. (1970). हिंदू संस्काररू सोशियो–रिलिजियस स्टडी ऑफ़ द हिंदू संस्कार्स. मोतीलाल बनारसीदास.

थापर, रोमिला. (2002). अर्ली इंडियारू फ्रॉम द ऑरिजिन्स टू ।क 1300. यूनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफोर्निया प्रेस.

डोनिगर, वेंडि, और स्मिथ, ब्रायन के. (अनुवादक). (1991). द लॉज़ ऑफ़ मनु. पेंगुइन बुक्स.

शोधार्थी

प्रतीक्षा पुंडीर

कनिका चौहान

कक्षा– एम.ए. राजनीति विज्ञान 3 सेमेस्टर

ईमेल–आईडी–gautamPundir37@gmail.com

स्थान– मां शाकुंभरी विश्वविद्यालय पुंवारका (सहारनपुर)

निर्देशिका (Guide) रू मिस पारुल (अतिथि सहायक प्रवक्ता, राजनीति विज्ञान विभाग, माँ शाकुंभरी विश्वविद्यालय, पुंवारका, उत्तर प्रदेश)

43

मोहन राकेश के दांपत्य जीवन और 'एक और जिन्दगी' का अंतर्संबंध

अनिमा मिंज

सारांश

नई कहानी आंदोलन के प्रमुख हस्ताक्षर के रूप में प्रतिष्ठित मोहन राकेश (1925–1972) ने अपनी रचनाओं के माध्यम से हिंदी कथा–साहित्य को एक नया आयाम दिया है। उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से आधुनिक जीवन की विभिन्न जटिलताओं, व्यक्ति की मानसिक विडंबनाओ तथा पारिवारिक संबंधों में बदलते रिश्तों का यथार्थ वर्णन किया है। उनके साहित्य में केवल यथार्थ का बाहरी वर्णन नहीं बल्कि व्यक्ति के आंतरिक द्वंद्व, दमित भावना, अकेलापन, तनाव आदि का भी सशक्त चित्रण देखने को मिलता है। मोहन राकेश की कहानी 'एक और जिन्दगी' की कथा इन्हीं चीजों पर आधारित है।

मोहन राकेश का पारिवारिक जीवन काफी उथल–पुथल और तनावपूर्ण रहा है। उनके वैवाहिक संबंधों में हम अलगाव, असंतोष और पारिवारिक विघटन की समस्याओं को स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। इन्हीं समस्याओं और उनके व्यक्तिगत अनुभव का वर्णन हम उनके कहानी, उपन्यास और नाटक में देख पाते हैं। 'एक और जिन्दगी' कहानी के माध्यम से मोहन राकेश ने अपने निजी अनुभव को सार्वभौमिक मानवीय संवेदना का रूप दिया है।

मुख्य शब्द :– अंतर्संबंध, दांपत्य जीवन, मानसिक द्वंद्व, अलगाव, अहं भावना, वैचारिक मतभेद।

मूल आलेख

मोहन राकेश का वैवाहिक जीवन अत्यंत संघर्ष से भरा हुआ था। उन्होंने अपने 47 वर्ष के जीवन काल में कुल तीन विवाह किए। पहला विवाह सामाजिक रूप से हुआ लेकिन वैचारिक मतभेद, अहं भावना और भावनात्मक दूरी के कारण लंबे समय तक नहीं चल सका। दूसरा विवाह उन्होंने अपने परिचित मित्र की बहन से की। शुरुआत में तो सब ठीक था, लेकिन कुछ दिनों बाद ही उस स्त्री के पागलपन का पता चल गया और दूसरा विवाह भी संबंध–विच्छेद की स्थिति में आ गया। तीसरा विवाह उन्होंने अपनी इच्छानुसार अनीता औलख से किया, जिससे उन्हें आत्मीयता का रिश्ता तो मिला लेकिन मानसिक बैचेनी से वे उबर नहीं पाए।

मोहन राकेश ने दांपत्य जीवन में बनते–बदलते रिश्तों का कई रूप देखा था। स्वयं के व्यक्तिगत अनुभव का ही उल्लेख उनकी रचनाओं में मिलता है। इस परिस्थिति ने उन्हें और उनकी मानसिकता को बदल दिया था। उनका मानना था कि विवाह केवल सामाजिक बंधन नहीं है, जो केवल पारिवारिक और शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए की जाए, बल्कि उनका मानना था कि विवाह तो मानसिक और भावनात्मक सामंजस्य का संबंध है, जो व्यक्ति को उसके खालीपन से दूर करके उसके जीवन को खुशियों से भर दे।

मोहन राकेश खुले विचारों वाले व्यक्ति थे। उनकी डायरी से यह स्पष्ट होता है कि वे बनावटी जीवन और कृत्रिम भावनाओं से बने रिश्तों के सख्त खिलाफ थे। किसी भी रिश्तों में वे झूठ कतई बर्दाश्त नहीं करते थे। इसी कारण उनके वैवाहिक तथा मित्रता जैसे संबंध में भी कई तनावपूर्ण स्थितियाँ उत्पन्न हुई, जिसका स्पष्ट प्रभाव हमें उनके साहित्य में मिलता है।

मोहन राकेश कृत 'एक और जिन्दगी' कहानी आधुनिक जीवन की विडंबनाओ और अहं भावना से ग्रसित दो व्यक्तित्व संपन्न पति–पत्नी, प्रकाश और बीना की कहानी है। दोनों ही शिक्षित और आधुनिक विचारों वाले हैं, इसके बावजूद दोनों के विचारों में मतभेद है। जिसके कारण दोनों ही अलगाव की स्थिति में आ चुके हैं और भावनात्मक रूप से पूर्णरूपेण दूरी बना चुके हैं। जिसके कारण उनका संबंध टूटने की स्थिति में पहुंच जाता है – ''ब्याह के कुछ महीने बाद से ही पति– पत्नी अलग रहने लगे थे। ब्याह के साथ जो सूत्र जुड़ना चाहिए था, वह जुड़ नहीं सका था। दोनों अलग–अलग जगह काम करते थे और अपना अपना स्वतंत्र ताना–बाना बुनकर जी रहे थे।''[1]

हालाँकि दोनों अलग–अलग रहते थे, लेकिन अपने वैवाहिक जीवन को सामाजिक रूप से दिखाने के लिए कभी कभार मिल लिया करते थे और इसी दिखावे के कारण उनका बच्चा 'पलाश' दुनिया में आ जाता है। पलाश और प्रकाश में भावनात्मक रिश्ता बन जाता है, जो पति–पत्नी के अलग होने के बाद भी बना रहता है। इस पारिवारिक विघटन के कारण सबसे अधिक प्रभावित उनका बच्चा पलाश होता है। कहानी में प्रकाश के मन में एक प्रश्न बार–बार उत्पन्न होता है कि उसे एक नई शुरुआत करनी चाहिए, ताकि वह एक और जिन्दगी जी सके। इसलिए उसने एक और कोशिश करके देखा। प्रकाश ने अपने मित्र कृष्णा जुनेजा की बहन निर्मला से दूसरा विवाह किया। जिस आशा और उम्मीद से प्रकाश ने निर्मला से विवाह किया था कि, वह अपने अतीत के बुरे यादों को भूल जाएगा और एक नई शुरुआत करेगा, वर्तमान उससे भी ज्यादा बुरा था – ''वह उसे डाँट देता तो वह उसी आकस्मिक ढंग से बिस्तर पर लेटकर हाथ पैर पटकते हुए रोने लगती, चिल्ला–चिल्लाकर अपनी मरी हुई माँ को पुकारने लगती और अंत में बाल बिखेरकर देवी बन जाती और घर भर को शाप देने लगती।

कभी अपने कपड़े फाड़कर इधर–उधर छुपा देती, अपने गहने जूते के अंदर संभाल देती।''[2] इस तरह के कई अनेक प्रकार के पागलों वाली हरकत निर्मला किया करती थी। प्रकाश ने जो दूसरा विवाह किया वह पहले विवाह के मुकाबले ज्यादा बुरा और भयावह था। एक विक्षिप्त स्त्री के साथ जीवनयापन की कल्पना भी नहीं की जा सकती, लेकिन प्रकाश ने जो भी समय निर्मला के साथ व्यतीत किया, उससे वह मानसिक रूप से प्रताड़ित ही होता रहा। अतः 'एक और जिन्दगी' कहानी केवल बीना–प्रकाश या निर्मला–प्रकाश के अलगाव की कहानी ही नहीं, बल्कि मनुष्य के असफल संबंधों, अकेलेपन, आत्म–संघर्ष और पारिवारिक–विघटन की मार्मिक कहानी है।

मोहन राकेश का दाम्पत्य जीवन और उनके द्वारा रचित कहानी–'एक और जिन्दगी' का बहुत गहरा अंतर्संबंध है। ध्यान से देखा जाए तो मोहन राकेश ने अपने ही व्यक्तिगत जीवन को इस कहानी के माध्यम से प्रस्तुत किया है। उनके दाम्पत्य जीवन को और 'एक और जिन्दगी' कहानी की कथावस्तु को पृथक करके नहीं देखा जा सकता है।

जैसा कि हम सभी जानते हैं, मोहन राकेश का वैवाहिक जीवन काफी अस्त–व्यस्त रहा है। जिस प्रकार उनका वैवाहिक संबंध बार–बार टूटा और नया संबंध भी बना, उसी प्रकार कहानी में भी संबंधों के बार–बार टूटने और जीवन को नए सिरे से शुरुआत करने की आकांक्षा दिखाई गई है। राकेश जी की पहली पत्नी सुशीला का व्यक्तित्व कहानी की पात्रा बीना से काफी मिलता–जुलता है। राकेश–सुशीला का संबंध–विच्छेद का मुख्य कारण उनकी अहं भावना, आत्म सम्मान और स्वतंत्र व्यक्तित्व की चाह रही है। राकेश–सुशीला के बीच वैचारिक मतभेद और भावनात्मक असमानताएँ रही है। इसी प्रकार बीना और प्रकाश का भी संबंध विच्छेद का मुख्य कारण अहं और वैचारिक मतभेद को ही बताया गया है। एक मुख्य समानता यह भी प्रदर्शित की गई है कि, जिस प्रकार सुशीला एक आत्मनिर्भर और शिक्षित स्त्री थी, बीना भी एक शिक्षित, स्वाभिमानी और स्वतंत्र व्यक्तित्व वाली स्त्री है–'' बीना में बहुत अहंकार था, वह उसके बराबर पढ़ी–लिखी थी, उससे ज्यादा कमाती थी। उसे अपनी स्वतंत्रता का बहुत मान था और उस पर भारी पड़ती थी।''[3]

कहानी में एक उपेक्षित पात्र 'पलाश' भी है, जो प्रकाश और बीना का बच्चा है। बीना–प्रकाश के अलगाव का सीधा प्रभाव पलाश पर पड़ता है। बच्चे का ध्यान किसी को नहीं है और इसी कारण वह माता–पिता के होने के बावजूद भावनात्मक असुरक्षा का अनुभव करता है। मोहन राकेश ने कहानी में लिखा है कि– ''लोकाचार के नाते साल–छः महीने में कभी एक बार मिल लिया करते थे। वह लोकाचार ही इस बच्चे को दुनिया में ले आया था। बीना समझती थी कि इस तरह जान–बूझकर उसे फँसा दिया गया है। प्रकाश सोचता था कि अनजाने में ही उससे एक कसूर हो गया है।''[4] इस तरह प्रकाश और बीना दोनों ही बच्चे को एक गलती मानते हैं। बच्चे के दुनिया में आने के बाद भी उनके संबंध में कोई परिवर्तन नहीं आया। वह केवल एक कड़ी के रूप में उन दोनों से जुड़ा हुआ था। धीरे–धीरे वह कड़ी भी टूटने लगी। इसी परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो मोहन राकेश और सुशीला के तलाक के पहले और बाद की स्थिति से पीड़ित उनका बच्चा 'नवनीत' की हालत भी पलाश के समान हो जाती है। जिस प्रकार कहानी में पलाश, प्रकाश और बीना के बीच एक भावनात्मक कड़ी के रूप में जुड़ा रहता है, उसी प्रकार वास्तविक जीवन में नवनीत इस कड़ी का निर्वहन करता है।

कहानी की दूसरी पात्रा यानि कि प्रकाश की दूसरी पत्नी निर्मला पर मोहन राकेश की दूसरी पत्नी 'पुष्पा' की छाया दिखाई पड़ती है। सुशीला से अलग होने के बाद राकेश ने अपने करीबी मित्र की बहन पुष्पा से विवाह कर लिया था और शादी के कुछ समय बाद ही मोहन राकेश को पता चला कि पुष्पा को 'हिस्टीरिया' के दौरे पड़ते हैं और वह पागलों जैसा व्यवहार करती है। कहानी में प्रकाश की शादी भी उसके मित्र कृष्णा जुनेजा की बहन निर्मला से होती है, जो कि पागल हो जाती है। इस तरह पुष्पा और निर्मला के अंतर्संबंध हमें देखने को मिलते हैं।

मोहन राकेश के व्यक्तित्व को प्रकाश से जोड़कर देखा जाए तो दोनों के बीच एक गहरा मनोवैज्ञानिक और अनुभवगत संबंध देखने को मिलता है। दोनों ही अपने वैवाहिक जीवन से नाखुश हैं और उससे उत्पन्न विभिन्न समस्याओं से जूझते नजर आते हैं। मोहन राकेश ने स्वयं आधुनिक मध्यवर्गीय जीवन की विडंबनाओ का अनुभव किया, उसी तरह कहानी में प्रकाश भी उसी आधुनिक व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करता है, जो व्यक्तित्व संपन्न होने के बावजूद मानसिक रूप से शांति प्राप्त नहीं कर पाता है। राकेश के वास्तविक जीवन का अध्ययन करने पर स्पष्ट होता है कि वे अपने व्यक्तिगत जीवन से जुड़े किसी भी फैसले को अत्यंत गंभीरता और संवेदनशीलता से लेते थे। उनके दांपत्य जीवन का अनुभव, मानसिक द्वंद्व तथा संबंधों की जटिलताएँ उनकी रचनाओं में बार–बार अभिव्यक्त हुई है। 'एक और जिन्दगी' कहानी का नायक प्रकाश भी इसी जीवनानुभवों की कलात्मक अभिव्यक्ति प्रतीत होता है। मूल रूप से देखें तो कहानी का सबसे बड़ा गुण मनोवैज्ञानिक चित्रण है। कहानी का मुख्य पात्र प्रकाश बाहरी रूप से तो सामान्य प्रतीत होता है, लेकिन

आंतरिक रूप से वह गहरे अकेलेपन से ग्रस्त है। यही मनोवैज्ञानिक गहराई मोहन राकेश के निजी अनुभव से उत्पन्न हुई प्रतीत होती है।

अतः प्रकाश, बीना और निर्मला को क्रमशः मोहन राकेश, सुशीला और पुष्पा का प्रत्यक्ष या पूर्ण चित्र कहना उचित नहीं है, परंतु यह कहा जा सकता है कि मोहन राकेश ने अपने दांपत्य जीवन के भोगे हुए यथार्थ और अनुभव, विशेष रूप से वैचारिक मतभेद, संवादहीनता, संबंधों की जटिलता और आत्मसम्मान जैसी समस्याओं को प्रकाश, बीना और निर्मला के रूप में अपनी कहानी की माध्यम से अभिव्यक्त किया है।

'एक और जिन्दगी' कहानी में मोहन राकेश ने केवल आधुनिक मनुष्य के दाम्पत्य जीवन को ही नहीं बल्कि उसकी आकांक्षाओं, असफलताओं और पुनः जीवन जीने की इच्छा को केंद्र में रखा है। कहानी का नायक प्रकाश अपने वैवाहिक जीवन को प्रयोग का नाम देकर अपने पहले प्रयोग यानि अपनी पहली शादी में असफल होने के बाद भी एक नए प्रयोग के लिए इच्छुक है। वह कहता है– ''आखिर आदमी के पास एक ही तो जिंदगी होती है – प्रयोग के लिए भी और जीने के लिए भी। तो क्यों आदमी एक प्रयोग की असफलता को जिन्दगी की असफलता मान ले?''[5] बीना से संबंध– विच्छेद की स्थिति में प्रकाश के मन में यह प्रश्न आता है और इस प्रश्न के हल के रूप में वह दूसरा विवाह निर्मला से करता है, लेकिन हम कहानी में स्पष्ट देख पाते हैं कि अपने वैवाहिक जीवन के दूसरे प्रयोग के रूप में प्रकाश का यह प्रयोग भी असफल ही होता है।

दूसरी और उसके मन में एक प्रश्न यह भी उठता है कि– ''जब उसका एक प्रयोग सफल नहीं हुआ, तो कैसे कहा जा सकता था कि दूसरा प्रयोग सफल होगा?''[6] इस प्रकार प्रकाश द्वंद में फंस जाता है, क्योंकि एक ओर तो वह असफलता के बाद भी नया प्रयोग करने का प्रयास करना चाहता है, वहीं दूसरी और वह दूसरा प्रयोग करने में आशंका से लड़ता हुआ नजर आता है। प्रकाश के लिए उसका पहला विवाह एक असफल प्रयोग था और दूसरा विवाह उसकी उस असफलता के बाद 'एक और जिन्दगी' की तलाश। मनुष्य अपने जीवन में अनेक निर्णय लेता है लेकिन इसमें से सभी निर्णय सही या सफल हो यह जरूरी तो नहीं, मोहन राकेश का यही विचार हम कहानी में देख पाते हैं। प्रयोग करना, अगर उस प्रयोग में असफल हुए तो दूसरे प्रयोग की कल्पना मात्र से विचलित हो जाना, यही मनुष्य की प्रवृत्ति है। यही प्रवृत्ति प्रकाश, मोहन राकेश और जगत के सभी मनुष्य के अंदर विद्यमान रहते हैं।अतः अपनी कहानी के माध्यम से मोहन राकेश पाठकवर्ग को यही बताना चाहते हैं कि एक असफल प्रयोग जीवन की असफलता नहीं है, वह तो जीवन को नए ढंग से समझने और जीने का एक नया अवसर देती है। यही विचार कहानी को मानवीय जीवन की पुनः शुरुआत की भावना को विकसित करता है और उसे हर युग में प्रासंगिक बनता है।

दूसरी और विभिन्न आलोचकों के मतानुसार 'एक और जिन्दगी' कहानी मोहन राकेश के जीवन के अनुभव से ही जुड़ी हुई कहानी है। हालाँकि यह कहानी कोई आत्मकथा नहीं है, फिर भी इसमें लेखक के दांपत्य जीवन, मानसिक द्वंद्व और अकेलेपन की झलक स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है। मोहन राकेश की तीसरी पत्नी अनीता राकेश के अनुसार, जब उनके शादी नहीं हुई थी और पुष्पा से संबंध–विच्छेद की बात अदालत में चल रही थी, तब राकेश जी ने अनीता की माँ चन्द्रा जी को एक पत्र के माध्यम से बताया था कि– ''मेरे आज तक के बिताये दोनों वैवाहिक जीवन का सारांश आपको मेरी कहानी 'एक और जिन्दगी' से प्राप्त हो सकता है।''[7] इस प्रकार अनीता राकेश के अनुसार मोहन राकेश स्वयं बताते हैं कि 'एक और जिन्दगी' कहानी, उनके ही वैवाहिक जीवन की कहानी है। अनीता राकेश के संस्मरणों के आधार पर 'एक और जिन्दगी' में चित्रित मानसिक संघर्षों को लेखक के जीवनानुभवों से जोड़कर देखा जा सकता है।

रामईश्वर कुमार के अनुसार – ''मोहन राकेश की कहानियों को गौर से देखने पर पता चलता है कि मोहन राकेश कहीं न कहीं अपनी कहानियों में अपनी ही जिन्दगी में भोगा हुआ यथार्थ प्रस्तुत किया है।¨ मनुष्य के अकेलेपन को उन्होंने आधुनिक संवेदना से जोड़कर चित्रित किया है।'एक और जिन्दगी' एक ऐसी ही कहानी है।''[8] अतः कहा जा सकता है कि 'एक और जिन्दगी' कहानी केवल एक काल्पनिक कहानी नहीं है बल्कि मोहन राकेश के निजी जीवन के अनुभव का कलात्मक रूपांतरण है। राकेश ने अपने व्यक्तिगत अनुभव को आत्मकथात्मक रूप में प्रस्तुत न करके उन्हें आधुनिक मनुष्य की सार्वभौमिक संवेदना का रूप दिया है। इस प्रकार यह कहानी लेखक के जीवन और उनके साहित्य के गहरे अंतर्संबंध का सशक्त उदाहरण है।

निष्कर्ष

निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि मोहन राकेश ने अपने निजी अनुभव और भोगे हुए यथार्थ को साहित्यिक संवेदना का रूप देकर उसे सार्वभौमिक बना दिया। यही कारण है कि 'एक और जिन्दगी' कहानी आज भी उतनी ही प्रासंगिक है और आधुनिक दांपत्य संबंधों की जटिलताओं को समझने के लिए महत्वपूर्ण कहानी मानी जाती है। यह कहानी हमें बताती है कि

कोई भी संबंध केवल साथ रहने से नहीं चलता, उस रिश्ते में विश्वास, प्रेम, संवेदना और पारस्परिक सम्मान का होना आवश्यक है। जब ये सभी तत्व समाप्त हो जाते हैं, तब मनुष्य अपने एक ही जीवन में 'एक और जिन्दगी' की तलाश करने लग जाता है।

संदर्भ सूची

1. राकेश मोहन, मोहन राकेश की संपूर्ण कहानियाँ, राजपाल एंड सन्ज, संस्करण : 2021, पृष्ठ – 304
2. वही, पृष्ठ – 308
3. वही, पृष्ठ – 307
4. वही, पृष्ठ – 304
5. वही, पृष्ठ – 305
6. वही, पृष्ठ – 307
7. राकेश अनीता, चन्द सतरें और, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1975, पृष्ठ 45–46
8. कुमार रामईश्वर, मोहन राकेश और आधे–अधूरे : एक समीक्षा, सत्यम पब्लिशिंग हाऊस, प्रथम संस्करण : 2019, पृष्ठ – 23

अनिमा मिंज

शोधार्थी

नेट–जे.आर.एफ

हिन्दी विभाग

राँची विश्वविद्यालय, राँची

मो0 : 6202947102

ई–मेल : animaminzgpk151@gmail.com

पता – रानीखटंगा

प्रखण्ड – ईटकी, जिला – राँची

झारखण्ड – 835301

44

कमलेश्वर की कहानियों में स्त्री –विमर्श

डॉ अनिल कुमार अनल

सारांश

आधुनिक हिंदी कथा साहित्य में नई कहानी आंदोलन के महत्वपूर्ण और अगुआ कथाकारों में कमलेश्वर का नाम अत्यंत श्रद्धा और सम्मान के साथ लिया जाता है। कमलेश्वर का पूरा नाम कमलेश्वर प्रसाद सक्सेना है। उनका जन्म उत्तर प्रदेश के मैनपुरी में 6.1.1032 को एक साधारण कायस्थ परिवार में हुआ। प्राथमिक शिक्षा मैनपुरी में और उच्च शिक्षा (एम ए हिंदी) इलाहाबाद विश्वविद्यालय में संपन्न हुई। वे नई कहानी आंदोलन के जनक त्रयी –(मोहन राकेश, राजेंद्र यादव और कमलेश्वर) में एक महत्वपूर्ण कडी रहे हैं। उन्होंने अनेक पत्रिकाओं –नई कहानियाँ, सारिका,धर्मयुग, जागरण, गंगा आदि का कुशल संपादन किया। वे दूरदर्शन के अतिरिक्त महानिदेशक रहे। इनका रचना संसार विस्तृत एवं व्यापक हैरू–

1कहानी संग्रह–कमलेश्वर की कहानियाँ, राजा निरबंसिया, कस्बे का आदमी, मांस का दरिया, खोई हुई दिशाएं, जिंदा मुर्दे, मेरी प्रिय कहानियाँ।

2 उपन्यास – एक सडक संतावन गलियां, डाक बंगला, तीसरा आदमी, समुंदर में खोया हुआ आदमी, लौटे हुए मुसाफिर, काली आंधी, नागमणि, आगामी अतीत, कितने पाकिस्तान। कितने पाकिस्तान पर 2003 में साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त हुआ।

3 समीक्षा–नई कहानी की भूमिका,नई कहानी के बाद, मेरा पन्ना।

4 नाटक–अधूरी आवाज, चारूलता।

5 यात्रा संस्मरण–खंडित यात्राएं।

6 फिल्मी पटकथाएं–आंधी, मौसम, सौतन की बेटी,आकाश, रजनीगंधा,मिस्टर नटवर लाल,अमानुष आदि दर्जनों पटकथाएं लिखीं और टी वी सीरियल का निर्माण किया और प्रभुत यश पाया।कमलेश्वर अप्रतिम वक्ता थे और उनकी आवाज में अद्भुत का जादू एवं कशीश थी। 15 अगस्त और 26 जनवरी को लाल किले से होने वाले समारोहों का उन्होंने अनेक बार कमेंट्री की है। उनकी समग्र साहित्य साधना को मद्दे नजर रखते हुए भारत सरकार ने उन्हें 2005 में पद्म भूषण से नवाजा था। उनका आकस्मिक निधन लगभग 75 वर्ष की आयु में 27.1.2007 को हो गया।उनके निधन से साहित्य जगत की अपूरणीय क्षति हुई। 15 अक्टूबर 1961 को महाप्राण निराला के आकस्मिक निधन पर महाकवि डा शिव मंगल सिंह सुमन ने श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए जो पंक्तियाँ कहीं थी, आज मुझे कमलेश्वर जी के नहीं रहने पर सहसा याद आ रही हैंरू–

तुम जीवित थे तो सुनने का जी करता था,
तुम चले गए तो गुनने का जी करता है।
तुम सहमे थे तो सिमटी सिमटी सांसें थीं,
तुम बिखर गये तो चुनने का जी करता है।

कमलेश्वर ने उपन्यासों के मुकाबले कहानियाँ कम लिखीं, लेकिन उपन्यासों की तुलना में कहानियों में इनका अदम्य विश्वास है।वास्तव में उन्होंने हिंदी कहानी साहित्य को उस समय एक नई दिशा एवं दशा प्रदान की जब हमारे भारत का समाज पारंपरिक अंधविश्वास पर आधारित मान्यताओं और वैज्ञानिक और तार्किक आधुनिकता के द्वंद से गुजर रहा था। असल में कमलेश्वर की नयी कहानियों में नये तरह का स्त्री बोध है। उनकी कहानियों में स्त्री केवल एक पात्र मात्र नहीं है, बल्कि वह अपने समय में बदलते हुए सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों तथा टूटते और बिखरते हुए मध्यवर्गीय सोच में पारिवारिक ढांचों और आर्थिक संघर्षों के बीच संघर्षरत रहकर संतुलन बनाती हुई अपनी पहचान तलाशती हुई एक जीवंत इकाई है। वास्तव में स्त्री अस्मिता का प्रश्न उनकी नयी कहानियों में ठोस रूप में जैविक या दैहिक धरातल से ऊपर उठकर अपने तथ्य गत आधार पर सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक और अस्तित्ववादी धरातल पर उभरता है। इस तरह यहां पर कमलेश्वर के कहानी संसार में स्त्री विमर्श के विभिन्न पहलुओं और उसके आयामों को रेखांकित करना आवश्यक है और यह भी सोच समझ के साथ विवेचन और विश्लेषण करना आवश्यक है कि उन्होंने किस प्रकार स्त्री के अंतर्मन के अन्तर्द्वद और उनके बाह्य जगत के संघर्षों को शब्दबद्ध किए हैं। वास्तव में आजादी के बाद उस समय की परिस्थिति के सामाजिक और ऐतिहासिक विकास के परिप्रेक्ष्य में विचार करें तो देखते हैं कि उस समय भारतीय संविधान कार्यान्वित होने के उपरांत कमजोर वर्गों और स्त्रियों में चेतना का उदय हो रहा था। वस्तुतः स्वतंत्रता की प्राप्ति के पश्चात् हमारे भारतीय समाज में जिस मोहभंग की स्थिति के वातावरण का निर्माण हुआ था, उसका सीधा प्रभाव हमारे तत्कालीन साहित्य पर पड़ रहा था। इसलिए कमलेश्वर जी ने अपनी जीवंत लेखनी के माध्यम से उस भयावह यथार्थवादी सच को उजागर किया है। जहां पर भारतीय समाज की स्त्रियां पितृसत्तात्मक पुरुष प्रधान समाज व्यवस्था की कठपुतली बनने से इनकार करने लगी थी। इसीलिए कमलेश्वर जी की कहानियों में स्त्री अस्मिता का विकास क्रमिक रूप से होता हुआ दिखाई देता है। एतदर्थ एक ओर शुरुआती दौर में जहां पर वे पारिवारिक और सामाजिक मर्यादाओं में सिमटी हुई दिखाई देती हैं, वहीं पर दूसरी ओर बाद की कहानियों में वे अपनी देह, मन एवं सोच विचार और सामाजिक जिम्मेदारी एवं अपनी भूमिका के प्रति अत्यंत सचेत नजर आती हैं। इसी दौर की राजा निरबंसिया जैसी बहुचर्चित और कालजयी कहानी इसका जीवंत उदाहरण है, जहां पर चंदा जैसी स्त्री पात्र का चरित्र ब्राह्मणवादी पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था की पारंपरिक नैतिकता और विवशता के बीच पिसती हुई आजीवन

संघर्षरत रहकर स्त्री की त्रासदी को अभिव्यक्त करता है।

इस तरह कमलेश्वर जी की कहानियों में स्त्री अस्मिता और विमर्श के विविध आयाम दिखाई पड़ते हैं। वास्तविक रूप में कमलेश्वर जी ने स्त्री पात्र को पुरुष पात्र की छाया के रूप में देखने के बजाय एक स्वतंत्र व्यक्तित्व के रूप में स्थापित और प्रतिष्ठित करने का अनोखा प्रयास किया है। उनकी कहानियों में स्त्री पात्र के कई रूप सामने आते हैं। इस तरह अगर आर्थिक स्वावलंबन और अस्मिता हिसाब से विचार किया जाय तो नई कहानी के दौर तक आते–आते शहरी मध्यवर्गीय परिवारों की स्त्रियों ने घर की दहलीज को लांघकर स्कूल, कालेज और दफ्तरों तक पहुँची थीं। उनकी शदिल्ली में एक मौतश और श्खोई हई दिशाएंश जैसी कहानियों में महानगरीय जन जीवन की यांत्रिकता के बीच स्त्री जीवन के संघर्ष की स्थिति का त्रासद चित्रण है। यहां पर स्त्री केवल उपभोग और उपयोग की वस्तु नहीं है, बल्कि वह सामाजिक और आर्थिक रूप से परिवार को सहारा देने वाली महत्वपूर्ण धुरी है। किंतु यहां पर विडंबना यह है कि आर्थिक स्वतंत्रता मिल जाने के बावजूद वह मानसिक और भावनात्मक रूप से ब्राह्मणवादी पितृसतात्मक समाज व्यवस्था के पुराने ढांचों से पूरी तरह मुक्त होकर बाहर नहीं हो पाई है। महान साहित्यकार कमलेश्वर जी ने स्त्री जीवन के इस अंतर्द्वंद को अत्यंत बारीकी से पकड़ कर चित्रित किया है।

इसी तरह देह की राजनीति और स्त्रियों की गरिमा पर विचार किया जाये तो वास्तव में आधुनिक स्त्री विमर्श में देह एक महत्वपूर्ण केंद्र बिंदु रहा है। कमलेश्वर जी ने अपनी कहानियों में स्त्री की देह को वासना के विकल चश्मे से न देखकर उसे एक मनुष्य की गरिमा और मर्यादा के साथ जोड़ा है। श्मांस का दरियाश जैसी प्रसिद्ध कहानियों में उन्होंने उन दुखद विवशताओं का बहुत ही गंभीर और मार्मिक चित्रण किया है, जहां पर इस देश की आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियां स्त्री को अपनी देह के साथ बेबस और मजबूर होकर समझौते करने पर मजबूर करती हैं, लेकिन उनके भीतर की कोमलता, नैतिकता और मनुष्यता फिर भी जीवित और सचेत रहती है। यहां पर कहानीकार ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि वास्तव में हमारा समाज जिस देह को अपवित्र और अनैतिक घोषित करता है, उसकी मूल और असली अपराधी तो वह स्त्री नहीं है, बल्कि असली अपराधी तो वे मनुवादी वर्चस्ववादी पितृसत्तात्मक सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियां हैं, जो उसे उस मोड़ पर लाकर खड़ा करती हैं। जिसके कारण विवश और लाचार होकर स्त्रियों को अपनी देह का भी सौदा करने पर मजबूर होना पड़ता है।

कहानीकार कमलेश्वर की कहानियों में निरंतर पुरानी परंपरा और आधुनिकता का अंतर्द्वंद चलता रहता है। इस तरह कमलेश्वर जी की कहानियों की स्त्रियां अक्सर पुरानी पितृसत्तात्मक सामाजिक परंपरा और आधुनिक वैचारिक भाव बोध के दो पाटों के बीच पिसती हुई दिखाई देती हैं। एक ओर उन पर पारंपरिक जीवन मूल्य जनित पारिवारिक और कुल की मर्यादा का बोझ है, तो दूसरी ओर विज्ञान और तकनीकि जनित उत्पादित पदार्थों का आकर्षण और व्यक्तिगत सुख तथा आकांक्षाओं की पुकार है। यहां पर श्राजा निरबंसियाश नामक बहुचर्चित कहानी में चंदा का आत्मोसर्ग और उसकी अंतहीन प्रतीक्षा का सिलसिला इसी अंतर्द्वंद की परिणति है। इस तरह यहां पर जगपति का चंदा पर संदेह करना और चंदा की विवशता और लाचारी यह सिद्ध करती है कि मनुवादी वर्चस्ववादी पितृसतात्मक समाज व्यवस्था में स्त्री की पवित्रता की कसौटी कितनी क्रूर और एक तरफा है। एतदर्थ कमलेश्वर इसके माध्यम से यहां पर यह प्रश्न उठाते हैं कि क्या स्त्री की अस्मिता और अहमियत केवल उसकी देह एवं योनि की शुचिता तक ही सीमित है?

इसी तरह महानगरीय जनजीवन और उसके एकाकीपन के नजरिए से विचार करते हैं तो देखते हैं कि जैसे–जैसे समाज शहरीकरण की ओर आगे बढ़ा है वैसे वैसे ही मानवीय संवेदनाओं और आपसी रिश्तों में बिखराव आता गया है। इसी तरह कमलेश्वर जी की कहानियों में कामकाजी स्त्रियां अक्सर गहरे अकेलेपन का शिकार होकर अलग थलग तथा एकाकी जीवन जीने को विवश और मजबूर हैं। इसी तरह श्खोई हुई दिशाएं श कहानी की चंदा हो या अन्य स्त्री पात्र गण वे सभी भीड़ में भी खुद को अकेला और निरीह पाते हैं। वास्तव में यह एकाकीपन और अलग थलग जीवन यापन केवल भौतिक संकट ही नहीं है, बल्कि यह उनकी अस्मिता और पहचान का संकट है। वस्तुतः महानगरों में स्त्री को जो आजादी मिली है, उसने उसे सुरक्षा का बोध और समुचित माहौल नहीं दिया है, बल्कि उसे एक नए प्रकार के शोषण के करीब ले आई है।

इसी तरह स्त्रियों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण और कथा शिल्प की दृष्टि से विचार किया जाये, तो हम देखते हैं कि कमलेश्वर के कथा साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे स्त्री के प्रति सहानुभूति तो रखते हैं, किंतु उसे कभी भी दया का पात्र नहीं बनाते हैं। उनके संवादों और वर्णनों में भी एक प्रकार की तटस्थता दिखाई पड़ती है, जो पाठक को स्वयं ही निर्णय लेने के लिए प्रेरित और प्रोत्साहित करती है। उनकी भाषा में एक प्रकार की आंतरिक लय है,जो स्त्री के मौन और उनकी चुप्पी को भी मुखरता प्रदान कर संवाद में बदल देती है। वे प्रतीकों के माध्यम से स्त्री मन की अतल गहराइयों में उतरकर उसको टटोल कर परखते हैं और तब रचनाओं में ढालते हैं।

समाज की विसंगति और समय को समझने वाली कहानियाँ हैंरू–खोई हुई दिशाएं, बयान, शर्ते, लडाई, जोखिम,

जार्ज पंचम की नाक, लाश, मानसरोवर के हंस, सांप, इतने अच्छे दिन। इन सभी कहानियों में पूंजीवादी व्यवस्था से टकराहट तथा इसके अंतर्गत सामाजिक आर्थिक दबाओं को चित्रित किया गया है।

कमलेश्वर ने अपनी कहानियों में स्थितियों एवं क्रूर यथार्थ के प्रति अपने रूख का स्पष्ट चित्रण किया है।उन्होंने देखा है कि आम आदमी व्यवस्था का अंग बनने को मजबूर कर दिया जाता है, लेकिन वही आम आदमी उस मजबूरी को तोडने के लिए सक्रिय और प्रतिबद्ध है। उनका मानना है कि स्वतंत्रता के बाद पूंजीवाद लगातार इस देश में मजबूत होता जा रहा है। कमलेश्वर को वैचारिक संघर्ष मानो प्रेमचंद से विरासत में मिला था। उन्हें प्रेमचंद की ही तरह पैदाइशी किस्सागो कहा गया। कमलेश्वर ने कहानी को सह चिंतन का माध्यम बनाया। इसे सौंदर्यवादी, साहित्यशास्त्रीय और आध्यात्मिक अवधारणाओं से मुक्त करने का प्रयत्न किया। उनकी मान्यता थी कि कलाओं का विकास समाज और सामाजिक संबंधों से होता है। कमलेश्वर की कहानियाँ सामान्य आदमी की यातनापूर्ण जिंदगी को चेतना के स्तर पर नये आदमी से जोडती हैं, उस नये आदमी से, जो संपूर्ण पूंजीवादी ढांचें के खिलाफ संघर्ष करता है।

इसी तरह यदि हम सामाजिक संरचना और पुरुष सत्तात्मक वर्चस्व पर विचार करते हैं तो देखते हैं कि स्त्री अस्मिता की खोज में कमलेश्वर जी ने मनुवादी ब्राह्मणवादी पितृसतात्मक समाज व्यवस्था के पुरुष सत्तात्मक ढांचे पर गहरा और तीखा प्रहार किया है। उनकी कहानियों के पुरुष पात्र अक्सर अपनी असुरक्षाओं को भी स्त्री पात्रों पर थोपते हुए नजर आते हैं। जब स्त्री अपनी स्वतंत्र पहचान बनाने की कोशिश करती है, तो पुरुष का अहंकार उसे दबाने का निरंतर प्रयास करता है। इसी प्रकार कमलेश्वर ने यहां पर यह दिखाने का प्रयास किया है कि स्त्री का संघर्ष केवल घर के भीतर ही नहीं है, बल्कि उस पूरी मनुवादी ब्राह्मणवादी पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था के खिलाफ है जो उसे दूसरे दर्जे का नागरिक मानती है।

एतदर्थ निष्कर्ष के बतौर हम कह सकते हैं कि कमलेश्वर जी की कहानियों का समग्रतः विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि उन्होंने अपनी कहानियों में स्त्री अस्मिता और विमर्श को वास्तव में केवल एक फैशन या आंदोलन के रूप में नहीं अपनाया है, बल्कि उसे उन्होंने मानव नियति के एक व्यावहारिक और अनिवार्य हिस्से के रूप में देखा है। वस्तुतः उनकी कहानियों में स्त्री अस्मिता केवल स्त्री अधिकारों की मांग मात्र नहीं है, बल्कि वह उससे बहुत आगे बढ़कर गरिमापूर्ण जीवन जीने की एक गहरी छटपटाहट भी है। जैसे चंदा, विमला और उनकी अन्य अनेक स्त्री पात्र आज भी प्रासंगिक और प्रेरक हैं, क्योंकि समाज में स्त्री की स्थिति थोड़ी बहुत बदली तो है, किंतु उसकी अपनी आंतरिक चुनौतियां और अस्मिता एवं अस्तित्व के विमर्श का प्रश्न अभी भी पूरी तरह सुलझ नहीं पाया है। अतः कमलेश्वर जी ने स्त्री को उसकी संपूर्णता में देखा और परखा है, उनकी समस्त कमजोरियों के साथ और उसकी अपार, संभावित शक्तियों के साथ भी। अस्तु उपर्युक्त विवेचन एवं विश्लेषण के प्रकाश में यह कहा जा सकता है कि कमलेश्वर की कहानियां भारतीय समाज की स्त्री के अंतर्मन का वह पारदर्शी दर्पण हैं, जिसमें वह अपनी खोई हुई अस्मिता और अस्तित्व को तलाशती हुई नजर आती हैं।

संदर्भ सूचीः–

1 कमलेश्वर, प्रतिनिधि कहानियां, राजकमल प्रकाशन, प्रा लि. नई दिल्ली–1980

2 नामवर सिंह, कहानीः नयी कहानी, लोकभारती, प्रकाशन, इलाहाबाद–1985

3 मार्कडेय, कहानी की बात, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद–1970

4 मप्रेश, हिंदी कहानी का विकास, साहित्य भंडार, इलाहाबाद–1960

5 मैत्रेयी पुष्पा, खुली खिड़कियां स्त्री विमर्श, राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली–1990

6 डॉ. नगेंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, मयूरपेपरबैक्स, नयी दिल्ली –1982

7 देवीशंकर अवस्थी, न ई कहानी संदर्भ और प्रकृति, राजकमल प्रकाशन न ई दिल्ली–1985

8 डा गोपाल राय, हिंदी कहानी का इतिहास–भाग 1 एवं 2, राज कमल प्रकाशन, प्रा लि नयी दिल्ली –1980

9 डॉ0 जंग बहादुर पाण्डेय ,संपादक–कथा कुंज,राजकमल प्रकाशन, 1 बी नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली –2019, 110002

डॉ अनिल कुमार अनल

(एम ए हिन्दी, नेट, पीएच.डी.)

हिंदी शिक्षक 10+2,उत्क्रमित उच्च माध्यमिक विद्यालय, तरैया,बेलहर

बांका। 813202

चलभाष–7549300104

45

महादेवी की वेदना लौकिक अथवा आध्यात्मिक?

साक्षी कुमारी

सारांश

छायावादी कवियों में महादेवी वर्मा का विशिष्ट स्थान और महत्व है। केवल इसलिए नहीं; कि वे एक नारी हैं, वरन् इसलिए कि उस युग की, रहस्यवादी प्रवृत्तियों का सर्वोत्कृष्ट उन्मेष, महादेवी की कविताओं में दृष्टिगोचर होता है। यह उल्लेखनीय है कि आचार्य राम चन्द्र शुक्ल ने छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया था –एक काव्य शैली या पद्धति विशेष के अर्थ में और दूसरा रहस्यवाद के अर्थ में। बाद में रहस्यभावापन्न काव्य प्रवृत्ति से युक्त कविता को, छायावाद से अलग मानकर, उसे रहस्यवाद की संज्ञा से अभिहित किया गया, जिसकी मुख्य विशेषता ससीम का असीम से मिलने की तड़पन और पिपासा है।

यह रहस्यवाद विशुद्ध भावनात्मक होने के कारण मध्यकालीन रहस्यवाद से भिन्न कोटि का है। इसमें मध्ययुगीन अंधविश्वासों का स्थान जिज्ञासापूर्ण विवेक ने ले लिया है और कवि हृदय वाह्य प्रकृति के भीतर छिपे हुए उस अलौकिक सत्ता को देखने और उससे तादात्म्य स्थापित करने के लिए व्याकुल हो उठा है। आधुनिक रहस्यवाद के प्रवर्तक कवि कुल गुरु रवीन्द्र नाथ ठाकुर हैं और इस प्रवृत्ति की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति गीतांजलि में हुई है। जब गीतांजलि पर श्नोवेलश पुरस्कार मिला, तो हिन्दी साहित्य में रहस्यवाद की गूंज सुनाई पड़ने लगी और प्रायः सभी छायावादी कवियों में उस विराट, अनन्त और अज्ञेय सत्ता के प्रति कौतुहल, औत्सुक्य और आकर्षण का भाव जाग्रत हुआ । यहाँ तक कि परम्परावादी और सगुणवादी कवि मैथिलीशरण गुप्त को भी प्रकृति में रहस्यपूर्ण झंकार सुनाई पड़ने लगी। डॉ० नामवर सिंह ने कहा है कि ष्कवि पंत की बात में जिज्ञासा में नवीन हृदय के प्रति जो विस्मय, कौतुहल का भाव दिखाई पड़ता है, वह भी उसी जिज्ञासा का दूसरा पहलू है, जिसमें नक्षत्रों के माध्यम से न जाने कौन कवि हृदय को नीरव निमंत्रण देता है ।

महादेवी वर्मा की प्रारंभिक कविताओं में भी जिज्ञासा और विस्मय का यही भाव मिलता है। वे कहती हैं–

तब चमक जो लोचनों को मूदता,
तड़ित की मुस्कान में वह कौन है?
सुरभि वन जो थपकियाँ देता मुझे,
नींद के उच्छ्वास सा वह कौन है?

लेकिन, महादेती वर्मा यहीं रूक नहीं जाती हैं, वरन् असीम को जानने की जिज्ञासा प्रेम में परिणत हो जाती है; क्योंकि वे वेदान्त के इस सिद्धान्त को मानती हैं कि ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है ष्ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या ।ष् उनका विश्वास है कि आत्मा परमात्मा से बिछुड़कर इस शरीर में बंदिनी हो जाती है, इसलिए मनुष्य मात्र का परम लक्ष्य है––परमात्मा से मिलन । जाग्रत आत्मा उस परम पुरुष से मिलने के लिए तड़पती रहती है, उसकी दशा विरहिनी नायिका की तरह होती है । महादेवी कहती हैंरू–

जन्म से जिसको हुआ वियोग,
तुम्हारा ही तो हूँ उच्छ्वास।
चुरा लाया जो विश्व समीर,
वही पीड़ा की पहली सांस।

यह पीड़ा ही, प्रियतम से मिलाने वाला तत्व है और यही सच्चे प्रेम की पहचान भी है। जिस तरह मीरा किशोरावस्था से ही कृष्ण की उपासिका बनीं और लौकिक पति को पति मानने से इनकार कर दिया, उसी तरह महादेवी ने सांसारिक संबंधों को तिलांजलि देकर अज्ञात प्रिय के चरणों में अपना सब कुछ न्योछावर कर दिया है और जीवन पर्यन्त उसी असीम से मिलने के लिए तड़पती रहती हैं। इसीलिए उन्होंने अपने को श्नीर भरी दुःख की बदलीश कहा है और अपनी तुलना श्सांध्य गगन श से की है। उनका व्यक्तित्व दिव्य प्रेम से ओत–प्रोत है, वे विरह के सरोवर में खिले हुए कमल के समान शुद्ध और पवित्र हैं। वेदना में उनका जन्म हुआ है, वेदना में ही वे अहर्निश निमग्न रहती हैं और वे दिन–रात आँसू बहाती रहती हैरू–

विरह का जलजात जीवन, विरह का जलजात
वेदना में जन्म, करुणा में मिला आवास।
अश्रु चुनता दिवस इसका अश्रु गिनती रात।
जीवन विरह का जलजात।

विरह वेदना का आधिक्य आत्मविस्मृत प्रेम का सूचक है, क्योंकि विश्व में आध्यात्मिक प्रेम के जितने चित्रण हुए हैं, उनमें विरह की ही प्रमुखता है, चाहे वह सूर की राधा और गोपियाँ हों या चण्डीदास के मिलन के चित्र अधिकांशतरू जयदेव और विद्यापति की रचनाओं में मिलते हैं, जिनमें भौतिक प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है। नीहार, रश्मि, नीरजा, सांध्यगीत, (चारों का एकत्र संकलन–यामा)संधिनी और दीपशिखा में महादेवी का आध्यात्मिक विरह विभिन्न रूपों में प्रकट हुआ है। जब वे नवोड़ा थीं, जब उनकी पलकें लज्जानत थीं, तभी अज्ञात प्रियतम ने अपने कटाक्ष से, उनके हृदय को बेध दिया था और तभी से महादेवी घायल हिरनी के समान भटक रही हैं, पीड़ा के उस साम्राज्य को अपने दुर्बल कंधों पर ढो रही हैंरू–

इन ललचायी पलकों पर, पहरा जब था ब्रीड़ा का।
साम्राज्य मुझे दे डाला, उस चितवन ने पीड़ा का।

महादेवी ने अपने अज्ञात प्रेमी की बड़ी कोमल कल्पना की है। जिसके लिए उतने आँसुओं के अर्घ्य अर्पित किये हैं। वे कहती हैं–
मैं कण–कण में ढाल रही अलि,
आँसू के मिस प्यार किसी का।
मैं पलकों में पाल रही हूँ, यह सपना सुकुमार किसी का।

मीरा, राधा और गोपियों की तरह महोदवी के हृदय में प्रियतम से मिलन की उत्कट प्यास है। काश, वे एक क्षण के लिए भी मिल पाते तो वे अपने चिर–जीवन की सारी प्यास बुझा लेतीं। इसके लिए वे कभी उमंग में आकर प्रकृति से अपना श्रृंगार करने को कहती हैं, रजनीगंधा के पराग से अपने शिथिल चरण को रंजित करना चाहती हैं और कहती हैं कि हे सखि! जूही की मीलित कलियों से मेरी छवि संवार दे । कभी वे व्याकुल होकर स्वयं अपना श्रृंगार करने लगती हैं। वे शशि के दर्पण में अपने तिमिर केश सुलझाती हैं और तारों के पारिजात से अपने को सजाती हैं, लेकिन उनका अभिनव और अलौकिक श्रृंगार भी प्रियतम को रीझा नहीं पाता । कभी वे कहती हैं कि उनके प्रियतम एकांत की नीरवता और शांत वातावरण में आना चाहते हैं। वे प्रार्थना करती हैं–

करुणामय को भाता है–तम के परदों में आना।
हे नभ के दीपावलियों! तुम पल को बुझ जाना।– नीहार

लेकिन इतना कुछ करने पर भी जब प्रियतम से महादेवी का मिलन नहीं हो पाता है, तो निराश होकर कहती हैं–

मिलन का मत नाम लो, मैं विरह में चिर हूँ।

महादेवी ने स्पष्टतः अपने प्रियतम को चिरन्तन और अलौकिक कहा हैरू–

प्रिय चिरन्तन है सजनि, क्षण क्षण नवीन सुहागिनी मैं।

उनकी कविताओं में अनेक स्थलों पर प्रियतम से उनके अभेदत्व का भान हुआ है, जो आत्मा और ब्रह्म के मिलन का सूचक है। वे अपने प्रियतम को संबोधित कर कहती हैंरू–

तुम मुझमें प्रिय, फिर परिचय क्या?
मैं तुम से हूँ एक, एक है –जैसे रश्मि प्रकाश।

उन्होंने अपने निबंधों में, अपने रहस्यवादी गीतों को स्पष्ट करते हुए कहा है कि उनके गीतों ने पराविद्या की अपार्थिकता ली, वेदांत के अद्वैत की छाया मात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य भावसूत्र में बांधकर एक निराले स्नेह संबंध की सृष्टि कर डाला।

इससे यह प्रतीत होता है कि महादेवी की वेदना आध्यात्मिक तो है, पर वह कबीर आदि मध्यकालीन संतों की तरह प्रगाढ़ और साधन प्रसूत नहीं है। इसमें भी संदेह है कि महादेवी ने उस परमसत्ता का साक्षात्कार किया भी है या नहीं। डा विनय मोहन शर्मा ने ठीक ही कहा है कि –ृ इसमें संदेह नहीं कि महादेवी में निगुर्ण संतों की वाणी का स्वर ध्वनित होता है, पर उस ध्वनि में उनकी जीवन साधना की अनुभूति का कितना अंश है, यह स्पष्ट नहीं हो पाता। वस्तुतः महादेवी में ब्रह्म की साक्षात् अनुभूति का अंश बहुत कम है। जो भी है, उसका आधार भावनात्मक और काल्पनिक है। फिर आज के वैज्ञानिक युग का वातावरण भी इतना अनास्थापूर्ण है कि आध्यात्मिक आस्था जम नहीं पाती है। यही कारण है कि जहाँ कबीरर अपने अन्तिम दिनों में ब्रह्म से एकाकार स्थापित करते हुए दिखाई पड़ते हैं, वहाँ दीपशिखा के बाद महादेवी का प्रणय निवेदन और विरह जन्य पीडा क्षीणतर होता हुआ मौन हो जाता है।ृ

निष्कर्ष यह कि महादेवी की विरह वेदना लौकिक नही आध्यात्मिक है, पर वह कल्पना प्रसूत और बौद्धिक है। लेकिन उनकी प्रेम पिपासा और विरह वेदना गहरी, तीव्र और सच्ची है। अज्ञात प्रिय के प्रति उनका समपर्ण भी निष्काम और अहेतुकी है। उनकी विरह वेदना पर लौकिकता का आरोप करना कदापि युक्ति संगत नहीं। इन आक्षेपों से चिढ़कर महादेवी का शुभ और पुनीत अन्तस्तल चीत्कार कर उठता हैरू–

जो न पिय पहचान पाती।
दौड़ती क्यों प्रति शिरा में, प्यास विद्युत सी तरल वन।
क्यों अचेतन रोम पाते, चिर व्यथामय सजग जीवन।
किसलिए हर सांस तम में,
सजल दीपक राग गाती।

छायावादी कवियों में महादेवी वर्मा का विशिष्ट स्थान और महत्व है। केवल इसलिए नहीं; कि वे एक नारी हैं, वरन् इसलिए कि उस युग की, रहस्यवादी प्रवृत्तियों का सर्वोत्कृष्ट उन्मेष, महादेवी की कविताओं में दृष्टिगोचर होता है। यह उल्लेखनीय है कि आचार्य राम चन्द्र शुक्ल ने छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया था

–एक काव्य शैली या पद्धति विशेष के अर्थ में और दूसरा रहस्यवाद के अर्थ में। बाद में रहस्यभावापन्न काव्य प्रवृत्ति से युक्त कविता को, छायावाद से अलग मानकर, उसे रहस्यवाद की संज्ञा से अभिहित किया गया, जिसकी मुख्य विशेषता ससीम का असीम से मिलने की तड़पन और पिपासा है।

यह रहस्यवाद विशुद्ध भावनात्मक होने के कारण मध्यकालीन रहस्यवाद से भिन्न कोटि का है। इसमें मध्ययुगीन अंधविश्वासों का स्थान जिज्ञासापूर्ण विवेक ने ले लिया है और कवि हृदय वाह्य प्रकृति के भीतर छिपे हुए उस अलौकिक सत्ता को देखने और उससे तादात्म्य स्थापित करने के लिए व्याकुल हो उठा है। आधुनिक रहस्यवाद के प्रवर्तक कवि कुल गुरु रवीन्द्र नाथ ठाकुर हैं और इस प्रवृत्ति की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति गीतांजलि में हुई है। जब गीतांजलि पर श्नोवेलश पुरस्कार मिला, तो हिन्दी साहित्य में रहस्यवाद की गूंज सुनाई पड़ने लगी और प्रायः सभी छायावादी कवियों में उस विराट, अनन्त और अज्ञेय सत्ता के प्रति कौतुहल, औत्सुक्य और आकर्षण का भाव जाग्रत हुआ । यहाँ तक कि परम्परावादी और सगुणवादी कवि मैथिलीशरण गुप्त को भी प्रकृति में रहस्यपूर्ण झंकार सुनाई पड़ने लगी। डॉ० नामवर सिंह ने कहा है कि ष्कवि पंत की बात में जिज्ञासा में नवीन हृदय के प्रति जो विस्मय, कौतुहल का भाव दिखाई पड़ता है, वह भी उसी जिज्ञासा का दूसरा पहलू है, जिसमें नक्षत्रों के माध्यम से न जाने कौन कवि हृदय को नीरव निमंत्रण देता है ।

महादेवी वर्मा की प्रारंभिक कविताओं में भी जिज्ञासा और विस्मय का यही भाव मिलता है। वे कहती हैं–

तब चमक जो लोचनों को मूदता,
तड़ित की मुस्कान में वह कौन है?
सुरभि वन जो थपकियाँ देता मुझे,
नींद के उच्छ्वास सा वह कौन है?

लेकिन, महादेती वर्मा यहीं रूक नहीं जाती हैं, वरन् असीम को जानने की जिज्ञासा प्रेम में परिणत हो जाती है; क्योंकि वे वेदान्त के इस सिद्धान्त को मानती हैं कि ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है ष्ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या ।ष उनका विश्वास है कि आत्मा परमात्मा से बिछुड़कर इस शरीर में बंदिनी हो जाती है, इसलिए मनुष्य मात्र का परम लक्ष्य है––परमात्मा से मिलन । जाग्रत आत्मा उस परम पुरुष से मिलने के लिए तड़पती रहती है, उसकी दशा विरहिनी नायिका की तरह होती है । महादेवी कहती हैंरू–

जन्म से जिसको हुआ वियोग,
तुम्हारा ही तो हूँ उच्छ्वास।
चुरा लाया जो विश्व समीर,
वही पीड़ा की पहली सांस।

यह पीड़ा ही, प्रियतम से मिलाने वाला तत्व है और यही सच्चे प्रेम की पहचान भी है। जिस तरह मीरा किशोरावस्था से ही कृष्ण की उपासिका बनीं और लौकिक पति को पति मानने से इनकार कर दिया, उसी तरह महादेवी ने सांसारिक संबंधों को तिलांजलि देकर अज्ञात प्रिय के चरणों में अपना सब कुछ न्योछावर कर दिया है और जीवन पर्यन्त उसी असीम से मिलने के लिए तड़पती रहती हैं। इसीलिए उन्होंने अपने को श्नीर भरी दुःख की बदलीश कहा है और अपनी तुलना श्सांध्य गगन श से की है। उनका व्यक्तित्व दिव्य प्रेम से ओत–प्रोत है, वे विरह के सरोवर में खिले हुए कमल के समान शुद्ध और पवित्र हैं। वेदना में उनका जन्म हुआ है, वेदना में ही वे अहर्निश निमग्न रहती हैं और वे दिन–रात आँसू बहाती रहती हैरू–

विरह का जलजात जीवन, विरह का जलजात
वेदना में जन्म, करुणा में मिला आवास।
अश्रु चुनता दिवस इसका अश्रु गिनती रात।
जीवन विरह का जलजात।

विरह वेदना का आधिक्य आत्मविस्मृत प्रेम का सूचक है, क्योंकि विश्व में आध्यात्मिक प्रेम के जितने चित्रण हुए हैं, उनमें विरह की ही प्रमुखता है, चाहे वह सूर की राधा और गोपियाँ हों या चण्डीदास के मिलन के चित्र अधिकांशतरू जयदेव और विद्यापति की रचनाओं में मिलते हैं, जिनमें भौतिक प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है। नीहार, रश्मि, नीरजा, सांध्यगीत, (चारों का एकत्र संकलन–यामा)संधिनी और दीपशिखा में महादेवी का आध्यात्मिक विरह विभिन्न रूपों में प्रकट हुआ है। जब वे नवोड़ा थीं, जब उनकी पलकें लज्जानत थीं, तभी अज्ञात प्रियतम ने अपने कटाक्ष से, उनके हृदय को बेध दिया था और तभी से महादेवी घायल हिरनी के समान भटक रही हैं, पीड़ा के उस साम्राज्य को अपने दुर्बल कंधों पर ढो रही हैंरू–

इन ललचायी पलकों पर, पहरा जब था ब्रीड़ा का।
साम्राज्य मुझे दे डाला, उस चितवन ने पीड़ा का।

महादेवी ने अपने अज्ञात प्रेमी की बड़ी कोमल कल्पना की है। जिसके लिए उतने आँसुओं के अर्घ्य अर्पित किये हैं। वे कहती हैं–
मैं कण–कण में ढाल रही अलि,
आँसू के मिस प्यार किसी का।
मैं पलकों में पाल रही हूँ, यह सपना सुकुमार किसी का।

मीरा, राधा और गोपियों की तरह महोदवी के हृदय में प्रियतम से मिलन की उत्कट प्यास है। काश, वे एक क्षण के लिए भी मिल पाते तो वे अपने चिर–जीवन की सारी प्यास बुझा लेतीं। इसके लिए वे कभी उमंग में आकर प्रकृति से अपना श्रृंगार करने को कहती हैं, रजनीगंधा के पराग से अपने शिथिल चरण को रंजित करना चाहती हैं और कहती हैं कि हे सखि! जूही की मीलित कलियों से मेरी छवि संवार दे । कभी वे व्याकुल होकर स्वयं अपना श्रृंगार करने लगती हैं। वे शशि के दर्पण में अपने तिमिर केश सुलझाती हैं और तारों के पारिजात से अपने को सजाती हैं, लेकिन उनका अभिनव और अलौकिक श्रृंगार भी प्रियतम को रीझा नहीं पाता । कभी वे कहती हैं कि उनके प्रियतम एकांत की नीरवता और शांत वातावरण में आना चाहते हैं। वे प्रार्थना करती हैं–

करुणामय को भाता है–तम के परदों में आना।
हे नभ के दीपावलियों! तुम पल को बुझ जाना।– नीहार

लेकिन इतना कुछ करने पर भी जब प्रियतम से महादेवी का मिलन नहीं हो पाता है, तो निराश होकर कहती हैं–

मिलन का मत नाम लो, मैं विरह में चिर हूँ।

महादेवी ने स्पष्टतः अपने प्रियतम को चिरन्तन और अलौकिक कहा हैरू–

प्रिय चिरन्तन है सजनि, क्षण क्षण नवीन सुहागिनी मैं।

उनकी कविताओं में अनेक स्थलों पर प्रियतम से उनके अभेदत्व का भान हुआ है, जो आत्मा और ब्रह्म के मिलन का सूचक है। वे अपने प्रियतम को संबोधित कर कहती हैंरू–

तुम मुझमें प्रिय, फिर परिचय क्या?
मैं तुम से हूँ एक, एक है –जैसे रश्मि प्रकाश।

उन्होंने अपने निबंधों में, अपने रहस्यवादी गीतों को स्पष्ट करते हुए कहा है कि उनके गीतों ने पराविद्या की अपार्थिकता ली, वेदांत के अद्वैत की छाया मात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य भावसूत्र में बांधकर एक निराले स्नेह संबंध की सृष्टि कर डाला।

इससे यह प्रतीत होता है कि महादेवी की वेदना आध्यात्मिक तो है, पर वह कबीर आदि मध्यकालीन संतों की तरह प्रगाढ़ और साधन प्रसूत नहीं है। इसमें भी संदेह है कि महादेवी ने उस परमसत्ता का साक्षात्कार किया भी है या नहीं। डा विनय मोहन शर्मा ने ठीक ही कहा है कि –[६] इसमें संदेह नहीं कि महादेवी में निगुर्ण संतों की वाणी का स्वर ध्वनित होता है, पर उस ध्वनि में उनकी जीवन साधना की अनुभूति का कितना अंश है, यह स्पष्ट नहीं हो पाता। वस्तुतः महादेवी में ब्रह्म की साक्षात् अनुभूति का अंश बहुत कम है। जो भी है, उसका आधार भावनात्मक और काल्पनिक है। फिर आज के वैज्ञानिक युग का वातावरण भी इतना अनास्थापूर्ण है कि आध्यात्मिक आस्था जम नहीं पाती है। यही कारण है कि जहाँ कबीरर अपने अन्तिम दिनों में ब्रह्म से एकाकार स्थापित करते हुए दिखाई पड़ते हैं, वहाँ दीपशिखा के बाद महादेवी का प्रणय निवेदन और विरह जन्य पीडा क्षीणतर होता हुआ मौन हो जाता है।[६]

निष्कर्ष यह कि महादेवी की विरह वेदना लौकिक नही आध्यात्मिक है, पर वह कल्पना प्रसूत और बौद्धिक है। लेकिन उनकी प्रेम पिपासा और विरह वेदना गहरी, तीव्र और सच्ची है। अज्ञात प्रिय के प्रति उनका समपर्ण भी निष्काम और अहेतुकी है। उनकी विरह वेदना पर लौकिकता का आरोप करना कदापि युक्ति संगत नहीं। इन आक्षेपों से चिढ़कर महादेवी का शुभ और पुनीत अन्तस्तल चीत्कार कर उठता हैरू–

जो न पिय पहचान पाती।
दौड़ती क्यों प्रति शिरा में, प्यास विद्युत सी तरल वन।
क्यों अचेतन रोम पाते, चिर व्यथामय सजग जीवन।
किसलिए हर सांस तम में,
सजल दीपक राग गाती।

साक्षी कुमारी
शोध छात्रा, हिंदी विभाग
नीलाबंर पीताम्बर विश्वविद्यालय,
मेदिनीनगर (पलामू)

46

पर्यावरण संरक्षण का ईश्वरीय संदेश है–सूर्योपापना का महापर्व छठ

सुमन एवं डॉ0 तारामणि पाण्डेय

सारांश

छठ सूर्योपासना का महाव्रत है। वर्ष में दो बार यह पर्व बडे धूम धाम से मनाया जाता है। एक बार कार्तिक में और दूसरा चौत में। हिन्दू मान्यता के अनुसार 33 कोटि देवता हैं लेकिन संसार में प्रत्यक्ष रूप से दो ही देवता हैं – चन्द्र और दिवाकर। इन दोनों की उपस्थिति से सारा संसार लाभान्वित है। सूर्य शक्ति के प्रतीक हैं तो चन्द्रमा शीतलता और शांति के। मानव जीवन में सफलता के लिए शांति और शक्ति दोनों ही अपेक्षित हैं।

हमारे जीवन में शक्ति के प्रतीक सूर्य को दो बार अर्घ्य दिया जाता है।एक शाम में अस्ताचलगामी सूर्य को और अगले दिन उदीयमान सूर्य को। यह मात्र कृतज्ञता नहीं है उस शक्ति के प्रति जो जीवन का सार है, जिसने जीवन दिया है,अपितु यह भारतीय संस्कृति का आचार, विचार और संस्कार है।उस सूर्य के प्रति शाम में अर्घ्य दिया जाता है जो भविष्य की आशा का प्रतीक बनकर सुबह नए सवेरा के साथ उगा, उसके प्रति हमारी अप्रतिम निष्ठा, विश्वास और श्रद्धा के साथ अर्घ्य देकर हम अपने जीवन को सात्विक रखने का संकल्प लेते हैं। इस महाव्रत में अत्यधिक सात्विकता है और लोग कठोरतम तरीके से उस अनुशासन का पालन करते हैं।

चार दिवसीम सूर्योपासना में व्रती के हर आचरण का संबंध प्रकृति एवं पर्यावरण से है। यह व्रत पूरी तरह से वैज्ञानिक महत्त्ववाला और प्रदूषण रहित है। लोक आस्था के कारण यह छठ पर्व जितना पवित्र है उससे कहीं अधिक विज्ञान ने उसे तार्किक और फलदायी बनाया है। छठ पर्व का महत्त्व इसलिए भी बढ़ जाता है कि पूजा के दौरान लोगों को भगवान के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। इस दर्शन के पीछे वैज्ञानिक कारण छिपे हैं। वास्तव में, प्रकृति की पूजा सदियों से होती चली आ रही है। । प्रथम दिन सेंधा – नमक, से कद्दू की सब्जी एवं दूध घी से बनी हुई अरवा चावल की खीर प्रसाद के रूप ग्रहण की जाती है।यानि कि बाजार में बनी नकली मिठाइयों से मुक्ति । प्राकृतिक स्रोतों से निकले सामान का प्रसाद प्रयोग करने से शरीर में आयोडीन की आपूर्ति होती है। दूसरे दिन उपवास रहने से शरीर के अंदर के टॉक्सिन बाहर निकलते हैं। तीसरे दिन शाम को पहला अर्घ्य तथा दूसरे दिन सुबह दूसरा अर्घ्य दिया जाता है। उस समय सूर्य की पराबैगनी किरणें भी चंद्रगा और पृथ्वी पर आ जाती हैं। पराबैगनी किरणों का उपयोग कर वायुमंडल अपने ऑक्सीजन तत्वों को संश्लेषित कर उसे उसके अलोट्रोप ओजोन में बदल देता है।इसके कारण पराबैगनी किरणों का अधिकांश भाग पृथ्त्री के वायुमंडल में ही अवशोषित हो जाता है। पृथ्वी की सतह पर केवल उसका नगण्य भाग ही पहुँच पाता है। उस गुनगुनी धूप से हानिकारक कीटाणु मर जाते हैं। इस समय विटामिन डी भी पर्याप्त मात्रा में सूर्य की किरणों से निकलता है। प्रसाद में प्रकृति से जुड़े सामान का ही प्रयोग करते हैं। यानि कि यह व्रत एक तरफ शरीर को स्वस्थ रखने तो दूसरी तरफ पर्यावरण संरक्षण का संदेश भी देता है।

छठ पर्व का भौगोलिक कारण भी है। यह पृथ्वी दो गोलार्द्धो में बेटी हुई है– उत्तरी एवं दक्षिणी। सूर्य छः माह उत्तरी गोलार्द्ध में और छः माह दक्षिणी गोलार्द्ध में विशेष रूप से रहते हैं। इसी को भौगोलिक शब्दावली में सूर्य का उत्तरायण एवं दक्षिणागन होना कहा जाता है। कार्तिक में सूर्य दक्षिणी गोलार्द्ध की ओर प्रस्थान करते हैं और चौत में उत्तरी गोलार्द्ध की ओर उनका आगमन होता है। अतः वर्ष में दो बार हम सूर्योपासना कर उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

छठ पर्व जरूरी है केवल धार्मिक अनुष्ठान के लिए नहीं अपितु–

1यह जरूरी है– हम आप सभी के लिए जो अपनी जड़ों से कट रहे हैं; उन बेटों के लिए जिनके घर आने का यह बहाना है।

2 यह जरूरी है– उस माँ के लिए जिन्हें अपनी संतान को देखे महीनों हो जाते हैं। उस परिवार के लिए जो टुकड़ों में बंट गया है।

3 यह जरूरी है– उस परंपरा को जिंदा रखने के लिए जो समानता की वकालत करता है। जो बताता है कि बिना पुरोहित भी पूजा हो सकती है।

4 यह जरूरी है– जो सिर्फ उगते सूर्य को ही नहीं, डूबते सूर्य को भी प्रणाम करना सिखाता है।

5 यह जरूरी है – गागर, नींबू, सूथनी, और सिंघाड़ा जैसे फलों को जिंदा रखने के लिए।

6 यह जरूरी है – सूप और दउरा बनाने वालों के लिए। यह बताने के लिए कि इस समाज में उनका भी महत्व है।

7 यह जरूरी है– उन दंभी पुरुषों के बिए जो नारी को कमजोर समझते हैं।

8 यह जरूरी है – बेहद जरूरी बिहार एवं पूर्वी उत्तर प्रदेश के योगदान और उनके सम्मान के लिए। सांस्कृतिक विरासत और आस्था को बनाए रखने के लिए। परिवार तथा समाज में एकता एवं एकरूपता के, लिएरू–

संयमित एवं संतुलित व्यवहार।
सुखमय जीवन का आधार ।
यही है सूर्योपासना का सात्विक मूलाधार॥
अंत में जगत के कल्याण लिए हमारी कामना है किरू–
सहत्र रश्मि युत प्रखर प्रभाकर।
यश आयुष आरोग दिलाए।
श्सूर्य षष्ठि शुभ मंगलमय हो,
श्सुख–सौभाग्यश सफलता लाए ।
इस मंत्र से हम सूर्य भगवान को अर्घ्य देते हैंरू–
ऐहि सूर्यो सहत्रांशों, तेजोराशि जगतपते।
अनुकम्पय माम् भक्त्या, गृहणार्घाय दिवाकरः।

सुमन एवं डॉ0 तारामणि पाण्डेय
द्वारा–डॉ0 जंग बहादुर पाण्डेय
पूर्व अध्यक्ष हिंदी विभाग
रांची विश्वविद्यालय, रांची
चलभाष–9431595318

47

Culture, People, Power and Sustainable Development in a Globalized Era

Professor Tapan Kumar Shandilya

Abstract

Sustainable development is often assessed through measurable indicators such as emissions, economic growth, resource efficiency and income, while its long-term success also depends on three equally important factors: culture, people and power. Culture gives communities the values, languages, knowledge and practices through which they understand nature, define a good life and organise stewardship. People-centred development, drawing on Amartya Sen's capability approach, treats communities as agents rather than beneficiaries and asks whether real freedoms—health, education, safety and voice—have expanded. Power decides whose knowledge is treated as expertise, whose land is used, who captures the gains and who carries the costs.

The evidence shows that culturally blind projects often fail even when technically sound; that participation without influence becomes consultation; and that sustainability interventions can reproduce inequality when they ignore distribution. Globalization intensifies these pressures through homogenised consumption, language loss, supply-chain shocks and a race to attract investment, but it also creates room for cooperation, digital solidarity and glocalization—the adaptation of global ideas to local values. Examples include community-owned renewable energy, community-based tourism, integration of traditional ecological knowledge into adaptation planning, and alternative progress measures such as Bhutan's Gross National Happiness.

The article concludes with eight principles for policy and practice: embed cultural assessment in project design; invest in local institutions; secure land, water, forest and knowledge rights; democratise decision-making; centre inclusion; measure what matters; reform global governance; and support cultural and linguistic diversity in the digital sphere. For researchers, the agenda is to test these propositions through comparative, participatory and longitudinal work; for practitioners, the test is whether programmes leave behind stronger local institutions and greater local voice. The overall argument is simple: sustainability is not only a technical and financial problem. It is a question of values, voice and fairness. Sustainable Development that is culturally grounded, people-centred and alert to power is more legitimate, more resilient and more likely to last.

Keywords: Sustainable Development; Culture; People-Centred Development; Power; Globalization; Glocalization; Participation; Inclusion; Capability Approach.

234

1. Introduction

The gap between sustainability on paper and sustainability on the ground is rarely technical. More often it is a failure of fit, participation and fairness. The Brundtland Report defined sustainable development as development that meets present needs without compromising the ability of future generations to meet their own (WCED, 1987). The 2030 Agenda and its 17 Sustainable Development Goals later turned that idea into a global framework adopted by all UN member states in 2015 (United Nations, 2015). Yet implementation remains uneven. The *Sustainable Development Report 2023* found that only about 18 per cent of SDG targets were on track, while 37 per cent showed stagnation or regression (Sachs et al., 2023). The World Bank estimated that the COVID-19 pandemic pushed roughly 97 million more people into extreme poverty, reversing years of progress (World Bank, 2023).

These failures are visible in everyday practice. Renewable energy projects, essential for climate mitigation, often meet local opposition despite their global benefits. Conservation areas are resented by the people who live in them and whose livelihoods depend on natural resources. Well-funded programmes collapse when external support ends, leaving behind buildings but little capacity. The causes are usually the same: a poor fit with local values and institutions, participation that is announced rather than practised, or a refusal to ask who gains and who loses from a given intervention.

Globalization makes these challenges more urgent. Capital, goods, information and people move across borders faster than the institutions meant to govern them. Foreign direct investment reached about $1.37 trillion in 2022

(UNCTAD, 2023), and around 5.3 billion people now use the internet (ITU, 2023). Communities everywhere face the same question: how much of the global to embrace, and how much of the local to protect. The answer is rarely found in abstract debate; it is negotiated in specific places, by specific people, under specific power relations.

Culture, people and power are not secondary "social factors" added to an essentially technical process. They are the conditions that decide whether development is accepted, owned and sustained. Culture supplies the values, knowledge and practices through which communities define well-being and manage ecosystems. People supply the knowledge, labour and creativity that carry development forward, and they must be its authors rather than its recipients. Power determines whose knowledge counts, whose land is used, who captures the benefits and who absorbs the costs.

These are not comfortable arguments. They challenge the tendency to treat sustainability as a matter of finance, technology and targets alone. They also challenge the assumption that participation is a box to be ticked and culture a decorative extra. The evidence assembled here suggests the opposite: where culture, people and power are taken seriously, development tends to be more legitimate, more resilient and more durable. Where they are ignored, projects may deliver outputs on schedule while quietly failing the people they were meant to serve. The discussion that follows is therefore less a technical manual than an argument about values, voice and fairness in a globalized era, and about what it would take to make sustainability last.

2. Culture as the Foundation of Sustainability

Culture is the set of values, beliefs, practices, languages and knowledge systems through which communities interpret the world. UNESCO defines culture as the distinctive spiritual, material, intellectual and emotional features of a society, including value systems, traditions and beliefs (UNESCO, 2001). Culture shapes how people understand nature—as resource, relative or sacred trust—how they define wealth and a good life, what obligations they feel to neighbours and future generations, and which institutions they trust. The same intervention can therefore be welcomed in one place and rejected in another. A water scheme that ignores traditional allocation rules, a housing programme that disregards kinship patterns, or a conservation plan that criminalizes customary forest use may be technically sound and still fail.

Traditional knowledge often sustains ecological resilience. Many communities have maintained ecosystems through rotational grazing, community-managed forests, sacred groves, traditional water harvesting, climate-adapted crop varieties and seasonal fishing restrictions. Elinor Ostrom's work showed that communities can and often do manage common-pool resources sustainably through locally developed rules, without either privatization or central control (Ostrom, 1990). Global policy increasingly recognizes this. The IPBES Global Assessment acknowledged that Indigenous peoples and local communities manage about 25 per cent of the world's land surface in ways that maintain or enhance biodiversity (IPBES, 2019). The Kunming-Montreal Global Biodiversity Framework emphasizes their rights and participation (CBD, 2022). Traditional knowledge is not a substitute for science, but a complementary source of long-term, place-specific understanding.

Culture remains weakly institutionalized in global policy. The 2030 Agenda has no standalone goal on culture, though culture appears in targets on education, sustainable tourism and heritage. UNESCO and many governments continue to press for culture to be recognized as a distinct dimension of sustainability. The 2022 MONDIACULT declaration called for culture to be treated as a global public good and included as a specific objective in future development agendas (UNESCO, 2022). The economic case is also significant: cultural and creative industries generated about $2.25 trillion in revenue and employed around 30 million people globally in 2022 (UNESCO, 2023). Yet commodification can distort cultural practices and concentrate benefits among external operators.

Ignoring culture has costs. Projects that disrupt sacred sites or livelihoods provoke resistance and litigation. India's Narmada Dam project displaced hundreds of thousands of people and submerged temples and sacred sites, generating decades of resistance despite irrigation and electricity benefits (Dwivedi, 2006). Imposed governance models are often bypassed or

captured. Language loss is especially irreversible. The UN Permanent Forum on Indigenous Issues has warned that around 40 per cent of the world's 7,000 languages are endangered, with one disappearing roughly every two weeks (UNPFII, 2022). Each loss removes knowledge about ecosystems, medicines and sustainable practices accumulated over generations.

3. People at the Center

A people-centred approach treats communities as authors of their own development, not recipients of policy designed elsewhere. Amartya Sen's capability approach provides the foundation. Development is the expansion of real freedoms: to be healthy, educated, safe and heard, and to live lives people have reason to value. Income matters as a means, not an end (Sen, 1999). This changes how success is judged. A village with higher incomes but degraded water, weakened social ties and no voice in local decisions has not necessarily developed. UNDP's Human Development Index operationalizes part of this idea by combining health, education and income, while acknowledging that many capabilities remain unmeasured (UNDP, 2023).

Genuine participation goes beyond consultation after decisions are made. Affected communities should help define the problem, weigh options, and share in implementation, monitoring and benefit. Arnstein's ladder of participation distinguishes manipulation and consultation from partnership and citizen control (Arnstein, 1969). Most development programmes remain at the middle rungs while claiming genuine participation. India's Panchayati Raj experience shows both promise and difficulty. By 2023, India had about 260,000 local bodies with roughly 3.1 million elected representatives, of whom about 46 per cent were women (Ministry of Panchayati Raj, 2023). Participation works where institutions are resourced and inclusive; it weakens where local bodies are underfunded or dominated by powerful groups (Chattopadhyay and Duflo, 2004; Jayal, 2006). The principle of free, prior and informed consent, recognized in the UN Declaration on the Rights of Indigenous Peoples, treats consent as a right, not a formality (United Nations, 2007).

Inclusion is both fairness and effectiveness. Women, who often manage water, fuel, food and care, hold detailed local knowledge yet remain underrepresented in resource governance. UN Women reports that women hold about 17 per cent of ministerial positions and less than 25 per cent of parliamentary seats globally (UN Women, 2023). Youth face high unemployment: global youth unemployment was about 15.6 per cent in 2023, more than three times the adult rate (ILO, 2023). Informal workers make up about 61 per cent of the global workforce, and persons with disabilities—about 15 per cent of the population—face elevated poverty and participation barriers (ILO, 2023; WHO, 2023). Programmes designed without these groups tend to miss needs and waste capacities.

Demography adds urgency. Countries with large young populations, including India and much of South Asia and Africa, can gain a demographic dividend, but only if health, education, skills and decent work keep pace. India's median age is about 28 and roughly 65 per cent of its population is below 35 (UNFPA, 2023). South Asia needs around 15 million new jobs a year, yet about 90 per cent of employment remains informal (World Bank, 2022; ILO, 2023). Without opportunity, a youth bulge can become frustration and instability rather than growth. Renewable energy employed about 12.7 million people globally in 2022, with potential to reach 38 million by 2030 under supportive policies (IRENA, 2023). Green jobs and local enterprise are therefore central to people-centred sustainability.

4. Power: Who Decides and Who Benefits

Every development decision allocates benefits and burdens, and power determines who receives which. Power is often treated as outside sustainability, yet it sits at the centre: whose knowledge counts, whose land is chosen for a dam or mine, who captures profits, and who absorbs pollution or displacement.

Between states, global climate governance reflects historical inequalities. The United States accounts for roughly 20 per cent of cumulative CO_2 emissions since 1850, while the entire African continent accounts for about 3 per cent (Evans, 2021). This asymmetry underlies the principle of common but differentiated responsibilities. Developed countries promised $100 billion a year in climate finance by 2020; the OECD estimates that climate finance reached about $89 billion in 2021 and the target was met only in 2022, three years late

(OECD, 2023). The COP27 loss and damage fund recognized climate injustice, but pledges of about $700 million are tiny against estimated annual losses of around $400 billion by 2030 in developing countries (UNEP, 2023). Development agendas have also been shaped by donor conditions that did not always match national priorities or cultural realities.

Within states, centralized bureaucracies, political elites and corporations can capture gains from resource extraction and infrastructure while local communities bear displacement and environmental damage. Weak land and resource rights make Indigenous and marginalized communities vulnerable. The International Land Coalition estimates that the four largest land deals between 2000 and 2020 totalled about 30 million hectares, an area larger than Italy (ILC, 2021). Transparent governance, legal recognition of customary and community rights, independent courts and a free press are therefore preconditions for sustainability. Legal innovations show alternatives. In 2017, New Zealand recognized the Whanganui River as a legal person, reflecting Māori understanding of the river as an ancestor. Similar rights-of-nature approaches have appeared in Colombia and parts of the United States. These cases show how legal systems can accommodate cultural worldviews and redistribute power over nature.

Power in the information space is now a development issue. UNESCO estimates that about 98 per cent of online content is in just 12 languages, while many of the world's 7,000 languages have little or no digital presence (UNESCO, 2023). Algorithmic systems tend to amplify mainstream and commercially valuable material, marginalizing local languages and minority perspectives. Control over data, narratives and platforms is a form of power that affects who can participate in public debate and whose experience informs policy. The concept of "data colonialism" describes how data extraction from the Global South by platform companies based mainly in the Global North reproduces colonial patterns (Couldry and Mejias, 2019).

Without attention to power, sustainability can reproduce inequality. Conservation that excludes long-standing protectors, carbon offsets that shift burdens onto poorer communities, and large renewable projects built on contested land without fair compensation are often discussed as "green grabbing" (Fairhead, Leach and Scoones, 2012). India's wind sector has faced criticism for land acquisitions that displaced pastoral communities in Tamil Nadu and Gujarat without adequate consultation (Yenneti and Day, 2016). A just transition therefore requires attention to who pays, who benefits and who decides (ILO, 2015).

5. Globalization: Pressure and Opportunity

Globalization cuts both ways. It has delivered large gains in trade, technology, health knowledge and connectivity. Global merchandise trade reached about $25 trillion in 2022 (WTO, 2023). Global life expectancy rose from about 67 years in 2000 to about 73 years in 2019 (WHO, 2023). Smallpox has been eradicated, polio is near eradication, and HIV/AIDS mortality has fallen sharply. But globalization also creates pressures. Global material consumption reached about 100 billion tonnes in 2020, more than double the 1972 level, with high-income countries consuming about ten times more per person than low-income countries (UNEP, 2023). Homogenized consumption patterns and global brands can erode local cultural practices. Linguistic diversity is under strain: around 40 per cent of languages are endangered (UNESCO, 2023). Local economies are exposed to distant market and supply-chain shocks, as COVID-19 and food price spikes showed. A global race to attract investment can weaken environmental and labour standards.

Yet globalization also enables cooperation. The Paris Agreement, global health partnerships and scientific networks depend on cross-border coordination. Diaspora communities, digital tools and transnational movements allow local struggles to gain international support and good practices to spread. The constructive response is neither isolation nor uncritical imitation but glocalization: adapting global technologies, standards and ideas to local conditions and values (Robertson, 1995). Examples include community-owned renewable energy, where cooperatives or village institutions own and manage solar or micro-hydro systems. In Germany, community energy cooperatives own about 40 per cent of renewable capacity (Yildiz, 2014). In India, village-level solar mini-grids in Bihar and Uttar Pradesh have shown that community ownership can improve maintenance and local economic benefits (Sharma and Vohra, 2020). Heritage and

community-based tourism, governed by residents who set terms and share revenue, can preserve culture while generating income. Integrating traditional ecological knowledge into climate adaptation—such as Indigenous weather indicators or traditional water systems alongside modern forecasting—has improved disaster preparedness in the Philippines and the Indian Himalaya (Hiwasaki et al., 2014; Niti Aayog, 2018). Alternative progress measures, such as Bhutan's Gross National Happiness framework, explicitly include cultural vitality, good governance and ecological resilience (Centre for Bhutan Studies, 2016). Glocalization keeps the benefits of global knowledge and finance while preserving local ownership and meaning.

6. Implications for Policy and Practice

Eight principles follow from the analysis.

1. **Embed cultural assessment in project design.** Alongside environmental and social impact assessments, projects should evaluate effects on cultural practices, sacred sites, languages and knowledge systems, with affected communities involved. Cultural impact assessment is used in New Zealand, parts of Australia and Canada, but remains exceptional in development practice.
2. **Invest in local institutions.** Community organizations, local governments, cooperatives and cultural bodies are long-term custodians. Strengthening them is more durable than bypassing them with external agencies. Evidence from community forestry in Nepal and water user associations shows that local authority and resources improve maintenance and equity (Agarwal, 2001).
3. **Secure rights.** Clear, enforceable rights to land, water, forests and traditional knowledge are foundations of stewardship. The World Resources Institute finds that recognizing Indigenous and community land rights is associated with reduced deforestation and improved livelihoods (WRI, 2018). The FAO's Voluntary Guidelines on tenure provide guidance, though implementation remains limited (FAO, 2012).
4. **Democratize decision-making.** Participation should carry real influence, including the right to say no, supported by information, legal aid and independent oversight. Free, prior and informed consent should be treated as a right, not a public-relations step.
5. **Center inclusion.** Planning should deliberately include women, youth, minorities, informal workers and persons with disabilities, and should disaggregate data to reveal who is left behind. Aggregated data often hide disparities within communities (UNDP, 2023).
6. **Measure what matters.** Complement income and output indicators with measures of wellbeing, cultural vitality, participation and ecological health. The OECD Better Life Index and Bhutan's GNH framework offer practical alternatives (OECD, 2023; Centre for Bhutan Studies, 2016).
7. **Reform global governance.** International finance, trade and climate arrangements should give greater voice to developing countries and ensure that those least responsible for environmental harm do not bear its costs. Climate finance must be scaled up, delivered as grants where appropriate, and made accessible to the most vulnerable.
8. **Support cultural and linguistic diversity in the digital sphere.** This includes local-language content, community media and fair data governance. Community radio and Indigenous data-sovereignty principles show how digital tools can support rather than erode local cultures (UNESCO, 2023).

7. Conclusion

The argument of this article can be stated plainly: sustainability fails when it is treated as a purely technical exercise. Culture, people and power are not add-ons to development; they are the ground on which development either stands or collapses. Culture supplies meaning, norms and place-based knowledge. It explains why identical projects succeed in one place and fail in another, and why the loss of languages and customary practices is not just a cultural tragedy but an ecological and adaptive loss (UNESCO, 2023; IPBES, 2019). People-centred development shifts the question from outputs to freedoms.

Sen's capability approach reminds us that income is a means, not an end, and that participation without influence is not participation at all (Sen, 1999). Power decides distribution. Global climate governance, national resource politics and digital platforms all shape who is heard, who benefits and who pays (Evans, 2021; Couldry and Mejias, 2019).

Globalization makes these questions sharper. It spreads technology, knowledge and markets, but also homogenised consumption, language loss and supply-chain shocks. The answer is not withdrawal. It is glocalization: adapting global ideas to local conditions while keeping local ownership and meaning (Robertson, 1995). The choice is not between global cooperation and local autonomy; it is between a globalization that extracts and homogenises and one that supports plural, place-based futures.

The eight principles proposed here are practical starting points rather than a blueprint. Cultural assessment should sit alongside environmental and social assessment. Local institutions need resources and authority, not just training. Rights to land, water, forests and knowledge must be enforceable. Decision-making must carry real influence, including the right to say no. Inclusion must be deliberate, with disaggregated data to show who is being left behind. Progress must be measured through wellbeing, cultural vitality and ecological health, not income alone. Global governance must give developing countries a stronger voice and ensure that those least responsible for environmental harm do not bear its costs. Digital policy must protect linguistic and cultural diversity.

None of this is easy. Power asymmetries are entrenched, and the urgency of environmental crises tempts governments and donors to shortcut participation in the name of speed. But shortcuts tend to produce resistance, abandonment or capture. For policy, the implication is that appraisal, finance and monitoring rules should reward local ownership rather than external delivery. For practice, it means working with existing institutions and knowledge systems instead of creating parallel structures. For research, it means taking power seriously as a variable, not an afterthought.

The evidence reviewed here points in a different direction from business as usual: development that is culturally grounded, people-centred and attentive to power is more legitimate, more resilient and more likely to endure. The task for the coming decades is to build a globalization that respects diversity, shares power more equitably and treats the flourishing of people and the planet as one project. That is both an ethical commitment and a practical condition for sustainability.

234

Professor Tapan Kumar Shandilya
Principal, T.P.S. College, Patna, Bihar.
Former Vice-Chancellor, Dr. Shyama Prasad Mukherjee University, Ranchi, Jharkhand.

References

Agarwal, B. (2001). Participatory exclusions, community forestry, and gender. *World Development*, 29(10), 1623–1648.

Arnstein, S. R. (1969). A ladder of citizen participation. *Journal of the American Institute of Planners*, 35(4), 216–224.

CBD (2022). *Kunming-Montreal Global Biodiversity Framework*. Convention on Biological Diversity.

Centre for Bhutan Studies (2016). *A Compass Towards a Just and Harmonious Society: 2015 GNH Survey Report*. Thimphu.

Chattopadhyay, R., & Duflo, E. (2004). Women as policy makers. *Econometrica*, 72(5), 1409–1443.

Couldry, N., & Mejias, U. A. (2019). *The Costs of Connection*. Stanford University Press.

Dwivedi, R. (2006). *Conflict and Collective Action: The Sardar Sarovar Project in India*. Routledge.

Evans, S. (2021). Analysis: Which countries are historically responsible for climate change? *Carbon Brief*.

Fairhead, J., Leach, M., & Scoones, I. (2012). Green grabbing. *Journal of Peasant Studies*, 39(2), 237–261.

FAO (2012). *Voluntary Guidelines on the Responsible Governance of Tenure*. Rome: FAO.

Hiwasaki, L., Luna, E., Syamsul, R., & Shaw, R. (2014). Integrating local knowledge with science for disaster risk reduction. *International Journal of Disaster Risk Reduction*, 10, 15–27.

ILC (2021). *Land Inequality Factsheet*. International Land Coalition.

ILO (2015). *Guidelines for a Just Transition*. Geneva:

ILO.

ILO (2023). *World Employment and Social Outlook: Trends 2023*. Geneva: ILO.

IPBES (2019). *Global Assessment Report on Biodiversity and Ecosystem Services*. Bonn: IPBES.

IRENA (2023). *Renewable Energy and Jobs: Annual Review 2023*. Abu Dhabi: IRENA.

ITU (2023). *Measuring Digital Development: Facts and Figures 2023*. Geneva: ITU.

Jayal, N. G. (2006). Engendering local democracy. *Democratization*, 13(1), 15–35.

Ministry of Panchayati Raj (2023). *Annual Report 2022–23*. Government of India.

Niti Aayog (2018). *Strategy for New India @ 75*. Government of India.

OECD (2023). *Climate Finance Provided and Mobilised by Developed Countries*. Paris: OECD.

Ostrom, E. (1990). *Governing the Commons*. Cambridge University Press.

Robertson, R. (1995). Glocalization. In M. Featherstone et al. (Eds.), *Global Modernities*. Sage.

Sachs, J., et al. (2023). *Sustainable Development Report 2023*. Cambridge University Press.

Sen, A. (1999). *Development as Freedom*. Oxford University Press.

Sharma, A., & Vohra, N. (2020). Community-owned solar mini-grids in India. *Energy for Sustainable Development*, 59, 1–12.

UNCTAD (2023). *World Investment Report 2023*. Geneva: UNCTAD.

UNDP (2023). *Human Development Report 2023–24*. New York: UNDP.

UNEP (2023). *Global Resources Outlook 2024*. Nairobi: UNEP.

UNESCO (2001). *Universal Declaration on Cultural Diversity*. Paris: UNESCO.

UNESCO (2022). *MONDIACULT 2022 Declaration*. Paris: UNESCO.

UNESCO (2023). *Re|shaping Policies for Creativity*. Paris: UNESCO.

UNFPA (2023). *State of World Population 2023*. New York: UNFPA.

United Nations (2007). *Declaration on the Rights of Indigenous Peoples*. New York: UN.

United Nations (2015). *Transforming Our World: The 2030 Agenda for Sustainable Development*. New York: UN.

UNPFII (2022). *State of the World's Indigenous Peoples*. New York: UN.

UN Women (2023). *Women's Representation in Leadership and Decision-Making*. New York: UN Women.

WCED (1987). *Our Common Future*. Oxford University Press.

WHO (2023). *World Health Statistics 2023*. Geneva: WHO.

World Bank (2022). *South Asia Development Update*. Washington, DC: World Bank.

World Bank (2023). *Poverty and Shared Prosperity 2023*. Washington, DC: World Bank.

WRI (2018). *The Economic Case for Securing Community Land Rights*. Washington, DC: WRI.

WTO (2023). *World Trade Statistical Review 2023*. Geneva: WTO.

Yenneti, K., & Day, R. (2016). Distributional justice in solar energy implementation in India. *Journal of Rural Studies*, 46, 35–46.

Yildiz, Ö. (2014). Financing renewable energy infrastructures via financial citizen participation. *Renewable Energy*, 68, 677–685.

Professor Tapan Kumar Shandilya
Principal, T.P.S. College, Patna, Bihar.
Former Vice-Chancellor,
Dr. Shyama Prasad Mukherjee University,
Ranchi, Jharkhand.

48

MENTAL HEALTH OF YOUNG WOMEN IN INDIA: SOCIO-CULTURAL CHALLENGES, GENDER INEQUALITY AND EMPOWERMENT

Harsh Kaushik

Abstract

Mental health is an essential dimension of well-being, dignity and social participation. Young women in India negotiate the transition to adulthood within social environments shaped by family expectations, unequal access to education and employment, restrictions on mobility, gender-based violence, digital cultures and persistent stigma around psychological distress. These conditions do not affect all women in the same way: caste, class, rural or urban location, disability, religion and family circumstances intersect with gender to shape both exposure to stress and access to support. This paper examines the psycho-social and cultural dimensions of mental health among young women in India from a sociological perspective. It draws on secondary literature, national reports and policy documents, and uses feminist, conflict and symbolic-interactionist perspectives to interpret the relationship between gendered social arrangements and mental well-being. The paper argues that distress should not be reduced to individual weakness or treated only as a clinical matter; it must also be understood in relation to unequal power, social expectations and institutional conditions. It concludes that gender-responsive counselling, safe educational and work environments, prevention of violence, economic opportunities, family sensitisation and accessible public mental-health services are central to women's empowerment.

Keywords: mental health; gender inequality; patriarchy; social stigma; gender-based violence; empowerment; India.

1. Introduction

Mental health is closely connected with the ability to learn, work, build relationships, make decisions and participate in community life. For young women, these capacities develop within social settings in which opportunities and expectations are often organised by gender. The transition from adolescence to adulthood may involve higher education, entry into employment, decisions about relationships and marriage, increasing family responsibilities and the search for personal autonomy. These transitions can be empowering, but they may also generate stress when young women face restrictions, discrimination or inadequate support.

In India, the experiences of young women are diverse. A student in a metropolitan college, a young woman in a rural household, a first-generation learner, a woman from a marginalised caste group and a young woman with a disability may encounter different forms of opportunity and constraint. Gender therefore cannot be examined in isolation from class, caste, region, education and family circumstances. The social environment may provide emotional support and belonging; it may also produce pressure through unequal expectations, surveillance, violence and stigma.

The National Mental Health Survey of India (2015–16) and its analysis of common mental disorders provide important population-level evidence. An analysis of the survey reported a higher prevalence of common mental disorders among females than males in the adult sample, while also identifying education, employment, marital status and place of residence as relevant socio-demographic correlates (Jayasankar et al., 2022). These figures describe adults across age groups and should not be misrepresented as a specific prevalence estimate for young women. They nevertheless underline the importance of examining gender and social conditions in mental-health research.

This paper revises a general discussion of youth mental health into a focused sociological analysis of young women in India. It examines family relations, education, employment, gender norms, violence, digital environments, stigma and institutional support. Its central argument is that women's mental well-being and empowerment are interdependent: the ability to make choices, access resources and live free from violence is part of mental-health promotion.

2. Conceptual Understanding of Young Women and Mental Health

2.1 Young women as a social category

"Young women" is not a uniform or fixed social group. Age categories vary across research and policy settings, and the social meaning of youth is influenced by education, employment, marriage, economic independence and family

responsibilities. This paper uses the term broadly for women in the transition from adolescence to adulthood, while recognising that particular studies may use different age ranges. The term should not conceal differences in social location or lived experience.

2.2 Understanding mental health

Mental health includes emotional, psychological and social well-being. It concerns how people cope with ordinary stresses, develop relationships, make decisions and participate in society. It is not simply the absence of a diagnosed disorder. Stress, anxiety, depression, trauma and loneliness may arise through a complex interaction of biological, psychological and social factors. A sociological approach does not deny clinical needs; rather, it asks how social institutions and unequal power relations influence exposure to distress, recognition of symptoms and access to care.

2.3 Gender as a social determinant

Gender norms shape the distribution of responsibilities, freedom, resources and authority. Young women may be expected to perform unpaid care work, protect family reputation, adjust their aspirations and comply with rules about mobility or relationships. Such expectations are not experienced identically by every woman, but where they restrict autonomy or impose conflicting demands they can contribute to emotional strain. Gender-sensitive analysis therefore considers both individual experiences and the social arrangements within which they occur.

3. Psycho-Social Dimensions of Young Women's Mental Health

3.1 Family expectations, care work and emotional well-being

Family can be a major source of affection, security, identity and practical assistance. Supportive parents and relatives may encourage education, listen to concerns and help young women navigate difficult transitions. However, family relationships can also become a source of pressure when daughters are subject to stricter rules than sons, when their choices are routinely questioned, or when domestic responsibilities interfere with study and employment.

Young women may be expected to balance education or paid work with cooking, cleaning, sibling care and support for older family members. This unequal distribution of unpaid work can reduce time for rest, friendships and personal development. Emotional distress may remain invisible when sacrifice is treated as a natural duty of daughters. Family sensitisation should therefore promote shared domestic responsibilities, respectful communication and equal value for the aspirations of daughters and sons.

3.2 Education, academic pressure and gendered barriers

Education can strengthen confidence, economic independence and decision-making. However, young women may face pressure to choose “appropriate” courses, restrictions on travel, unsafe campuses, financial constraints or early marriage expectations. In some families, investment in a daughter's higher education may be treated as less important than investment in a son's education. Academic competition combined with domestic duties can produce fatigue and anxiety. Institutions should provide confidential counselling, safe transport and effective procedures for responding to harassment.

3.3 Employment, financial insecurity and autonomy

Paid employment can provide income, social recognition, wider networks and greater control over life decisions. Conversely, unemployment, insecure work, low wages and limited career mobility may increase dependence on family members. Young women may also encounter discriminatory recruitment, unequal pay, unsafe commuting, workplace harassment and expectations that they will leave employment after marriage.

Economic dependence should not be interpreted as a personal failure. It is often shaped by unequal access to education, labour-market opportunities, property and social support. Research from India has also examined the long-term consequences of exposure to intimate partner violence for young women's schooling and labour-market outcomes, illustrating how violence can affect opportunities beyond immediate physical harm (Ludwick et al., 2022). Policies that expand decent employment, skill development, safe transport, childcare and equal opportunity can therefore contribute to mental well-being as well as economic empowerment.

3.4 Marriage expectations, relationships and personal choice

In many settings, young women encounter

strong expectations concerning the timing of marriage, selection of a partner, family approval and conformity to prescribed roles. Conflict may arise when personal aspirations differ from family preferences. Restrictions on friendships, relationships or independent decision-making can produce isolation and uncertainty. Marriage itself is not inherently a source of distress; the relevant issue is whether decisions are voluntary, informed and free from coercion. Respect for consent, autonomy and communication is essential to healthy relationships.

3.5 Peer relationships, loneliness and social support

Friends, classmates, colleagues and community networks can provide emotional support and practical assistance. Positive peer relationships help young women share experiences, develop confidence and recognise that difficulties are not theirs alone. However, bullying, exclusion, body shaming, social comparison and pressure to conform can undermine self-esteem. Young women who migrate for education or work may also experience loneliness when they lack trusted networks. Student groups, mentoring, sports, cultural activities and community organisations can strengthen social connection.

4. Cultural Dimensions, Gender Inequality and Violence

4.1 Patriarchal norms and restrictions on mobility

Patriarchal norms may regulate women's movement, clothing, friendships, use of public spaces and participation in decisions. Restrictions are sometimes justified through concerns about safety or family honour. Although safety is a legitimate concern, placing the entire burden on women to limit their mobility can reduce independence and participation. The responsibility for safety must also lie with families, institutions, communities and public authorities that are expected to prevent harassment and violence.

4.2 Gender-based violence and psychological consequences

Physical, sexual, emotional and economic violence can have serious consequences for mental health. Threats, coercive control, stalking, harassment, intimate partner violence and abuse within families may contribute to fear, anxiety, depression, trauma-related symptoms and social withdrawal. The National Human Rights Commission's publication on mental health recognises women's mental health as shaped by social determinants and discusses the close relationship between women's rights, vulnerability and mental-health care (Chandra & Vinod, 2023).

Survivors may hesitate to disclose violence because of shame, fear of blame, economic dependence, concern for family reputation or lack of trust in institutions. Responses must therefore be survivor-centred, confidential and non-judgemental. Mental-health services should be connected with legal aid, protection services, crisis support and safe accommodation where needed. Counselling alone cannot substitute for protection from continuing violence.

4.3 Caste, class, disability and intersectional disadvantage

Gender inequality intersects with caste, poverty, disability, rural isolation and migration. A low-income young woman may be unable to afford counselling or transport; a woman with a disability may encounter inaccessible services; and caste discrimination may produce humiliation in educational or workplace settings. These intersecting disadvantages can increase stress and reduce access to support. Programmes should therefore address language, affordability, disability access and the realities of marginalised communities.

4.4 Stigma and barriers to help-seeking

Mental-health stigma may cause distress to be interpreted as weakness, lack of discipline or a private family matter. Young women may fear that disclosure of anxiety, depression or trauma will affect their reputation, marriage prospects or future employment. In some settings, families may discourage professional care or prefer secrecy. Such responses can delay help-seeking and deepen isolation.

Awareness programmes should explain that mental-health difficulties are legitimate concerns and that seeking qualified assistance is a responsible step. Community leaders, teachers, health workers and families can help challenge stigma, provided that they respect confidentiality and do not diagnose or shame individuals.

5. Digital Culture and Young Women's Mental Health

Digital platforms offer opportunities for education, employment searches, creative expression, peer support and online counselling. They may also expose young women to cyberbullying, sexual harassment, stalking, threats and non-consensual sharing

of images. Comparisons involving appearance and lifestyle can intensify insecurity, while excessive screen use may disrupt sleep and face-to-face relationships. Effects depend on the nature of use, personal circumstances and available support.

Digital literacy should include privacy settings, safe reporting, consent, critical evaluation of online content and knowledge of available support services. Institutions should respond seriously to online harassment and avoid blaming victims for their digital participation.

6. Sociological Perspectives on Women's Mental Health

6.1 Feminist perspective

A feminist perspective examines how gendered power relations shape everyday life, access to resources and control over decisions. It draws attention to unpaid care work, unequal mobility, violence, discrimination and the social expectation that women should prioritise others' needs. From this perspective, mental-health promotion requires more than teaching individual coping skills; it also requires changing unequal conditions and strengthening women's agency.

6.2 Conflict perspective

The conflict perspective highlights unequal distribution of economic resources, authority and opportunities. Poverty, insecure employment, unequal education and limited access to healthcare can increase vulnerability. Women with fewer resources may have less freedom to leave unsafe environments or obtain professional support. Reducing inequality and ensuring accessible public services are therefore important components of prevention.

6.3 Symbolic interactionist perspective

Symbolic interactionism focuses on meanings and everyday interactions. Labels such as “weak,” “characterless,” “over-sensitive” or “unsuccessful” can shape how young women understand themselves and whether they seek help. Supportive interactions with family members, teachers, friends and health professionals can instead affirm dignity and encourage help-seeking. These perspectives together show that mental well-being is connected to social structure as well as daily relationships.

7. Mental-Health Support, Empowerment and Institutional Responsibilities

7.1 Family and community

Families should listen without judgement, respect young women's decisions and share domestic responsibilities. Communities can organise awareness sessions, peer networks and referral pathways. Cultural practices may provide belonging, but should not discourage professional care or justify discrimination.

7.2 Educational institutions

Schools and colleges should provide accessible counselling, anti-harassment procedures, safe reporting and referral links. Faculty should recognise distress without attempting to diagnose students. Mentoring, peer support, sports and cultural activities can reduce isolation. Confidentiality is essential.

7.3 Workplaces and economic institutions

Employers should prevent sexual harassment, provide transparent complaint mechanisms and ensure that women can work without discrimination or retaliation. Safe transport, predictable working conditions, equal opportunity, maternity-related protections and support for balancing care responsibilities can reduce avoidable stress. Skill development and access to decent employment strengthen financial autonomy.

7.4 Health services and legal protections

The Mental Healthcare Act, 2017 provides a rights-based framework for mental healthcare in India. Implementation should ensure that services are affordable, accessible, respectful and free from discrimination. Primary healthcare settings can play an important role in early identification and referral, while specialist care is needed for complex or severe conditions. Women who experience violence should be able to access integrated mental-health, medical, legal and protection services.

7.5 Empowerment as a mental-health strategy

Women's empowerment includes education, economic resources, bodily autonomy, freedom from violence, participation in decision-making and the ability to access institutions. These are not separate from mental health. They influence whether a young woman can make choices, seek help, leave harmful situations and participate confidently in society. Empowerment should not mean placing the responsibility for overcoming structural barriers entirely on individual women; institutions and communities must share that

responsibility.

8. Research Methodology and Scope

This paper adopts a descriptive and analytical approach and is conceptual in nature. It is based on secondary sources, including peer-reviewed research, national mental-health survey analysis, government legislation and publications of public institutions. The material is interpreted through sociological and feminist perspectives, with attention to family relations, education, employment, gender norms, violence, stigma and social inequality. No primary fieldwork, interviews, questionnaire survey or original statistical analysis was undertaken. Consequently, the paper does not claim to measure the prevalence of mental-health conditions among young women in India, and its observations should not be treated as statistically representative. The age range of "young women" is used broadly because the cited sources do not all employ the same age definition.

9. Discussion and Analysis

Young women's mental health is shaped by personal experiences and wider social arrangements. Family support can protect well-being, while unequal expectations and unpaid care work may restrict autonomy. Education and employment can strengthen independence, but barriers to mobility, safety and equal opportunity limit their benefits. Violence and harassment affect relationships, education, work and public participation. Caste, class, disability and location influence exposure to disadvantage and access to care. Stigma delays help-seeking, while digital environments create both opportunities and risks.

The evidence must be interpreted carefully. National adult survey findings are not identical to youth-specific estimates, and prevalence figures vary according to the definition and types of disorders included. The 2016 National Mental Health Survey analysis of common mental disorders found higher prevalence among females in the adult sample, but this does not establish the precise burden among young women alone (Jayasankar et al., 2022). Research on women's experiences of depression in India also emphasises that distress is embedded in social relationships and may be associated with interpersonal conflict, caregiving burdens, violence and financial insecurity. These findings support a gender-responsive approach without suggesting that all young women have the same experiences.

The central implication is that mental-health services and empowerment policies should not operate separately. Counselling and treatment are necessary for those who need them, but prevention also requires safer institutions, economic opportunity, gender equality, social support and effective responses to violence.

10. Conclusion

The mental health of young women in India is a significant social concern connected with gender relations, family expectations, education, employment, violence, stigma and unequal access to resources. Young women are not merely passive recipients of social pressures; they exercise agency, build supportive networks and pursue educational, occupational and personal aspirations. However, their ability to do so depends partly on whether families, institutions and communities provide equal opportunities and respect their autonomy.

A sociological understanding moves beyond explanations that treat distress only as an individual weakness. It recognises the effects of unequal power, discrimination, unpaid care work, unsafe environments and barriers to healthcare. Effective action must combine accessible professional mental-health services with prevention of gender-based violence, safe educational and work settings, economic empowerment, family sensitisation and community-based support.

The Mental Healthcare Act, 2017 and institutional initiatives provide an important framework, but rights and services must be implemented in ways that are affordable, confidential, accessible and sensitive to women's varied circumstances. Special attention is required for young women facing intersecting disadvantages related to caste, class, disability and geographical location.

Ultimately, promoting young women's mental health is also a commitment to dignity, equality and empowerment. A society that enables young women to study, work, make decisions, seek help and live free from violence creates conditions not only for better mental well-being but also for inclusive social development.

References

Chandra, P. S., & Vinod, P. (2023). Women's mental health. In National Human Rights Commission,

Mental health—Concern for all: In context of the Mental Healthcare Act, 2017 (Chapter 11). National Human Rights Commission, India.

Government of India. (2017). The Mental Healthcare Act, 2017. Ministry of Law and Justice.

Jayasankar, P., Manjunatha, N., Rao, G. N., Gururaj, G., Varghese, M., Benegal, V., & NMHS India National Collaborator Group. (2022). Epidemiology of common mental disorders: Results from "National Mental Health Survey" of India, 2016. Indian Journal of Psychiatry, 64(1), 13–19. https://doi.org/10.4103/indianjpsychiatry.indianjpsychiatry_865_21

Ludwick, T., Ishida, M., Mahal, A., & Desai, S. (2022). Witnessing intimate partner violence impacts schooling and labor market outcomes for young women in India. Population and Development Review, 48(2), 505–543. https://doi.org/10.1111/padr.12460

National Institute of Mental Health and Neurosciences. (2016). National Mental Health Survey of India, 2015–16: Prevalence, pattern and outcomes. Ministry of Health and Family Welfare, Government of India.

World Health Organization. (2022). World mental health report: Transforming mental health for all. World Health Organization.

Author: Harsh Kaushik
Designation: Postgraduate Student
Institution: D.G.C., Gurugram, Haryana
Email: kaushikharsh569@gmail.com
Postal Address – ADANI AANGAN SECTOR 89 A, PATUDI ROAD, GURGRAM

49

Women Police Personnel And Mental Health In India

Dr. Mithlesh

Abstract

Women police personnel make an important contribution to law enforcement, public safety, investigation and the protection of women and children. Their participation also represents an important dimension of women's employment and public empowerment. Nevertheless, policing is a demanding occupation characterised by unpredictable duty schedules, emergency deployment, exposure to violence, public scrutiny and organisational pressure. These demands may interact with gender stereotypes, unequal domestic expectations, workplace discrimination and inadequate gender-sensitive facilities. The resulting pressures can affect psychological well-being and the ability to maintain a satisfactory work-life balance. This paper examines these concerns from a sociological and socio-psychological perspective. It adopts a descriptive and analytical design based on secondary sources, including peer-reviewed studies, official government information and international guidance on mental health at work. The literature indicates that occupational stress is present across police ranks and that gender may shape how some work and family pressures are experienced. The paper does not claim to report new fieldwork or to generalise the experiences of all women police personnel. It argues that mental health should be treated as an institutional welfare and equality concern, rather than solely as an individual responsibility. It recommends confidential counselling, supportive supervision, fair duty arrangements, adequate infrastructure, effective grievance mechanisms and family-supportive policies. A psychologically safe and gender-responsive police organisation can strengthen the well-being, professional participation and effectiveness of women personnel.

Keywords: Women Police Personnel; Mental Health; Occupational Stress; Gender Equality; Work-Family Conflict; Work-Life Balance; Police Organisation.

1. Introduction

Mental health is an essential dimension of individual well-being and social functioning. It influences how people manage stress, perform their responsibilities, maintain relationships and participate in community life. In the workplace, mental health is shaped not only by personal circumstances but also by workload, working hours, organisational culture, job security, interpersonal relations and the degree of control employees have over their work. The World Health Organization identifies excessive workloads, long or inflexible hours, discrimination, harassment, limited support and conflicting work and home demands as psychosocial risks that may affect workers' mental health (World Health Organization [WHO], 2024).

Police work is demanding because it involves law enforcement, crime prevention, investigation, emergency response and public protection. Personnel may encounter violence, distressing events, public criticism and situations requiring immediate decisions. Irregular schedules can limit rest and family interaction.

Women's participation in Indian police organisations has expanded over time, and women personnel now perform a range of duties, including investigation, community policing, traffic management, security, administration and work relating to women and children. Their presence is important for equal employment opportunity and for improving the accessibility and responsiveness of police services. However, numerical inclusion does not automatically ensure equality in everyday working conditions. Professional expectations, organisational practices and social attitudes may continue to be influenced by gender stereotypes.

Women police personnel may face the demands of policing alongside expectations relating to childcare, household management and care for older family members. These expectations are not experienced uniformly: family support, rank, posting, marital status, number of dependants, organisational culture and individual circumstances can make a significant difference. Nevertheless, where domestic responsibilities remain unequally distributed, irregular police duty may intensify work-family conflict.

A sociological analysis connects individual stress with gender relations, institutional power, occupational organisation and family expectations. This paper examines occupational stress, gender-related challenges and work-life

balance among women police personnel in India.

2. Statement of the Problem

Police organisations require discipline, readiness, accountability and the capacity to respond to unpredictable situations. These features are essential to public safety, but they can also produce demanding working conditions. Long shifts, night duty, emergency deployment, staff shortages, administrative workload and exposure to traumatic incidents may affect the physical and psychological well-being of personnel.

For women police personnel, these demands may intersect with gendered assumptions about authority, physical capability, leadership and domestic responsibility. In some settings, women may have to negotiate stereotypes about the suitability of particular assignments or demonstrate their professional competence repeatedly. Inadequate sanitation, changing and rest facilities can also make field and extended duties more difficult. Where harassment or discriminatory conduct is not addressed effectively, the workplace may become psychologically unsafe.

The problem is not that women are inherently less able to manage police work. Rather, the concern is whether organisational arrangements and social expectations distribute demands and resources fairly. The central question of this paper is how occupational conditions, gender relations and family expectations may influence the mental health and work-life balance of women police personnel in India.

3. Objectives of the Study

The study has four objectives:

1. To examine the relationship between occupational stress and mental health among women police personnel in India.
2. To analyse gender-related challenges within police organisations.
3. To understand how work-family conflict and socio-cultural expectations may influence psychological well-being.
4. To identify institutional measures that can promote mental health, equality and work-life balance.

4. Research Methodology

The paper follows a descriptive and analytical research design based on secondary sources. The material includes peer-reviewed research on occupational stress and work-family conflict among police personnel, official Government of India information on women's representation in the police force, and WHO guidance on mental health at work. The selected literature is examined thematically in relation to occupational demands, gender relations, family responsibilities and institutional support. The study does not involve a new survey, interview or direct assessment. It therefore presents no primary data, prevalence estimates or clinical diagnoses. Findings from studies with different samples are interpreted within the limits of their methods and populations. The analysis identifies sociological issues and institutional implications rather than establishing causal relationships.

5. Women's Representation in the Indian Police

Women's representation indicates access to public employment and institutional inclusion. The Ministry of Home Affairs reported, using Bureau of Police Research and Development data, that women constituted 11.75 per cent of India's police strength on 1 January 2022 (Ministry of Home Affairs, 2023). This is a dated national figure, not a current estimate or evidence of equal representation across ranks and states.

Increasing women's representation is important, but numerical inclusion alone is insufficient. Substantive equality requires fair access to training, promotion, leadership and specialised assignments, alongside appropriate facilities, protection from harassment and recognition of professional contributions. Institutional inclusion must be assessed through both recruitment and women's actual workplace experiences.

6. Occupational Stress and Mental Health

Occupational stress arises when perceived job demands exceed the resources, support or control available to a worker. In policing, stressors may include extended and unpredictable working hours, night shifts, emergency call-outs, high responsibility, exposure to violence, public scrutiny, administrative pressure and limited recovery time. These pressures can accumulate, particularly when personnel have little influence over duty schedules or insufficient staffing and equipment.

Stress may be associated with anxiety, irritability, sleep disturbance, emotional exhaustion, difficulty concentrating and reduced job satisfaction.

Repeated exposure to traumatic incidents can also create psychological strain. Burnout is commonly discussed in relation to prolonged workplace stress and includes emotional exhaustion, depersonalisation or mental distance from work, and a reduced sense of professional accomplishment. These concepts should be used carefully: occupational stress does not automatically mean that a person has clinical depression, an anxiety disorder or another diagnosable condition. Diagnosis requires an appropriate professional assessment.

Singh and Kar's (2015) exploratory study examined occupational stress among 300 male police personnel from different ranks in Uttar Pradesh. The authors identified multiple sources of stress, including private-life, environmental, organisational, interpersonal and personal factors. Because the study sample consisted of male personnel, it cannot by itself establish the specific experiences of women officers. It is nevertheless relevant to understanding the wider occupational environment in which women and men serve.

Research focusing on women police personnel also highlights the importance of work-family relations and the working environment. Bhuvaneswari and Thirumoorthi (2023) examined work-family conflict and burnout among women police personnel and considered the moderating role of a stressful working environment. Their work is directly relevant to the present discussion because it connects individual experiences of burnout with both family conflict and organisational conditions. Pinki, Panchal and Pal (2020), in a study of 300 police constables—150 men and 150 women—reported higher occupational stress among female constables in their sample, while the study did not find a significant gender difference in work-family conflict. These findings should be interpreted within the specific samples and measures used; they should not be generalised to every police unit or every woman officer.

The evidence supports an important distinction: stress is not solely a matter of individual coping ability. Workload, staffing, duty allocation, supervision, resources and organisational support can either intensify or reduce pressure. Effective mental-health policy must therefore address the working environment as well as provide individual support.

7. Gender-Related Challenges in Police Organisations

Police organisations have historically been associated with masculine images of authority, physical strength, command and control. Such cultural associations may influence how women's competence is perceived and which duties they are encouraged or permitted to perform. Gender stereotypes can lead to assumptions that women are less suited to field assignments, leadership or demanding operational roles, or that their professional contribution is secondary to that of male colleagues. These assumptions can restrict opportunity and undermine professional recognition.

Workplace discrimination may take direct or subtle forms. It may include unequal access to training, inappropriate remarks, exclusion from informal professional networks, unequal distribution of responsibilities or a lack of fair consideration for promotion and leadership. Harassment and hostile behaviour can undermine dignity and psychological safety. Institutions need accessible complaint mechanisms, impartial inquiry, confidentiality and protection against retaliation. Formal rules are important, but their effectiveness depends on implementation and trust.

Infrastructure is another practical dimension of equality. Women personnel require accessible and hygienic sanitation facilities, changing rooms, secure rest spaces and suitable accommodation where duty requires extended deployment. Inadequate facilities may create discomfort, safety concerns and additional stress. These are not special privileges; they are basic workplace requirements that enable all personnel to perform their duties with dignity.

Professional equality also involves equal access to skill development, specialised units, field experience and decision-making roles. When women are routinely assigned limited or stereotyped tasks, their career progression and institutional influence may be constrained. A gender-responsive organisation should evaluate personnel on professional competence and performance, not assumptions about gender.

8. Work-Life Balance and Family Responsibilities

Work-life balance concerns the relationship

between paid work and other important areas of life, including family care, personal health, rest and social relationships. Police work can make this balance difficult because duty schedules may change at short notice and emergencies may require personnel to remain at work beyond planned hours. Night duty, festivals, public events and security deployments may also coincide with family commitments.

In many households, women continue to undertake a substantial share of unpaid domestic and caregiving work. Women police personnel may therefore experience overlapping responsibilities: professional duties involving public safety and family responsibilities involving childcare, household management and care for older relatives. The extent of this pressure depends on the availability of childcare, the support of partners and family members, economic resources and the flexibility of the workplace.

Work-family conflict should not be understood as an individual failure to manage time. It may arise when organisational demands and family expectations are incompatible. For example, an unpredictable deployment can disrupt childcare arrangements, while inadequate leave or rigid scheduling may make it difficult to attend to family needs. Conversely, supportive supervisors, predictable rosters where operationally possible, fair leave practices and shared domestic responsibilities can reduce conflict.

A balanced approach should avoid reinforcing the idea that family care is exclusively women's work. Family-friendly policies should be available fairly and should encourage shared caregiving. Flexible arrangements must also be designed carefully so that women are not excluded from important assignments or promotion opportunities because they use legitimate family-support measures.

9. Socio-Cultural Factors and Social Support

The mental health of women police personnel is influenced by the interaction between occupational and social environments. Traditional gender norms may expect women to be accommodating, responsible for family care and available for domestic work even when they hold demanding full-time positions. When these expectations are combined with unpredictable duty, the resulting tension may contribute to fatigue and emotional pressure.

Family support, shared household responsibilities and dependable childcare can help personnel manage difficult schedules. Colleagues and supervisors can also provide practical and emotional support. However, support should not replace institutional responsibility or make well-being dependent on relatives compensating for poor duty arrangements.

Women in uniform may also encounter social perceptions that question their authority or judge their professional choices through conventional ideas of femininity. Such attitudes can affect social relationships and contribute to the pressure of constantly negotiating professional identity. At the same time, women's visible participation in policing can challenge stereotypes and broaden public ideas about women's capabilities and leadership.

Stigma surrounding mental health may discourage personnel from seeking assistance. Some may fear that disclosure could affect their reputation, career prospects or confidentiality. Police departments should communicate clearly that seeking psychological support is a responsible form of self-care and occupational welfare. Counselling should be confidential, professionally delivered and separated, as far as practicable, from routine performance evaluation.

10. Sociological Perspectives

A feminist perspective helps explain how institutional arrangements and cultural assumptions distribute power, opportunity and resources unequally. From this viewpoint, the mental-health concerns of women police personnel cannot be separated from gendered expectations, workplace hierarchies, unequal recognition and the organisation of unpaid care. The focus shifts from asking how women can simply adjust to existing conditions to asking whether those conditions are fair and inclusive.

Role conflict provides another useful framework. Individuals occupy multiple social roles, and the expectations attached to these roles may sometimes compete. A woman police officer may be expected to respond immediately to an emergency while also meeting family-care responsibilities. Conflict may occur when the

timing or demands of one role make it difficult to fulfil another. This framework does not imply that women naturally experience role conflict more than men; rather, the distribution of care work and the structure of employment can make the conflict gendered.

The social-support perspective emphasises the value of emotional, informational and practical assistance. Supportive family members, colleagues, supervisors and professional services can help people manage demanding circumstances. However, social support is most effective when combined with organisational changes that reduce avoidable stressors. Together, these perspectives show that mental health is shaped by individual experience, social relationships and institutional structures.

11. Measures for Promoting Mental Health

First, police departments should provide accessible, confidential counselling. Personnel must be able to seek help without stigma or unfair career consequences. Specialist referrals and post-incident support should be available when required.

Second, departments should periodically assess occupational stressors through confidential and professionally administered processes. Such assessments should examine workload, staffing, duty schedules, exposure to traumatic events, supervisory practices and access to rest. The purpose should be organisational improvement, not labelling individuals as weak or unfit.

Third, duty schedules should be made as predictable as operational requirements permit. Adequate rest between shifts, fair distribution of night duties, realistic staffing and timely leave can reduce avoidable strain. Emergency services cannot eliminate unpredictability, but they can plan staffing and recovery arrangements more responsibly.

Fourth, police workplaces should ensure gender-sensitive infrastructure, including clean sanitation facilities, changing rooms, rest areas and safe arrangements during field deployment. Recruitment, training, promotion and assignment policies should provide equal opportunity. Harassment and discrimination should be addressed through trusted, impartial and confidential mechanisms.

Fifth, family-supportive measures should be developed without reinforcing gender stereotypes. These may include childcare support where feasible, fair parental leave, predictable scheduling where possible and a workplace culture that recognises caregiving as a shared responsibility. Supervisors should be trained to respond sensitively to work-family concerns while ensuring that legitimate family needs do not become a basis for excluding women from career opportunities.

Finally, peer-support networks and awareness programmes can normalise discussion of stress and encourage early help-seeking. Senior officers should model respectful behaviour, discourage stigma and ensure that personnel can raise concerns safely.

12. Suggestions

1. Make mental health an integral part of police welfare and occupational-safety policy.
2. Provide confidential counselling and clear referral arrangements for professional mental-health care.
3. Review duty rosters, staffing and rest periods to reduce avoidable and excessive workload.
4. Ensure equal access to training, field assignments, promotion and leadership positions.
5. Provide adequate sanitation, changing, rest and secure facilities for women personnel.
6. Maintain impartial mechanisms to prevent and address harassment and discrimination.
7. Encourage shared family responsibilities and provide fair family-supportive arrangements.
8. Train supervisors to recognise occupational stress and respond without stigma.
9. Conduct periodic, confidential assessments of organisational stressors and act on the findings.
10. Support further research across states, ranks and police units, including studies that document women personnel's own experiences.

13. Conclusion

Women police personnel are essential to public safety, law enforcement and the functioning of democratic institutions. Their participation is an important dimension of women's empowerment, but meaningful equality requires more than recruitment. It requires safe and dignified workplaces, fair professional opportunities, supportive leadership and working arrangements that recognise the realities of occupational and family life.

The literature reviewed in this paper indicates that policing involves significant occupational stressors and that work-family conflict and stressful working environments are important concerns for women personnel. Gender stereotypes, discrimination, inadequate facilities and unequal domestic expectations may add to these pressures in some contexts. These issues should not be treated as universal experiences or as evidence of any inherent limitation among women. They are better understood as matters shaped by the interaction of organisational practices, social norms and available support.

Mental health must therefore be recognised as both a welfare concern and an institutional responsibility. Confidential counselling is valuable, but it cannot substitute for reasonable workload, adequate staffing, fair duty allocation, effective grievance mechanisms and gender-sensitive infrastructure. A police organisation that protects psychological safety and substantive equality can improve the well-being and professional participation of women personnel while strengthening public service. Further empirical research, particularly research based on the voices and experiences of women across different ranks and regions, is necessary to guide evidence-based policy.

References

Bhuvaneswari, D., & Thirumoorthi, P. (2023). Women police personnel's work-family conflict and burnout from individual's experience: The moderating effect of stressful working environment. Indian Journal of Occupational and Environmental Medicine, 27(4), 327–332. https://doi.org/10.4103/ijoem.ijoem_194_22

Ministry of Home Affairs, Government of India. (2023, February 8). Posts reserved for women candidates in police force (Rajya Sabha Unstarred Question No. 701). https://www.mha.gov.in/MHA1/Par2017/pdfs/par2023-pdfs/RS08022023/701.pdf

Pinki, Panchal, S., & Pal, S. (2020). Occupational stress and work-family conflict among police constables. International Journal of Indian Psychology, 8(4), 327–335. https://doi.org/10.25215/0804.041

Singh, S., & Kar, S. K. (2015). Sources of occupational stress in the police personnel of North India: An exploratory study. Indian Journal of Occupational and Environmental Medicine, 19(1), 56–60. https://doi.org/10.4103/0019-5278.157012

World Health Organization. (2024, September 2). Mental health at work. https://www.who.int/news-room/fact-sheets/detail/mental-health-at-work

Dr. Mithlesh

Assistant Professor, Department of Sociology

Govt PG College Sector-9, gurugram, Haryana

guddisharma89@gmail.com

50

वंदना राग के कथा साहित्य में सामाजिक स्थिति

डॉ0 भावना

सारांश :

वंदना राग वर्तमान हिंदी साहित्य की प्रसिद्ध कहानीकार एवं उपन्यासकार हैं। इनके कथा साहित्य में आधुनिकता का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। इन्होंने आमजन की समस्याओं को बड़ी ही गहराई से समझा एवं उन्हें अपने सृजन में स्थान दिया। इन्होंने अपने साहित्य में मानवता, सामाजिक न्याय, मूल्यों का विघटन, वर्तमान जीवन पर आधुनिकता का प्रभाव, नवयुवकों एवं वृद्धों का विचारात्मक मतभेद इत्यादि महत्वपूर्ण तथ्यों पर प्रकाश डाला। इनकी कहानियों में स्त्री पात्रों को काफी सशक्त दिखाया गया है। इनके अनुसार समाज की उन्नति एवं उसको आधार प्रदान करने में स्त्री की अहम भूमिका होती है।

1. मानवता व मानवीय मूल्यों का महत्व :

मानवता जीवन का मूल आधार होती है। मानवता ही मनुष्य का एकमात्र कर्म व धर्म है। ईश्वर ने सभी को एक जैसा बनाया है, लेकिन रंग–रूप, स्थान एवं खान–पान का अंतर है। आंतरिक भाव से सभी मनुष्य एक जैसे हैं। मानवता से अभिप्राय उस दृष्टिकोण से है जो मानव जीवन के अधिकार, सम्मान एवं कल्याण को महत्व देता है। कई साहित्यकारों ने मानवीय मूल्यों के महत्व को समझकर अपने साहित्य में स्थान दिया। इन प्रमुख साहित्यकारों में यशपाल, प्रेमचंद, राजेंद्र यादव, भीष्म साहनी, धर्मवीर भारती आदि प्रमुख हैं। वंदना राग ने भी मानवीय मूल्यों को अपने साहित्य में स्थान दिया। इनकी कहानी 'दो–ढाई किस्से' में किस्सागो और भास्कर दादा ने मानवीयता की मिसाल कायम की। इस कहानी में किस्सागो को जब उसके घरवाले ठुकरा देते हैं, तब उसके जीवन में भास्कर दादा आते हैं। भास्कर दादा उसकी कमजोर हालात जानते हुए सहायता करते हैं, जबकि भास्कर दादा स्वयं एक छोटी–सी चाय की दुकान चलाते हैं। कहानी में किस्सागो स्वयं बताता है। ''जहाँ मैं बैठता था, उसके ठीक सामने भास्कर दादा की टीन–टप्पर वाली दुकान थी जहाँ से चाय–नाश्ता आ जाता था। अब भास्कर दादा का क्या ताऱुफ – राजा आदमी थे। वहीं सड़क पार से मुझे देख मुस्कुराते रहते थे और मैं अकेला होने पर एक उंगली उठा देता था, जब कोई किस्सा सुनाने वाला मिल जाता तो दो उँगलियाँ। भास्कर दादा निराश नहीं किया करते थे। कहते रहते थे– ''जब धंधे में लग जाना, तो उधार चुकता कर देना।''[1] इसमें भास्कर दादा उसके मुसीबत के साथी थे। किस्सागो जब पैसे कमा कर शहर लौटता है, तो सबसे पहले भास्कर दादा का उधार चुकाने जाता है, लेकिन वहाँ उसे भास्कर दादा के गुजर जाने का पता चलता है तो वह बहुत निराश होता है।

इनकी अन्य कहानी 'तस्वीर' में भी मानवीय मूल्यों को बनाए रखने की प्रेरणा दी है। प्रस्तुत कहानी में पास्कल अपने गाँव से नौकरी की तलाश में शहर आता है, तब भी वह अपने मूल्यों को नहीं त्यागता। लेखिका स्वयं लिखती है – ''जिस कस्बे से वह आया वहाँ नैतिक शिक्षा का बहुत महत्व था और चारों ओर भाईचारा, शांति फैलाने की जिम्मेदारी हर यीशु के भक्त की अपनी जिम्मेवारी थी। वह अपने दायित्वों को बड़ी गंभीरता से लेता था और हमेशा वही करता था, जिसके प्रवचन वह अपने बड़ों से सुनता आया था।''[2]

पास्कल अपने माता–पिता एवं फादर थॉमस का आज्ञाकारी बेटा बनता है। वह हर प्राणी मात्र का सम्मान करता है। जब वह शहर आता है तो उसकी मुलाकात पप्पू नामक लड़के से होती है। पप्पू पढ़ना चाहता है, किंतु उसकी आर्थिक स्थिति कमजोर है। पास्कल उसको स्वयं पढ़ाने लग जाता है।

2. राष्ट्र प्रेम :

राष्ट्र के प्रति प्रेम करना मानव में देशभक्ति को जगाता है। देशभक्ति की भावना देश के विकास में योगदान देती है। एक देशप्रेमी अपने व्यक्तिगत सुख–सुविधाओं को पीछे रखकर देश को आगे रखता है। वंदना राग की कहानी 'शहादत और अतिक्रमण' में मुन्नी सिंह में देशप्रेम के ये भाव देखे जा सकते हैं। वह अपने पति अजय के देशप्रेम के भाव को भी प्रोत्साहित करती है। जब उसका पति अजय पोस्ट पर जाता है, तो पत्नी को कहता है, ''अब मैं दुश्मनों से कैसे लड़ूँगा जादूगरनी? हर जगह तो तेरा ही मुखड़ा दिखेगा, गोली कैसे दागूँगा मैं?''[3]

मुन्नी सिंह अपने पति की ऐसी बातें सुनकर बहुत रोती है और कहती है कि – ''क्या जी, प्रीत में ऐसा क्या जादू कि दुश्मन में भी मेरा मुखड़ा दिखेगा आपको? ये तो गद्दारी होगी देश के साथ। देश के लिए ये तो भुलाना ही होगा।''[4]

यहाँ पर लेखिका ने भारतीय स्त्री का देश के प्रति प्रेम और पति को सीख देती हुई दिखाया है। लेखिका ने एक अन्य कहानी 'और उस साल, सब हार गए' में 1942 के स्वतंत्रता आंदोलन को आधार बनाकर लिखी है। इसमें गांधी जी का हर वर्ग के लोगों ने साथ दिया है। देश सेवा के लिए बिहार के सारण जिले के चौनवा गाँव के लोग बढ़–चढ़कर भाग लेने की विनती करते हुए दिखाई देते हैं।

3. परंपराओं के प्रति श्रद्धा :

किसी भी समाज की परंपराओं के लिए वहाँ के लोगों में भारी श्रद्धा होती है। परंपराओं को सांस्कृतिक विरासत के अंदर गिना जाता है। इनको एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी तक स्थानांतरित करती रहती है। किंतु समय परिवर्तन के साथ–साथ कुछ परंपराएँ विलुप्त हो जाती हैं। वंदना राग के साहित्य में परंपरा और आधुनिकता के बीच लगातार संघर्ष देखा जा सकता है। इनकी कहानी 'दो–ढाई किस्से' में इसी प्रकार का वर्णन है। इस कहानी में नायक किस्सागो का नाम किस्से सुनाने के कारण दिया है। जब वह किस्से सुनाने विदेश जाता है तब वहाँ पर वह अपने पुराने–सफेद कुर्ते को पहनता

है। लेकिन जब स्टेज पर जाने को तैयार होता है तब निगम साहब से कहता है 'सफेद पोशाक में परफॉर्मेंस दूँ? मुझे असली लगेगा, पुराने किस्सागो जैसा।'[5]

लेखिका की एक अन्य कहानी 'क्या देखो दर्पण में' एक ऐसे परिवार को दिखाया है जो परंपराओं का निर्वहन कर रहा है। आज के युग में भी शर्मा ने लिहाज बना रखा है, तमीज नहीं बिसराई। जब हम पति–पत्नी किसी नाते रिश्तेदार के यहाँ जाने को निकल पड़ते तो लोग हमें झाँक–झाँक कर देखते। रंजीता की मम्मी बड़ा–सा घूँघट काढ़े मुझसे सौ मीटर की दूरी पर चलती थी। कोई अजनबी देखे तो कह ही न पाए हम पति–पत्नी हैं और साथ हैं। हम मानते थे ''हमारे राजस्थान के गाँव का ही चलन जहाँ से हम आए थे। घूँघट सदियों की परंपरा है।''[6] इस वक्तव्य से पता चलता है इसमें पात्र शर्मा कम पढ़ा–लिखा है और परंपराओं पर चलना अपना कर्तव्य समझता है। उसकी दुकान पर आने वाले डॉक्टर साहब उसे समझाते हैं कि अब परंपराओं का जमाना चला गया है। तुम इन परंपराओं को निभा रहे हो किंतु आजकल के नवयुवा इनको भूला चुके हैं।

4. आधुनिकता का जीवन पर प्रभाव

सांसारिक गतिविधियों पर आधुनिकता और औद्योगीकरण का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है, जिसके कारण जिंदगी में भाग–दौड़ बढ़ चुकी है। मानव के अंदर अकेलेपन की स्थिति पैदा हो गई है। वह हर जगह से कटा हुआ अनुभव करने लगा है। 'शहादत और अतिक्रमण' कहानी में वंदना राग ने इसी प्रकार की समस्या को दर्शाया है।

मुन्नी सिंह का पति सेना में है, जिस कारण उसका घर आना कम हो पाता है। मुन्नी के ससुर व सास सख्त हैं। उनके व्यवहार के कारण उसे हर समय घर में घुटकर रहना पड़ता है। अकेला महसूस करने के फलस्वरूप वह कॉलेज में दाखिला लेने की सोचती है, ताकि उसका मन भी लगा रहे और थोड़ा घर से बाहर भी जाना हो जाए। किंतु उसके सास–ससुर घर में गृहस्थी सँभालने को कहते हैं। लेखिका दर्शाती है – 'अब दादा क्या समझेगा दिक्कत उसकी? कैसे रात–बिरात कुछ न करने की चिंता से जाग जाती थी वह? कैसे माताराम रोटी रांधने के अलावा कुछ भी करने न देती थी उसे? न हँसना, न बोलना। दादा क्या समझे इन बातों को?'[7]

वंदना राग के साहित्य में पाठकों को प्रत्येक प्रकार की सामाजिक स्थिति देखने को मिलती है। जहाँ पुरानी परम्पराओं के प्रति मानव जाति का जुड़ाव बना हुआ है वहीं पर नवयुवा नवीन अवसरों पर चलने तथा नये–नये खोज में लगे रहते हैं। मानवता पर चलने को ही जीवन का आधार माना है। वंदना राग एक जागरुक लेखिका के रूप में जानी जाती है।

संदर्भ सूत्र

1. वंदना राग, खयालनामा, पृष्ठ–82
2. वंदना राग, यूटोपिया, पृष्ठ–75
3. वंदना राग, यूटोपिया, पृष्ठ–14
4. वंदना राग, यूटोपिया, पृ०–14
5. वंदना राग, खयालनामा, पृष्ठ–85
6. वही, पृ. 115
7. वंदना राग, यूटोपिया, पृ०–19

डॉ. भावना

नेट (जे.आर.एफ.)

हिंदी

Dr. Bhawana Wo Hinanshu.

H No.265, Near Shiv mandir. Rasulpur

(Rani khera) New Delhi-110081.

Ph no. 7988907920